कृषि अर्थशास्त्र
Agricultural Economics

एम.ए. अर्थशास्त्र

M.A. (Final) Economics

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

इकाई-1

अध्याय-1
कृषि अर्थशास्त्र
(Agricultural Economics)

भूमिका
(Introduction)

कृषि अर्थशास्त्र वस्तुतः सामान्य अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा है। इसके अन्तर्गत कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित विभिन्न आर्थिक समस्याओं एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। कृषि एक उत्पादक कार्य है। इसलिये कृषि अर्थशास्त्र उत्पादन की समस्याओं पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ विचार किया जाता है। कृषि व्यवसाय की विविध समस्याएँ जैसे, कृषि-उत्पादन हेतु विभिन्न साधनों की व्यवस्था, प्रति हैक्येटर उत्पत्ति में व द्धि, कृषि-भूमि पर जनसंख्या का दबाव, आर्थिक जोत, भूमि-स्वामित्व प्रणाली, कृषि उपज का विपणन, सहकारी कृषि आदि पर कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत विचार किया जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कृषि अर्थशास्त्र में न केवल कृषि सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जाता है, अपितु अर्थशास्त्र के विभिन्न महत्त्वपूर्ण नियमों जैसे, ह्रासमान प्रतिफल नियम (Law of Diminishing Returns) माँग का नियम, पूर्ति का नियम आदि की कृषि क्षेत्र में क्रियाशीलता की जाँच की जाती है।

प थक् विषय के रूप में कृषि-अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ था। आधुनिक कृषि एक व्यवसाय है। इसमें वे सभी उद्योग सम्मिलित किए जाते हैं, जो कृषि के विकास के लिए उत्पादन-साधनों को निर्मित करते हैं तथा कृषि-गत पदार्थों का परिष्करण (प्रोसेसिंग) के द्वारा रूप परिवर्तित करते हैं।

कृषि-अर्थशास्त्र की परिभाषा

कृषि-अर्थशास्त्र को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में परिभाषित किया है। प्रमुख विशेषज्ञों द्वारा दी गई कृषि-अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ निम्नांकित हैं-

1. **जौजियर** "कृषि अर्थशास्त्र कृषि-विज्ञान की शाखा है जो कृषकों के यहाँ उपलब्ध विभिन्न उत्पादन-साधनों के पारस्परिक एवं मानवगत सम्बन्धों को नियमित करने की विधि का विचार करती है, जिससे उद्यमों में अधिकतम सम द्धि प्राप्त की जा सके।"

इस परिभाषा में ग्रमीण विकास को उचित महत्त्व नहीं दिया गया है।

2. **रोस** "कृषि-अर्थशास्त्र का अध्ययन दो विस्त त द ष्टिकोणों में किया जा सकता है, प्रथम के अन्तर्गत सामान्य कृषि का अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धों का समावेश होता है जबकि द्वितीय द ष्टिकोण में एकल फार्म इकाइयों के प्रबन्ध एवं संचालन पर विचार किया जाता है।"

3. **टेलर** "कृषि-अर्थशास्त्र में फार्म के लिए भूमि, श्रम, औजारों का चयन, फसलों एवं पशु उद्यमों का चुनाव और विभिन्न उद्यमों के उचित अनुपात में संयोजन का अध्ययन किया जाता है। मुख्यतया लागत एवं प्राप्त मूल्यों के आधार पर उपर्युक्त प्रश्नों का हल खोजा जाता है।"

इस परिभाषा में कृषि कर, मुद्रा आदि का अध्ययन शामिल नहीं किया गया है।

4. **फिलिप टेलर** "कृषि-अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसमें कृषि-वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण की क्रियाओं और कृषि से सम्बन्धित संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।"

यद्यपि विभिन्न लेखकों ने कृषि-अर्थशास्त्र की भिन्न-भिन्न शब्दों में परिभाषा की है, लेकिन सभी लेखकों ने कृषि अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए निम्नलिखित पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है-

a. कृषि-अर्थशास्त्र में कृषकों की धन से सम्बन्धित सामाजिक एवं अन्य क्रियाओं के अध्ययन का समावेश होता है।

b. कृषि-अर्थशास्त्र में कृषकों का उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एवं सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी सभी क्रियाओं का अध्ययन सम्मिलित होता है।

c. कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य कृषकों को सीमित उत्पादन साधनों द्वारा अधिकतम सन्तोष की प्राप्ति कराना है।

कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति

कृषि-अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान? वास्तविक विज्ञान (Positive Science) है या आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science)? व्यावहारिक विज्ञान है या सामाजिक विज्ञान? आदि प्रश्नों का विवेचन कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति के अन्तर्गत आता है। फलतः कृषि-अर्थशास्त्र की प्रकृति में निम्न बातों की विवेचना की जाती है-

1. **कृषि-अर्थशास्त्र विज्ञान है** - विज्ञान से यहाँ तात्पर्य सुव्यवस्थित ज्ञान (Systematised body of knowledge) से है। कृषि-अर्थशास्त्र, विज्ञान की भांति ही, जांच, वर्णन एवं विवेचन करता है। कृषि-अर्थशास्त्र कला भी है। कला से तात्पर्य सुव्यवस्थित क्रिया (Systematised action) से है। सुव्यवस्थित विधि से कार्य का ज्ञान भी कृषि-अर्थशास्त्र प्रदान करता है।

2. **कृषि-अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है** - इसमें कृषि के क्षेत्र में क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त कृषि-अर्थशास्त्र विज्ञान केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही नहीं है, बल्कि यह प्राप्त

ज्ञान का अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषि में उपयेाग करने की विधि भी प्रदर्शित करता है।

3. **कृषि-अर्थशास्त्र का अध्ययन सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों ही प्रकार का है** - सैद्धान्तिक रूप में इसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन होता है एवं प्रायोगिक रूप में प्राप्त परिणामों का विभिन्न समस्याओं के अध्ययन में उपयोग किया जाता है।

4. **कृषि-अर्थशास्त्र सामाजिक अध्ययन भी है** - ऐसा इसलिए है क्योंकि इसमें मनुष्यों के व्यवहार एवं सीमित साधनों से उनके विविध उद्देश्यों की प्राप्ति का अध्ययन भी सम्मिलित होता है।

5. **कृषि-अर्थशास्त्र एक समष्टिमूलक अध्ययन है** - इसके अन्तर्गत विभिन्न जोतों के समूह का एक साथ अध्ययन किया जाता है।

अतः हम कह सकते हैं कि कृषि-अर्थशास्त्र सही रूप से एक विशिष्ट विज्ञान है।

अर्थशास्त्र की विभिन्न शाखाएँ हैं, जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर विस्त त प्रकाश डालती है। कृषि अर्थशास्त्र उनमें से एक है। यह कृषि से सम्बन्धित मुख्य आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करती है। कृषि अर्थशास्त्र में हम फार्म प्रबन्ध, उत्पादन फलन, कृषि विपणन, कृषि वित्त, कृषि कीमत आदि से सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन करते हैं।

फार्म प्रबंध में उत्पादन एवं प्रबंध से संबंधित निर्णयात्मक समस्याओं का विवेचन किया जाता है। एक निश्चित भौतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में कौन-सी फसलें उगानी चाहिए और प्रत्येक फसल के लिए कितना क्षेत्रफल निर्धारित करना चाहिए? उदाहरण के तौर पर मान लो 10 एकड़ भूमि में फसल उगाने की मेरी योजना है, तो उसमें से क्या मुझे 6 एकड़ में गेहूं, 3 एकड़ में गन्ना और एक एकड़ में चना उगाना चाहिए? या फिर अन्य फसलें इसकी अपेक्षा अधिक लाभप्रद हो सकती है? गेहूँ, गन्ना और चने की कौन-सी किस्में होनी चाहिए? किन कृषि-विधियों को मुझे अनुसरण करना चाहिए? कब और कितनी मात्रा मे उर्वरक डालना चाहिए और सिंचाई करनी चाहिए? कीमतों का ढाँचा क्या है और उनका झुकाव किस ओर है?

विभिन्न बाजारों में विभिन्न कृषि उत्पादों के विपणन से संबंधित कौन-कौन-सी भिन्न कीमतें हैं? व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के हितों की द ष्टि से बाजारों के ढाँचे में किस प्रकार सुधार किया जाता है? क्या फार्म को नकद भुगतान करके, उधार या यथोचित पट्टे पर खरीदना चाहिए? किसान को किस उद्देश्य के लिए, किन शर्तों पर और कितनी अवधि के लिए उधार लेना चाहिए? कृषि नीति कृषि अर्थशास्त्र का एक अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। ये नीतियाँ प्राप्त उद्देश्यों पर और कृषि के साधनों के उपयोग पर आधारित होती है। इस क्षेत्र में कृषि उत्पादों की कीमतों को नियंत्रित करने के प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है। जैसे क्या कपास के वायदा व्यापार (सट्टा) पर प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिए यदि ऐसा है, तो कपास और सूती कपड़ों की कीमतों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या उर्वरकों पर कर लगाना चाहिए? क्या कृषि आय पर कर होना चाहिए? ये सभी प्रश्न कृषि अर्थशास्त्र के कृषि नीति के क्षेत्र में आते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि कृषि अर्थशास्त्र में कृषि की निम्नलिखित क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

1. विभिन्न उद्यमों के समूह-फसल उत्पादन, पशुपालन, फल उत्पादन तथा विभिन्न उद्यमों में आपसी सम्बन्ध का अध्ययन जिससे उद्यमों के सही चुनाव द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।
2. उत्पादन के सीमित साधनों का विभिन्न उद्यमों में अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए अनुकूलतम उपयोग, उत्पादन साधनों का प्रतिस्थापन एवं विभिन्न साधनों का उचित मात्रा में संयोजन।
3. उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के बीच क्रय-विक्रय के लिए उचित सम्बन्ध बनाए रखना।
4. विभिन्न उत्पादनों साधनों एवं उत्पादित वस्तुओं की लागत एवं आय के सम्बन्धों पर विचार करना।

भारतीय कृषि अब व्यावसायिक रूप धारण करती जा रही है। कृषि साख, बचत, विनियोग, कृषि-विपणन, कृषि वस्तुओं के मूल्य, कृषि वस्तुओं का अंतर्देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, ग्रामीण क्षेत्र में नवीन संगठन आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय हो गए हैं, अतः कृषि अर्थशास्त्र में इन सब समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

अध्ययन की द ष्टि से कृषि अर्थशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों को निम्न विभागों में विभक्त किया जा सकता है-

1. **उत्पादन-अर्थशास्त्र** - इसमें उत्पादन के विभिन्न साधनों द्वारा अधिकतम उत्पादन मात्रा की प्राप्ति का अध्ययन किया जाता है।
2. **फार्म-प्रबन्ध** - इसके अन्तर्गत प्रत्येक कृषक की उत्पादन, संचालन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी क्रियाओं से अधिकतर लाभ की प्राप्ति के लिए अध्ययन अपेक्षित है।
3. **भूमि-अर्थशास्त्र** - भू-ध ति, भूमि सुधार एवं जोत सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।
4. **श्रम-अर्थशास्त्र** - इसमें श्रमिकों की समस्याएँ, मजदूरी, श्रमिकों में व्याप्त बेरोजगारी, श्रम-सम्बन्धी कानूनी के अध्ययन का समावेश होता है।
5. **कृषि-वित्त** - कृषकों की ऋण के स्रोत, ऋण प्रबन्ध एवं ऋण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन इसमें होता हे।
6. **कृषि-विपणन** - इसके अन्तर्गत कृषि से प्राप्त उत्पादों का विपणन, विपणन-कार्य, विपणन-संस्थाएँ एवं उत्पादक कृषकों की क्रय-विक्रय सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन सम्मिलित होता है।
7. **कृषि-संव द्धि, विकास एवं योजना** - इसके अन्तर्गत कृषि की सामान्य समस्याओं जैसे - कृषि में संव द्धि, कृषि-विकास नीति, कृषि योजनाओं आदि का समावेश होता है।

कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन की सीमाएँ

कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन की सीमाएँ निम्नलिखित हैं-

1. कृषि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कृषकों की कृषि-परक आर्थिक क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है। कृषकों की अन्य समस्याएँ, जो धन से सम्बन्धित नहीं होती हैं, इसमें सम्मिलित नहीं की जाती हैं।

2. कृषि-अर्थशास्त्र में कृषक समाज या कृषक-समूह की कृषिगत समस्याओं की ही विवेचना की जाती है। इसमें कृषकों की वैयक्तिक समस्याओं का समावेश नहीं होता है।

3. कृषि-अर्थशास्त्र का मापदण्ड मुद्रा है। क्रियाओं के करने से प्राप्त परिणामों को मुद्रा के रूप में ही प्रकट किया जाता है।

जबकि मुद्रा का मूल्य वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन के कारण बदलता रहता है। इसलिए मुद्रा को माप का उत्तम मापदण्ड नहीं कहा जा सकता।

अध्याय-2
आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका
(Role of Agriculture in Economic Development)

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका
(Role of Agriculture in Economic Development)

निम्न आय देशों में, जहाँ अधिकांश लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं, कृषि का विकास उच्च आय-स्तर प्राप्त करने तथा अधिक तेज आर्थिक संव द्धि में सहायक होता है। इन देशों के आर्थिक विकास में कृषि का विशेष महत्त्व है। कृषि जनसंख्या के लिए केवल भोजन की आपूर्ति ही नहीं करती, बल्कि उद्योगों के लिए कच्चा माल भी जुटाती है। कृषि-उत्पादिता में व द्धि के फलस्वरूप ही अधिशेषों का अन्य क्षेत्रकों में निवेश हेतु अंतरण संभव हो सकता है अर्थात् कृषि अन्य क्षेत्रों में निवेश के लिए पूँजी प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह जन-शक्ति का भी स्रोत है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि क्षेत्रक पर केवल उत्पादन में व द्धि तथा आर्थिक संव द्धि के प्रोत्साहन हेतु अन्य क्षेत्रकों के विकास का ही उत्तरदायित्व नहीं निभाती बल्कि साथ साथ यह कृषक तथा उसके परिवार के कल्याण में भी योग देती है।

कुजनेट्स (Kuznets) के अनुसार अल्पविकसित देशों में कृषि की आर्थिक विकास में भूमिका को मोटे तौर पर चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है-

1. गैर कृषि क्षेत्र के विस्तार व विकास में सहायक कृषि क्षेत्र गैर कृषि क्षेत्र का खाद्य तथा कच्चा माल उपलब्ध करता है। इसे "उत्पाद योगदान" कहा जाता है।
2. गैर कृषि क्षेत्र के बाजार के रूप में भूमिका। कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र की पूँजी व उपभोग वस्तुओं के एक बड़े माँगकर्ता का काम करता है। इसे "बाजार योगदान" कहा जाता है।
3. आर्थिक विकास की प्रक्रिया में कृषि क्षेत्र गैर कृषि क्षेत्र को पूँजी व श्रम दोनों ही उपलब्ध करवाता है। इसे "साधन योगदान" कहा जाता है।
4. विदेशी व्यापार में योगदान के माध्यम से कृषि क्षेत्र बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमाता है। इसे "विदेशी विनिमय योगदान" कहा जाता है।

कृषि क्षेत्र के आर्थिक विकास में योगदान की अब हम विस्त त चर्चा करेंगें।

1. **उत्पाद योगदान (Product Contribution)** - प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कुजनेटस ने इस तथ्य की विस्तार से विवेचना की है कि समय के साथ-साथ सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में कृषि का योगदान का घटना व गैर कृषि क्षेत्र के योगदान का बढ़ना आर्थिक

विकास का सूचक होता है। परन्तु उन्हीं के अनुसार यह भी एक सत्य है कि किसी भी देश का तीव्र उद्योगीकरण समानान्तर कृषि विकास के बिना सम्भव ही नहीं हैं।

मानव जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में कृषि द्वारा उत्पादित खाद्यान्नों तथा अन्य फसलों का विशेष स्थान है। भारत में जनसंख्या पिछले कई वर्षों से असाधारण (सारणी) के कारण समस्या का सामना करना पड़ रहा है। खाद्यान्नों की मांग केवल जनसंख्या की व द्धि पर ही नहीं, वरन् प्रति व्यक्ति आय की व द्धि पर भी निर्भर होती है, परन्तु विकास के परिणामस्वरूप बढ़ी हुई आय खाद्यान्नों तथा कपड़े की मांग को प्रभावित करती है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार यदि जनसंख्या की व द्धि की दर को 'P', प्रति व्यक्ति औसत आय में व द्धि को 'g' और कृषि उपज के लिए आय की मांग लोच (income elasticity of demand) को 'n' मान लिया जाए तो खाद्यान्नों की मांग में वार्षिक व द्धि की दर को निम्नलिखित समीकरण द्वारा जाना जा सकता है-

$$D = P + ng$$

खाद्यान्न योगदान - विकासशील देशों में जहां औद्योगीकरण के लिए पूँजी का आयात करना पड़ता है, खाद्य पदार्थ भी आयात करना एक बड़ी आर्थिक समस्या का सबब बन सकता है। क्योंकि बहुमूल्य विदेशी मुद्रा को खाद्यान्न आयातों पर खर्च करने का औद्योगीकरण पर काफी ज्यादा विपरीत प्रभाव पड़ेगा। यही खाद्य उत्पादन अगर खुद किया जाए तो इसकी अवसर लागत काफी कम होगी क्योंकि विकासशील देशों में कृषि उत्पादन श्रम प्रधान तकनीक से होता है जो यहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

जब किसी विकासशील देश में औद्योगीकरण व शहरीकरण होता है तो खाद्यान्नों की मांग काफी तेजी से बढ़ती है। इसके दो कारण होते हैं। एक तो यह कि औद्योगिक मजदूरों की वास्तविक आय कृषि मजदूरों से ज्यादा होती है तथा दूसरा यह है कि अप्लविकसित देशों में खाद्यान्नों की मांग की आय लोच काफी ज्यादा होती है। इसलिए कृषि क्षेत्र से गैर कृषि क्षेत्र की तरफ श्रमिकों का पलायन खाद्यान्न की तुलनात्मक तरीके से ज्यादा कमी पैदा कर देता है। यह खाद्यान्नों में कीमत व द्धि का कारण बनता है, जो इन अप्यविकसित देशों में सामाजिक व राजनीतिक स्थिरता का कारण बनकर आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव डालता है। बढ़ती खाद्य कीमतों के दबाव के कारण औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरी बढ़ानी पड़ती है जो निवेशक के लाभों पर विपरीत प्रभाव डालती है। घटते लाभ पुनर्निवेश में तेजी से कमी लाते हैं और इस प्रकार औद्योगिक विकास को अवरुद्ध करते हैं।

अल्पविकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय काफी कम होती है। इसलिए श्रमिक पहले से ही सस्ती प्रकार के खाद्यान्नों का उपभोग कर रहे होते हैं। इनकी कीमतों में व द्धि होने से किसी और खाद्यान्न को प्रतिस्थापन्न वस्तु के तौर पर उपभोग करना सम्भव नहीं होता। इसलिए इन खाद्यान्नों की माँग की कीमत लोच काफी कम होती है। इनकी बढ़ती कीमतें उनकी वास्तविक आय में काफी कमी ला देती हैं। इससे औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादों की मांग काफी घट जाती है जिसका औद्योगिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि कृषि विकास आर्थिक विकास के लिए काफी महत्वपूर्ण है।

खाद्य आपूर्ति व मुद्रा स्फीति - वैसे तो अल्पविकसित देशों में मंहगाई के अनेकों

कारण होते हैं, खाद्यान्नों की कमी उनमें से एक महत्वपूर्ण तत्व है। इन देशों में बढ़ी हुई आय का बड़ा हिस्सा अनाज पर खर्च दिया जाता है। अर्थात् आय व रोजगार बढ़ने पर इन देशों में अनाज की मांग तेजी से बढ़ती है। अनाज की मांग की कीमत लोच कम होने के कारण, इसकी कीमत तेजी से बढ़ती है। अनाज की बढ़ती कीमतों के दबाव में मजदूरी की दर बढ़ानी पड़ती है जो औद्योगिक वस्तुओं में लागत प्रेरित मुद्रास्फीति को जन्म देती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि बढ़ती खाद्य आपूर्ति कीमतों में कमी का एक कारण बनती है।

कच्चा माल योगदान - ज्यादातर अल्पविकसित देशों में उद्योगीकरण का शुरुआती दौर खाद्य पदार्थो पर आधारित कारखानों पर ज्यादा टिका होता है। हालाँकि इस दिशा में ज्यादा विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं फिर भी विश्व बैंक के आंकड़े, जो 17 अल्पविकसित कम आयवाले देशों से सम्बन्ध रखते हैं यह दर्शाते हैं कि 70 के दशक में इन उद्योगों का कुल औद्योगिक क्षेत्र में योगदान 94 प्रतिशत (मेडागास्कर) से 17 प्रतिशत (श्रीलंका) तक था।

कृषि व अन्य उद्योगों में उत्पादन जुड़ाव - विकासशील देशों में भी कृषि व अन्य उद्योगों में उत्पादन जुड़ाव पाया जाता है। अर्थात् जहाँ कृषि में उत्पादित वस्तुएँ दूसरे उद्योगों में कच्चे माल के तौर पर प्रयोग की जाती हैं वहीं अन्य उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग कृषि उत्पादन में किया जाता है। जैसे खाद्य, दवाई, ट्रैक्टर, मशीनें आदि चीजों का प्रयोग खेती में किया जाता है तथा अनाज, कपास, सरसों आदि का प्रयोग कृषि आधारित कारखानों में किया जाता है। कृषि का अन्य उद्योगों के साथ उत्पादन जुड़ाव यह दर्शाता है कि कृषि का विकास अन्य उद्योगों के विकास का आधार है।

2. **बाजार योगदान (Market Contribution)** - इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि उद्योगों में प्रति व्यक्ति आय कृषि से ज्यादा होती है। परन्तु अप्पविकसित देशों में कृषि क्षेत्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा होता है इसलिये जहां एक तरफ कृषि से जुड़े लोग उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं के बड़े खरीददार होते हैं वहीं गैर कृषि क्षेत्र में वस्तुएँ (खाद्य सामग्री व कच्चा माल) बेचने के कारण कुल बाजार में एक महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए यह अकल्पनीय है कि कृषि क्षेत्र का बाजार में योगदान न हो क्योंकि ऐसा सिर्फ उसी देश में हो सकता है जिसमें कृषि उत्पादन आत्म निर्वाह के लिए होता है। आज के दिन दुनिया में ऐसा कोई देश नहीं है। हाँ, हॉगकॉग तथा सिंगापुर जैसे बहुत ही छोटे देश तो जरूर हैं जिन्होंने हल्के उत्पादों में विशिष्टीकरण हासिल किया है तथा इनकी अर्थव्यवस्था में कृषि का योगदान लगभग नगण्य है।

इस आधार पर यह कहा कहा जा सकता है कि खुला व्यापार कृषि के बाजार दायरे को बढ़ाता है, इसलिए यह अर्थव्यवस्था के विकास में सहयोगी है। इसके अलावा कृषि का अन्य उत्पादन क्षेत्रों के साथ आय जुड़ाव भी है। कृषि में विकास अन्य क्षेत्रों में आय व रोजगार पैदा करता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि एक विकासशील देश में जीवन निर्वाह कृषि का दायरा घटता जाता है तथा कृषि का बाजार में हिस्सा बदला जाता है हालांकि विकास की प्रक्रिया में कुल राष्ट्रीय आय में कृषि के घटते अनुपात के कारण इसमें कमी होना भी लाजमी है।

3. **साधन योगदान** (Factor Contribution) - कृषि क्षेत्र से गैर कृषि क्षेत्र में संसाधनों का हस्तांतरण कृषि साधन योगदान कहलाता है। कृषि से हस्तांतरित होने वाले साधन श्रम व पूंजी होते हैं। इसलिए इस विषय का अध्ययन हम दो हिस्सों में करेंगे।

4. **पूंजी योगदान** (Capital Contribution) - इस विषय में विस्त त जानकारी पाने से पहले हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि कृषि से उद्योग को पूंजी का हस्तांतरण आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण क्यों है।

   i. विकासशील देशों में कृषि की अपेक्षा उद्योगों में पूँजी की जरूरत ज्यादा होती है।

   ii. विकासशील देशों में उद्योगों में पूँजी उत्पाद अनुपात कृषि से ज्यादा होता है।

   iii. विकास की प्रक्रिया के शुरुआती दिनों में कृषि क्षेत्र ही अर्थव्यवस्था का मुख्य क्षेत्र होता है। इसलिए बचत व पूंजी की पूर्ति के लिए इस पर निर्भर रहना एक मजबूरी है।

   iv. उद्योगों में पूँजी निवेश का फायदा किसानों को भी मिलता है।

   उपर्लिखित तथ्यों के आधार पर कृषि से उद्योगों को पूँजी का हस्तांतरण जरूरी है। इसके लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष तरीकों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष तरीकों में कृषि कर, सरकार को अनिवार्य पूर्ति, सरकार द्वारा खाद, बीज, आदि पर पूरा नियंत्रण करके इसे किसानों को कृषि उत्पादों के बदले में इस रूप में बेचना कि फायदा सरकार को हो। अप्रत्यक्ष तरीकों में कीमत नियंत्रण, अप्रत्यक्ष कर, विनिमय दर नियंत्रण आदि शामिल हैं। इन सबके माध्यम से व्यापार की शर्तें किसानों के विपरीत हो जाती हैं। तथा पूँजी का प्रवाह कृषि से गैर कृषि क्षेत्र की ओर हो जाता है।

   यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जापान में उन्नीसवीं सदी के आखिर व बीसवीं सदी के शुरुआत में कृषि से गैर कृषि क्षेत्र को पूँजी का हस्तांतरण काफी मात्रा में हुआ। हालांकि कुछ अर्थशास्त्रियों की राय है कि इस पूँजी का पूर्ण रूप से सही प्रयोग नहीं हो पाया। इसका एक बड़ा हिस्सा जापानी सैन्य शक्ति को विकसित करने में लगा दिया गया। रूसी क्रांति के बाद भी कृषि से गैर कृषि क्षेत्र को पूँजी का जबरन हस्तांतरण किया गया। हालांकि इसके नतीजे कृषि क्षेत्र के लिए नुकसानदायी रहे। इसी कारण चीनी क्रांति के बाद चीन ने इन तरीकों का उपयोग अपने देश में उतनी तीव्रता से नहीं किया। पूँजी हस्तांतरण से शहर और गाँव की आर्थिक खाई गहरी होती जाती है। उद्योगों को अवांछित व दीर्घकालीन संरक्षण अर्थव्यवस्था के लिए नुकसानदायी भी हो सकता है। भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश में ऐसा करने में कुछ व्यावहारिक मुश्किलें भी पेश आती हैं।

   श्रम योगदान (Factor Contribution) - विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य के नजदीक होती है जबकि उद्योगों में इनकी उत्पादकता काफी ज्यादा होती है। इसलिए कृषि से उद्योगों को श्रम का हस्तांतरण आर्थिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। परन्तु यह हस्तांतरण निम्न दो बातों पर निर्भर करता है।

   i. **ग्रामीण श्रम की गुणवत्ता का स्तर** - इसका अर्थ यह है कि क्या ये श्रमिक औद्योगिक उत्पादन करने में सक्षम हैं या नहीं। अगर नहीं तो इन्हें शिक्षित व निपुण करने की लागत क्या होगी।

ii. **गैर श्रमिक आगतों की पूर्तिः** उत्पादन की प्रक्रिया के साथ साथ उत्पादन के दूसरे साधनों की पूर्ति भी अनिवार्य है। अगर इसमें कोई रुकावट आती है तो श्रमिक की उद्योगों में खपत न हो सकेगी।

4. **विदेशी विनिमय योगदान (Foreign Enchange Contribution)** - विकासशील देशों में औद्योगिक विकास के लिए पूँजी व तकनीक का आयात जरूरी है। परन्तु इसके लिए उनके पास विदेशी विनिमय की कमी होती है। हालाँकि ये विदेशी विनिमय ऋण द्वारा भी हासिल किया जा सकता है। परन्तु विदेशी ऋण की अपनी सीमाएं हैं। भारत जैसे देश को तो तेल आयात पर भी बहुत ज्यादा खर्चा करना पड़ता है। विदेशी विनिमय प्राप्त करने में कृषि उत्पादों का निर्यात बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

हालाँकि विदेशी विनिमय हासिल करने के इस तरीके की अपनी कमियां हैं। जो कि निम्नलिखित हैंः

i. विदेशों में अनाज बेचने से देश के गैर कृषि क्षेत्र में इसकी कमी पड़ सकती है। अनाज की कमी से इसकी कीमतें बढ़ती हैं। मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए दबाव बनाते हैं। इससे उत्पादन लागत बढ़ती है। जो अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति का आधार बन जाती है।

ii. देश में अनाज की कमी विकसित राष्ट्रों के हाथों में हमारी आर्थिक नीतियों को परिवर्तित करने का हथियार थमा देती है। इसलिए कृषि उत्पादों के निर्यात से पहले देश का खाद्य मामलों में आत्मनिर्भर होना जरूरी है। कृषि उत्पादों के निर्यात में औद्योगिक उत्पादों के मुकाबले कुछ फायदे भी हैं। (क) किसी भी नये कृषि उत्पाद जैसे कॉफी, कपास आदि के उत्पादन के लिए किसी नई औद्योगिक वस्तु के उत्पादन की अपेक्षा कम पूँजी की आवश्यकता होती है।

iii. विकासशील देशों में पूँजी निर्माण जैसे सड़कें, रहने लायक घर आदि के निर्माण में श्रम प्रधान तकनीक का इस्तेमाल किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि पर आधारित श्रमिक काफी समय के लिए बेरोजगार रहते हैं। ऐसा करने से एक तरफ तो इनको काम मिलता है, दूसरी तरफ सस्ते में पूँजी निर्माण हो जाता है। जो कि देश के आर्थिक विकास में अपनी भूमिका निभाता है। चीन में इन तरीकों का बेखूबी इस्तेमाल हुआ है।

iv. अन्तराष्ट्रीय बाजार में लोचशीलता के कारण कृषि उत्पादन को आसानी से बेचा जा सकता है।

v. विकास के शुरूआती दिनों में तो विकासशील राष्ट्र अपना कृषि उत्पादन बढ़ाकर ही, इसके आयात पर खर्च होनेवाली बहुमूल्य विदेशी मुद्रा को बचाया जा सकता है।

निष्कर्ष - उपर्लिखित व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी भी देश के आर्थिक विकास में कृषि क्षेत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कृषि उत्पादन में आधिक्य (माँग से अधिक उत्पादन की पूर्ति) आर्थिक विकास का आधार है। क्योंकि-

i. इससे गैर कृषि क्षेत्र को जायज कीमतों पर खाद्य व कच्चा माल उपलब्ध हो जाता है।

ii. इससे ग्रामीण क्षेत्र की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है जो फैलते हुए औद्योगिक क्षेत्र के लिए वरदान का काम करता है।

iii. इससे गैर कृषि क्षेत्रों में पूँजी का हस्तांतरण होता है (आधारभूत संरचना जैसे सड़क, भवन-निर्माण आदि इसमें शामिल हैं।

iv. इससे देश का निर्यात बढ़ता है। यहां यह भी बताना उचित होगा कि कृषि क्षेत्र के आर्थिक क्षेत्र में योगदान के विभिन्न पहलू अलग होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

कृषि व उद्योग में परस्पर निर्भरता
(Inter dependence between Agriculture and Industry)

विकासशील देशों में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए उद्योग तथा कृषि दोनों क्षेत्रों का साथ-साथ विकास होना आवश्यक हैं। ये एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित तथा आर्थिक विकास की दो संयुक्त एवं प्रेरक शक्तियाँ हैं। कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक विकास में कृषि के योगदान को ज्यादा महत्त्व देते हैं तथा कुछ अन्य उद्योग का ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु ज्यादातर अर्थशास्त्रियों का मानना है कि कृषि तथा उद्योग दोनों का विकास साथ-साथ होना चाहिए। मतों का विस्त त विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

प्रथम मत : कृषि औद्योगिकीरण की जननी है!

इस मत के समर्थकों का कथन है कि कृषि औद्योगिकीरण का आधार तथा आर्थिक विकास की कुंजी है। यदि विकसित देशों के आर्थिक इतिहास पर द ष्टि डाली जाए तो यह ज्ञात होता है कि कृषि विकास के माध्यम से ही ये देश औद्योगिक विकास के शिखर पर पहुँचे हैं। अन्य शब्दों में, कृषि विकास से ही इन देशों के औद्योगिक विकास को बल एवं प्रोत्साहन मिला है। **डी०बी० मुर्रे** (D.B. Murray) के अनुसार, "आर्थिक इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि लगभग प्रत्येक औद्योगिक देश की प्रारम्भिक अवस्था में उद्योगों का विकास कृषकों की शक्ति पर निर्भर रहा है।"

बार एवं यामे (Bauer and Yame) के अनुसार, "वर्तमान औद्योगिक द ष्टि से विकसित कहे जाने वाले देश अतीत में मूलरूप से कृषि प्रधान देश रहे हैं। इतिहासकारों द्वारा की गई खोज से पता चलता है कि इन देशों में प्रगतिशील एवं विकासयुक्त कृषि ने विनिर्माणी उद्योगों की स्थापना एवं विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।"

श्री एच० मिन्ट (H. Myint) के मतानुसार, "विनिर्माणी उद्योगों का निरन्तर विकास, कृषि क्षेत्र के विकास के बिना अधिक समय तक सम्भव नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विकास की दर अंततः कृषि के विकास की दर पर निर्भर करती है।"

संक्षेप में, आर्थिक विकास की द ष्टि से कृषि के विकास को निम्नलिखित कारणों से महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है-

1. कृषि विकास से निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को खाद्य-सामग्री सुलभ होती है।

2. अनेक विनिर्माणी उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। सूती वस्त्र, चीनी, पटसन, चाय, कॉफी, रबड़, वनस्पति घी, तेल आदि अनेक उद्योग अपने कच्चे माल के लिए मुख्य रूप से कृषि पर ही निर्भर हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लघु लद्योगों को भी कच्चा माल कृषि से प्राप्त होता है।

3. कृषि क्षेत्र, उद्योगों को पूँजी प्रदान करने के साथ-साथ नई औद्योगिक वस्तुओं के लिए बाजार तैयार करता है।

4. कृषिगत उपज का निर्यात करके औद्योगिकीरण के लिए आवश्यक मशीनें एवं उपकरण आयात किए जा सकते हैं।

कृषि के विकास के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **कोल** एवं **हूबर** ने लिखा है "सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए कृषि का विकास पहले होना चाहिए।"

दूसरा मत : औद्योगिकीरण आर्थिक विकास की कसौटी है।

औद्योगिक विकास को आर्थिक विकास की कसौटी माननेवाले अर्थशास्त्रियों का मत है कि उद्योगों में उत्पादकता ज्यादा होती है। इसलिए प्रति व्यक्ति आय का स्तर ऊँचा होता है जो रहन-सहन के ऊँचे स्तर पर आधार बनता है। इसलिए औद्योगिक विकास की कसौटी माना जाता है। इसके अलावा उद्योगों में तकनीकी विकास ज्यादा इसके अलावा उद्योगों में तकनीकी विकास ज्यादा तेजी से सम्भव है। पैमाने के प्रतिफल भी उद्योगों से ज्यादा मिलते हैं। औद्योगिक विकास, कृषि विकास के लिए आधार तैयार करता है। आर्थिक विकास हेतु औद्योगिकीरण की आवश्यकता एवं महत्त्व को निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. अल्पविकसित देशों में कृषि एक अनिश्चित व्यवसाय होता है। इसमें क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम शीघ्र ही क्रियाशील होने लगते है।

2. औद्योगिकीरण से देश मे पूँजी निर्माण की दर को अधिक बल मिलता है। पूँजी निर्माण में व द्धि तभी सम्भव है जब देश से बचतें अधिक मात्रा में हों तथा उसे लाभप्रद उत्पादन में लगाने के लिए क्षेत्र और अवसर अधिक हों। औद्योगिकीरण से आय में व द्धि होती है। आय में व द्धि के साथ-साथ सीमान्त बचत प्रव त्ति में भी व द्धि होती है, साथ ही उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने के लिए क्षेत्र और अवसर से व द्धि होती है। इस तरह, औद्योगिकीरण पूँजी निर्माण मे सहायक है।

3. देश के आर्थिक विकास के लिए कुल राष्ट्रीय उत्पादन एवं उत्पादकता में व द्धि आवश्यक है। उद्योग-धन्धों के विकास से इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। उद्योगों में कृषि की अपेक्षा प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक होता है। अर्थात् उद्योगों में विकास की दर ऊँची होती है।

4. उत्पादन एवं तकनीकी प्रगति मुख्य रूप से औद्योगिकीरण की ही देन है।

5. प्रति व्यक्ति आय एवं जीवन-स्तर में व द्धि की सम्भावना कृषि की अपेक्षा औद्योगिकरण में अधिक होती है। ऐसा विकसित देशों के आर्थिक इतिहास से स्पष्ट होता है।

6. कृषि में उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक रासायनिक खादों, कीटनाशकों, कृषि संयन्त्रों, उपकरणों तथा बिजली आदि महत्त्वपूर्ण सुविधाएं औद्योगिक विकास से ही सुलभ हो सकेंगी।

7. कृषि से सम्बन्धित शोध एवं अनुसन्धान पूर्णरूपेण औद्योगिक विकास पर निर्भर करता है।

8. विभिन्न विनिर्माणी उद्योग कृषि उपजों को कच्चे माल के रूप मे उपयोग करते हैं इससे कृषि उपज का बाजार बढ़ता है तथा कृषि एक लाभदायक व्यवसाय के रूप में विकसित होती है।

समन्वित द ष्टिकोणः कृषि एवं उद्योग दोनों का विकास साथ-साथ हो!

ज्यादातर अर्थशास्त्रियों का मत यह है कि दोनों क्षेत्र परस्पर प्रतियोगी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। कृषि विकास औद्योगिकीरण में तथा औद्योगिकीरण कृषि विकास में पर्याप्त सहायक सिद्ध होता है। कोई भी देश कृषि अथवा उद्योग में से किसी की उपेक्षा करके विकास के उच्च शिखर पर नहीं पहुँच सकता। कृषि एवं उद्योग आर्थिक विकास की दो समानान्तर शक्तियाँ हैं जिन्हें एक ही धरातल पर बनाए रखना आवश्यक हे। **यूजीन स्टेनले** ने इन दोनों क्षेत्रों के परस्पर निर्भरता को स्पट करते हुए कहा है "कृषि उत्पादकता में सुधार कर औद्योगिक विकास को गति पद्रान की जा सकती है। जब तक कृषि का आधुनिकीकरण नहीं हो जाता तब तक अल्पविकसित देशों में, जनसंख्या के एक बड़े भाग के पास निम्न क्रय शक्ति के रूप में बाजारों का अभाव औद्योगिक विस्तार को सीमित कर देगा। इसी तरह कृषिगत विकास भी तब तक सम्भव नहीं है जब तक जनशक्ति को रोजगार दिलाने और आधुनिक कृषि के लिए आवश्यक यन्त्र तथा सेवाओं को ठोस तकनीकी आधार प्रदान करने के लिए पर्याप्त औद्योगिक विकास न हो जाए।" भारत में भी आर्थिक विकास की प्रक्रिया में कृषि एवं औद्योगिक विकास को समान महत्व प्रदान किया गया है तथा दोनों के सहअस्तित्व को स्वीकार किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) के एक प्रतिवेदन के अनुसार, "यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि विकास के क्षेत्र में उद्योगों का अत्यधिक संकेन्द्रण अल्पविकसित देशों के हित में होगा। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ऐसे देशों में औद्योगिकीरण की नितान्त उपेक्षा की जाए। इन देशों में कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाकर सन्तुलित विकास की नीति अपनाई जानी चाहिए।"

इस सम्बन्ध में **मुर्रे** (D.B. Murray) का कथन है कि "इन दोनों क्षेत्रों का विकास घनिष्ठ रूप से अन्तर्सम्बन्धित है और इनमें से प्रत्येक क्षेत्र दूसरे पर निर्भर करता है। अतः आर्थिक विकास की नीति कृषि तथा उद्योग दोनों मे उत्पादन को बढ़ाने की द ष्टि से सन्तुलित विकास पर आधारित होनी चाहिए।"

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है "आर्थिक जीवन एक व क्ष के समान है जिसकी जड़ें कृषि है, तना उद्योग है तथा व्यापार शाखाएँ एवं पत्तियां हैं।"

अध्याय-3
अल्पविकसित देशों में कृषि
(Agriculture in Less Developed Countries)

अल्पविकसित देश कृषि प्रधान होते हैं। परन्तु इन देशों में कृषि व्यवसाय की स्थिति अच्छी नहीं है। कृषि उत्पादकता का स्तर काफी नीचा है, जबकि जनसंख्या का स्तर बहुत ज्यादा। जोतों का आकार काफी छोटा है। इसलिए इन देशों में कृषि जीवन निर्वाह कृषि (Subsistance forming) मानी जाती है।

कृषि बचत कम होने के कारण कृषि में पूँजी निर्माण भी कम हो पाता है। इसलिए कृषि विकास की प्रक्रिया भी धीमी है। इस अध्याय में अल्पविकसित देशों में कृषि की समीक्षा की गई है।

कृषि क्षेत्र में विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में प्रति हेक्टेयर उत्पादन काफी कम है। FAO की एक रिपोर्ट के अनुसार 1998 में भारत में चावल की पैदावर प्रति हेक्टेयर 2,890 किग्रा० थी जबकि चावल का उत्पादन चीन में 6.060 किग्रा० प्रति हेक्टेयर, अमेरिका में 6,350 किग्रा प्रति हेक्टेयर तथा आस्ट्रेलिया में 8,545 किग्रा० प्रति हेक्टेयर है। चावल की प्रति हेक्टेयर औसत उपज सम्पूर्ण विश्व में 3,730 किग्रा० थी। इसी तरह गेहूँ की प्रति हेक्टेयर औसत उपज समूचे विश्व में 2,580 किग्रा० थी। विश्व के कुछ देशों में प्रति हेक्टेयर औसत उपज को निम्न सारणी में देखा जा सकता है-

सारणी 1: कुछ चुने हुए देशों में प्रति हेक्टेयर उत्पादन (किलोग्राम), 1998

देश	चावल	देश	गेहूं	देश	दालें
विश्व औसत	**3,730**	**विश्व औसत**	**2,450**	**विश्व औसत**	**800**
भारत	2,890	भारत	2,580	भारत	602
चीन	6,060	चीन	3,670	चीन	1,580
यू०एस०ए०	6,350	यू०के०	7,560	जापान	1,830
आस्ट्रेलिया	8,545	आस्ट्रेलिया	13,280	फ्रांस	4,770

[*Source:* F.A.O. Year Book (Production), 1998]

कृषि में निम्न उत्पादकता तथा जनाधिक्य के कारण इन देशों में प्रति व्यक्ति आय काफी कम तथा रहन-सहन का स्तर निम्न है। फिर, बचत करने की कम क्षमता कृषि में निवेश की दर को सीमित बनाए हुए है। अल्पविकसित देशों में कृषि पुराने तथा पिछड़े तरीकों द्वारा की जाती है जो निम्न-उत्पादकता तथा निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। इस तरह अल्पविकसित देशों मे निम्न कृषि उत्पादकता एक तरफ ग्रामीण जनसंख्या को निर्धन बनाती है तो दूसरी ओर आर्थिक विकास को सीमित करती है। अतः ऐसे देशों में विकास नीति का प्रमुख उद्देश्य कृषि

उत्पादकता में व द्धि करके विपणन योग्य अतिरेक को बढ़ाने का होना चाहिए। चूँकि इन देशों का प्रतिकूल सामाजिक तथा संस्थागत ढाँचा कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा है अतः इन देशों में वर्तमान ग्रामीण-ढाँचे में बदलाव लाने तथा उसे विकासोन्मुख बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

किसी देश का कृषिगत विकास उस देश के संस्थागत स्वरूप पर निर्भर करता है। कृषि के संस्थागत स्वरूप के अन्तर्गत भूमि सम्बन्धी व्यवस्था अर्थात् भू-धारण की पद्धति, भू-स्वामित्व सम्बन्धी कानून, काश्त का स्वरूप, जोतो का आकार तथा लगान सम्बन्धी नियम आदि बातें सम्मिलित रहती हैं। भू-व्यवस्था का कृषिगत विकास से घनिष्ठतम सम्बन्ध है और इसलिए इसका प्रभाव आर्थिक विकास को बढ़ाने अथवा अवरुद्ध करने का हो सकता है। दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था कार्यक्रम उत्पादकता में व द्धि तथा निवेश प्रेरणा के रूप में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रतिवेदन के अनुसार, "अल्पविकसित देशों की दोषपूर्ण काश्तकारी व्यवस्था इनके कृषिगत विकास की सबसे बड़ी बाधा है तथा भूमि-सुधार के प्रति जागरूकता व क्षमता की कमी निम्न उत्पादकता का कारण है। इसके परिणामस्वरूप पिछड़ी हुई कृषि-व्यवस्था, पिछड़े आर्थिक विकास का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।"

प्रतिवेदन के अनुसार अल्पविकसित देशों की दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था के दुष्परिणाम इस प्रकार सामने आते हैं-

1. असुरक्षित काश्त के कारण कृषकों में उत्पादकता बढ़ाने की प्रेरणा नहीं रहती।
2. उपज का एक बड़ा भाग अनुपार्जित आय के रूप में भू-स्वामी को प्रापत होता है जबकि कृषक को मात्र न्यूनतम जीवन-निर्वाह भी ही उपलब्ध हो पाता है। इसके परिणामस्वरूप एक तरफ भूमि पर निवेश की क्षमता व प्ररेणा घटती है तो दूसरी तरफ समाज में वर्ग-भेद का जन्म होता है जो सामाजिक तनाव को बढ़ाता है तथा सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

अल्पविकसित देशों की दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. **काश्त-अधिकार अथवा भू-धारण की सुरक्षा का अभाव (Lack of Security of Land Tenure)** - सामंती व औपनिवेशिक व्यवस्थाओं में कृषक भूमि के स्वामी न होकर, सिर्फ काश्तकार होते हैं। भू-स्वामी खेती पर खुद कोई कार्य नहीं करते परन्तु काश्तकारों से उपज का एक बड़ा हिस्सा ले लेते हैं। यहीं नहीं वे काश्तकार से कभी भी अपनी जमीन खाली करवा सकते हैं। इससे काश्तकार की मानसिक दशा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। उसके पास न तो कृषि विकास की क्षमता ही बच पाती तथा न ही इच्छा। उल्लेखनीय है कि अल्पविकसित देशों ने लम्बे समय तक सामंती व औपनिवेशक व्यवस्थाओं को झेला है इसलिये इन देशों में इसका कुप्रभाव पाया जाता है। **प्रो० आर्थर यंग** का यह कथन पर्याप्त उचित है "निजी स्वामित्व का जादू रेत को सोने से बदल सकता है। किसी व्यक्ति को उजाड़ भूमि का सुरक्षित स्वामित्व प्रदान कर दो, वह उसे हरे-भरे बाग में बदल देगा और उसे हरा-भरा बाग नौ साल के लिए पट्टे पर दे दो, वह उसे मरुस्थल बना देगा।" इस तरह, काश्त की असुरक्षा कृषकों को भूमि पर स्थायी सुधार लाकर कृषि उत्पादन को बढ़ाने की प्रेरणा को हतोत्साहित करती है।

2. **अनार्थिक जोतें (Uneconomic Holdings)** - तेजी से बढ़ती जनसंख्या, श्रम शक्ति को औद्योगिक क्षेत्र में हस्तांतरित न होना व दोषपूर्ण उत्तराधिकार के नियमों के कारण भारतीय कृषि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गई है। भूमि के उप-विभाजन तथा अपखण्डन से ये जोतें अनार्थिक हो गई हैं। खेतों का आकार छोटा होने के कारण जहां एक तरफ वैज्ञानिक ढंग से कृषि करना सम्भव नहीं होता वहीं दूसरी ओर समय, श्रमशक्ति तथा पूंजी का अपव्यय होता है। सिंचाई की सुविधाओं के उचित उपयोग में कठिनाई आती है, कृषकों में परस्पर संघर्ष व मुकदमेबाजी की दुष्प्रव त्ति जन्म लेती है और सब मिलाकर इसका दुष्परिणाम कृषि के पिछड़ेपन के रूप में सामने आता है। इसके अतिरिक्त खेतों का छोटा आकार प्रच्छन्न बेरोजगारी तथा अर्ध-बेरोजगारी को जन्म देता है। इसके परिणामस्वरूप इन देशों में जीवन-स्तर काफी नीचा रहता है। निम्न सारणी में विकसित एवं अल्पविकसित देशों मे जोत के औसत आकार को प्रदर्शित किया गया है -

सारणी 2: विकसित तथा अल्पविकसित देशों में जोत का औसत आकार

विकसित देश	जोत का आकार (हेक्टेयर में)	अल्पविकसित देश (हेक्टेयर में)	जोत का आकार
इंग्लैण्ड	55	भारत	1.5
अमेरिका	158	पाकिस्तान	2.6
आस्ट्रेलिया	1,993	थाईलैण्ड	3.1

भारत में की गई कृषि गणनाओं (Agricultural Censuses) के आधार पर यहां की कार्यशील जातों (Operational holdings) की स्थिति का पता चलता है। भारत में 1970-71 में कुल 7.10 करोड़ कार्यशील जोतें थीं जो बढ़कर 1980-81 में 8.94 करोड़ तथा पुनः 1991-92 में बढ़कर 10.53 करोड़ हो गईं। इस तरह 1970-71 से 1990-91 के बीच कुल जोतों की संख्या 48 प्रतिशत की व द्धि हो गई जबकि जोतों के अधीन क्षेत्रफल मात्र 1.621 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 1.656 लाख हेक्टेयर हो पाया अर्थात् क्षेत्रफल में मात्र 2 प्रतिशत की नाममात्र व द्धि हुई। इस तरह देश में उप-विभाजन एवं अपखण्डन को बढ़ावा मिला है। इसे निम्न सारणी में देखा जा सकता है-

सारणी 3: भारत में कार्यशील जोतों की संख्या, आकार, वितरण एवं क्षेत्रफल

जोतों का आकर (हेक्टेयर में)		जोतों की संख्या (लाखों में)			क्षेत्रफल (लाख हेक्टेयर)		
		1970-71	1980-81	1990-91	1970-71	1980-81	1990-91
1	सीमान्त जोतें (1 हेक्टेयर से कम)	395 (50.6)	504 (56.4)	634 (59.4)	146 (9.0)	196 (12.0)	249 (15.0)
2	लघु जोतें (1 से 2 हेक्टेयर)	136 (19.1)	162 (18.1)	201 (18.8)	193 (11.9)	230 (14.1)	289 (17.4)
3	अर्ध-मध्यम जोतें (2 से 4 हेक्टेयर)	108 (15.2)	125 (14.0)	139 (13.1)	300 (18.5)	345 (21.2)	384 (23.2)
4	मध्यम जोतें (4 से 10 हेक्टेयर)	79 (11.2)	81 (9.1)	76 (7.1)	482 (29.7)	482 (26.9)	448 (27.1)

Contd...

5	व हत् जोतें (10 हेक्टेयर से अधिक)	28 (3.9)	22 (2.4)	17 (1.6)	500 (30.9)	375 (23.0)	287 (17.3)
	कुल योग (प्रतिशत)	**(100)**	**(100)**	**(100)**	**(100)**	**(100)**	**(100)**
	कुल योग (संख्या)	**710**	**894**	**1,067**	**1,621**	**1,628**	**1,657**
	जोतों का औसत आकार (हेक्टेयर में)	–	–	–	2.30	1.84	1.55

नोट - कोष्ठक में दिए मूल्य, कुल का प्रतिशत है। (Source: Indian Agriculature in Brief, 27th Edition)

उपरोक्त आंकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 1990-91 में देश में कुल कार्यशील जोतों का आधे से अधिक भाग (59.4%) एक हेक्टेअर से कम आकार-वर्ग वाली जोतों का था तथा यह कुल कृषि क्षेत्रफल का लगभग 15 प्रतिशत लघु एवं सीमान्त कृषक हैं जिनके पास कुल कृषि क्षेत्रफल का भाग 32.4 प्रतिशत ही है जबकि देश में 1.6 प्रतिशत बड़े प्रतिशत बड़े किसान हैं जो कुल कृषि भूमि के 17.3 प्रतिशत भाग के स्वामी हैं।

इस तरह देश में कुल जोतों का 91.3 प्रतिशत भाग 4 हेक्टेयर से कम है। आर्थिक जोत (Economic holding) अथवा उन्नत कृषि के अर्थ में देश में केवल 1.6 जोतें हैं अर्थात् देश में भाग 1.6 प्रतिशत जोतें 10 हेक्टेयर से अधिक थीं जो कुल कृषि क्षेत्रफल का 17.3% भाग है। स्पष्ट है कि देश में भाग 1.6 प्रतिशत 10 हेक्टेयर से अधिक थीं जो कुल कृषि क्षेत्रफल का 17.3% भाग है। स्पष्ट है कि देश में कृषकों का एक बड़ा की संख्या भारतीय_कृषि में बढ़ती हुई कंगाली (Pauperisation) को प्रदर्शित करती है।

3. **भूमि का असमान वितरण (Unequal Distribution of Land)** - 1990-91 के आँकड़ों के अनुसार भारत में 1.6 प्रतिशत किसानों के पास 17.3 प्रतिशत काश्त पर अधिकार था। इसके विपरीत 59.4 प्रतिशत किसानों के पास मात्र 15 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि थी। ये आँकड़े कृषि में असमानता की स्पष्ट तस्वीर पेश करते हैं। यह असमानता सभी अल्पविकसित देशों की विशेषता है जो इनके आर्थिक विकास को अवरुद्ध करती है। छोटे व सीमान्त किसान अपने गुजर बसर के लिए ही संघर्ष करते रहते हैं। इनके पास बचत न के बराबर ही हो पाती है। इसलिए कृषि विकास के लिए नई तकनीकों व किस्मों का प्रयोग नहीं हो पाता तथा कृषि पिछड़ी रहती है।

4. **साख ढाँचे की अपर्याप्तता (Inadequacy of the Credit Structure)** - अल्प-विकसित देशों में कृषि साख व्यवस्था दोषपूर्ण एवं अपर्याप्त है। अधिकाँश अल्पविकसित देशों में अभी भी ग्रामीण साहूकार, महाजन, भूमिपति कृषि साख के प्रमुख स्रोत बने हुए हुए हैं। कृषि वित्त के ये गैर-संस्थागत स्रोत कड़ी शर्तों तथा ऊँची ब्याज दर पर ऋण प्रदान करते हैं तथा कृषक का हर तरह से शोषण करते हैं। संस्थागत साख के अभाव में कृषकों को पूरी तरह से इन्हीं स्थानीय स्रोतों का आधुनिकीकरण एवं यन्त्रीकरण नहीं हो पाता तथा भूमि-सुधार जैसे कार्यक्रम चलाने में कठिनाई आती है। इसका परिणाम यह होता है कि इन देशों में कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता का स्तर निम्न बना रहता है।

5. **अनुपयुक्त कीमत नीति (Inappropriate Price Policy)** - अल्पविकसित देशों में कृषि के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण उपयुक्त एवं निश्चित कृषि नीति का न होना भी है। कृषि कीमतों का निर्धारण बाजार की स्वतन्त्र शक्तियों द्वारा होता है और कृषक को इन्हीं प्रचलित बाजार कीमतों पर अपनी उपज बेचनी पड़ती है। एक उपयुक्त नीति के अभाव में किसानों को पर्याप्त आय नहीं हो पाती जिससे उत्पादन बढ़ाने के लिए निवेश की प्रेरणा कम रहती है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अल्पविकसित देशों की कृषि विकास दर में वांछित सुधार हेतु यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र में उपयुक्त संस्थागत सुधारों की प्रक्रिया में तेजी लाई जाए तथा भूमि व्यवस्था को सामाजिक ढांचे के अनुरूप वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाए। वास्तव में, इन देशों के सन्तुलित आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय सहित विकास के लिए भूमि व्यवस्था में सुधार की प्रक्रिया अर्ध-बेरोजगारी विद्यमान है, कृषि विकास की अवहेलना नहीं कर सकते। खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना तथा कुल उत्पादन एवं उत्पादकता में व द्धि करके विपणन योग्य आधिक्य का स जन करना इन देशों की आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है। जैसा कि महात्मा गांधी जी ने कहा था कि भारत की तरक्की का रास्ता गाँव से होकर गुजरता है। अगर कोई भी अल्पविकसित देश अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित अर्थव्यवस्था में रूपांतरित करना चाहता है तो उसे अपनी कृषि में आमूल-चूक परिवर्तन लाना होगा।

अध्याय-4
कृषि विकास के मॉडल
(Models of Agricultural Development)

टी० डब्ल्यू शुलटज़ का द ष्टिकोण
उच्च कीमत देनेवाले आगत का मॉडल
(High Pay Off Input Model)

यद्यपि शुलटज़ से पहले भी कृषि विकास से सम्बन्धित विभिन्न कृषि अर्थशास्त्रियों ने अपने विचार व्यक्त किए, परन्तु इनकी अप्रर्याप्त सीमाएँ तथा विचारों की सहमति के कारण 1960 के दशक में एक नई सोच (विचारधारा) को जन्म दिया। इस नई सोच (विचारधारा) का प्रतिपादन टी०आर० शुलटज़ ने अपनी किताब "Transforming Traditional Agriculture" में किया शुलटज़ के अनुसार "गरीब देशों में परम्परागत कृषि क्षेत्र को आर्थिक विकास के लिए आवश्यक उत्पादक स्त्रोत में परिवर्तन तभी सम्भव हो सकता है जब इन देशों के किसानो के पास आधुनिक तथा उच्च कीमत देने वाले आगतों में अधिक से अधिक निवेश होगा।

उनका यह द ढ़ मत था कि परम्परागत समाजों में कृषक इसीलिए गरीब रहें क्योंकि उनके पास तकनीकी तथा आर्थिक अवसर बहुत ही सीमित थे। यह नया उच्च कीमत मॉडल उनको निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान करेगा-

1. नई तकनीकी जानकारी।
2. नए तकनीकी आगत।
3. नए आगतों को कुशलतापूर्वक प्रयोग करने की तकनीकियाँ।

मुख्यतः कृषि योग मे परिवर्तन इस तथ्य पर निर्भर करता है कि क्षेत्र में निवेश कितना है? उदाहरण (यह निवेश की समस्या है) परन्तु यह मुख्यतः पूँजी की पूर्ति की समस्या ही नहीं है।

मुख्य समस्या यह है कि यह निवेश इस प्रकार की होनी चाहिए ताकि इसके फलस्वरूप कृषि में निवेश करना लाभदायक हो सके। यह द ष्टिकोण कृषि को आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत मानता है। यद्यपि परम्परागत कृषि, आर्थिक विकास में बहुत अधिक योगदान नहीं दे सकी, परन्तु आधुनिक कृषि, आर्थिक विकास में अधिक तथा महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

शुलटज़ के अनुसार परम्परागत कृषि में खेतीहर यद्यपि विचारवान, कार्यकुशल तथा साधनों का उचित बँटवारा करते हैं, परन्तु फिर भी वे अधिकाँश गरीब देशों में गरीबी में ही रहते हैं, क्योंकि वे केवल सीमित तकनीकी तथा आर्थिक अवसरों से ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। शुलटज़ के द ष्टिकोण से, परम्परागत कृषि को आर्थिक विकास के उत्पादन स्त्रोत में परिवर्तन करने के लिए **आधुनिक उच्च-कीमत** आगतों को कृषकों को उपलब्ध करवाना होगा।

किसी भी गरीब देश के कृषि क्षेत्र से आर्थिक विकास मुख्यतः आधुनिक (अपरम्परागत) कृषि तत्त्वों की उपलब्धता तथा इनकी कीमत पर निर्भर करता है। आधुनिक कृषि में ऊंची उत्पादकता का मुख्य स्रोत पुनउत्पादति स्रोत होते हैं।

स्रोतों मे विशिष्ट भौतिक आगत तथा इन आगतों को सफलतापूर्वक प्रयोग करने की उच्च कला तथा अन्य क्षमताएं शामिल होती है। परन्तु ये आधुनिक भौतिक आगत यदा-कदा ही उपलब्ध होते हैं। गरीब समाजों की खेती में, इन आधुनिक आगतों को अपनी वर्तमान स्थिति में प्रयोग करना बहुत ही असामान्य घटना के बराबर होती है। तकनीकी रूप से विकसित देशों में बहुत ही कम पुनरुत्पादित कृषि साधन उपलब्ध होते हैं जिनका प्रयोग गरीब देशों में किया जा सके।

इस स्थिति के फलस्वरूप, कृषि विकास के लिए तीन प्रकार की सापेक्षिक उच्च उत्पादक निवेश की आवश्यकता होती है-

1. नई तकनीकी जानकारी को उत्पादन करनेवाले कृषि अनुसंधान/प्रयोगशाला की हैसियत से।
2. नई तकनीकी आगतों की बिक्री, विकास तथा उत्पादन करनेवाले औद्योगिक योग की हैसियत से।
3. कृषकों की आधुनिक कृषि साधनों के प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करने की हैसियत से।

अगर कृषि उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में व द्धि होगी तथा इन साधनों में अतिरिक्त निवेश सम्भव होगा, एक नई यातायात सुविधा के कारण कृषि उत्पादों की यातायात लागत अन्तिम उपभोक्ताओं तक कम होती चली जाएगी। इसी तरह सिंचाई सुविधाओं या किसी साधन की लागत में कमी के कारण ऐसे और भी परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं। परन्तु इसके साथ-साथ कृषि क्षेत्र में कोई परिवर्तन नहीं आया परम्परागत कृषि क्षेत्र में फिर से पुरानी प्रव तियाँ काम करने लगेंगी। यद्यपि कृषि क्षेत्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य (बहुत कम) भी होती है। परन्तु फिर भी श्रमिक की गतिशीलता बहुत कम। या नहीं बराबर होती है। परम्परागत कृषि समाज में दो मुख्य समस्याएँ पाई जाती हैं। एक, उत्पादन के तौर-तरीके स्थिर रहते हैं। दो, आय के स्रोत में व द्धि न करने की प्राथमिकता तथा उद्देश्य भी स्थिर रहते हैं।

इस मॉडल को बहुत ही हर्ष के साथ स्वीकृत किया गया। नई उच्च उत्पादकता वाली फसलों की विभिन्न किस्मों का मेक्सिकों तथा फिल्लीपाईन में विकास किया गया। इन नई किस्मों के ऊपर औद्योगिक आगतों पर उदाहरण के लिए अच्छे खाद/उर्वरक, रसायन तथा सिंचाई की सुविधाओं के फलस्वरूप सकारात्मक प्रभाव पड़े। परिणामस्वरूप एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका महाद्वीपों के कई देशों में फसलों की नई किस्में विकसित करके सफलतापूर्वक लागू की गई। भारत में इन प्रयासों को "हरित-क्रान्ति" के नाम से पुकारा जाता है।

चित्र द्वारा शुलटज़ मॉडल का प्रस्तुतीकरण
(Diagrammatic Presentation of Shaltz Modal)

परम्परावादी कृषि के रूपान्तरण को शुलटज़ के विश्लेषण का चित्र 1 द्वारा किया गया है।

चित्र 1 के ऊपरी भाग में क्षेतिज अक्ष पर आगतों की माँग एवं पूर्ति को तथा अनुलम्ब अक्ष पर साधन की आगतों की कीमत को प्रदर्शित किया गया है। चित्र में 1m परम्परावादी कृषि

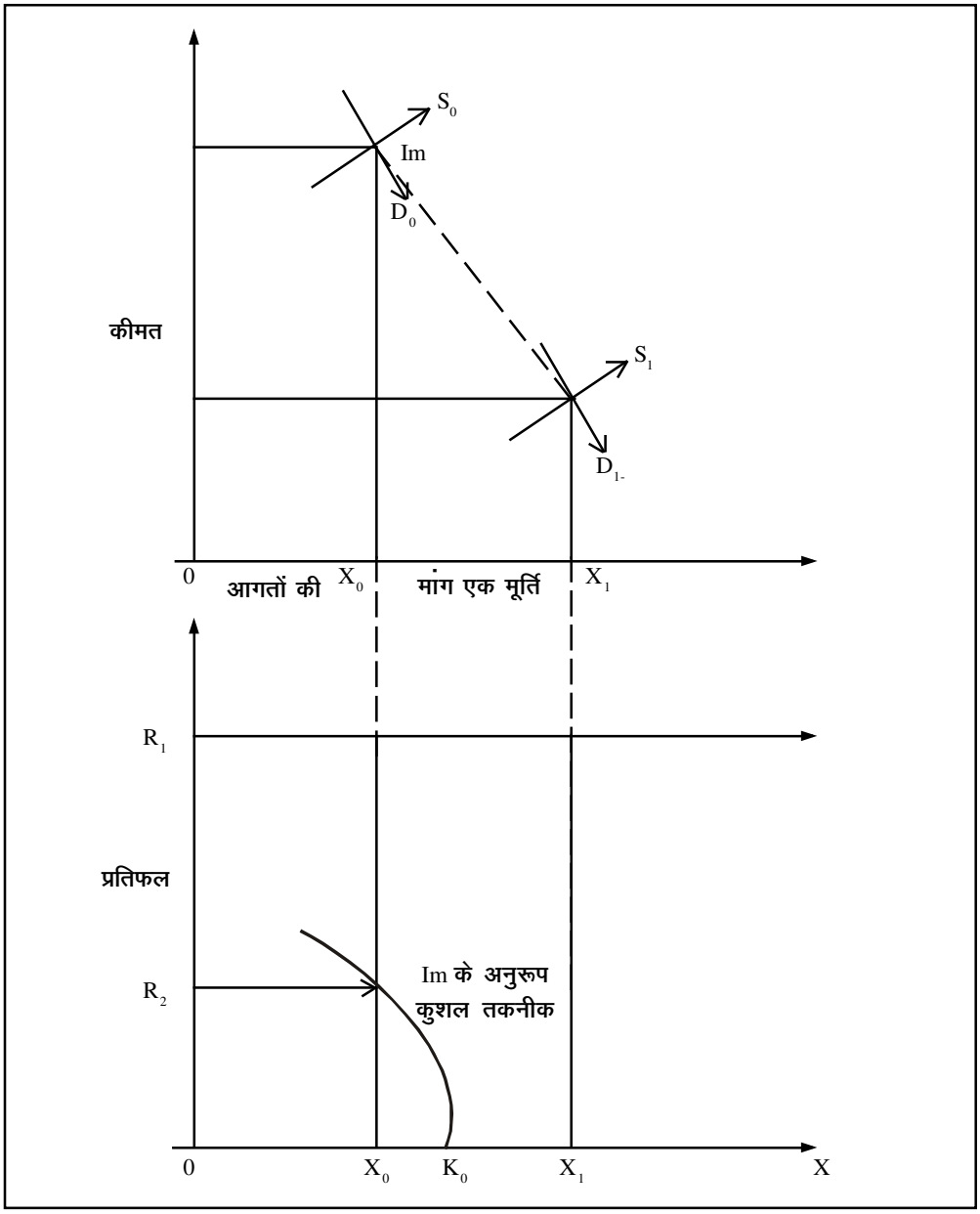

चित्र 1

में सन्तुलन का स्तर है जो यह दर्शाता है कि साधनों आगतों की कीमतें बहुत ऊँची है। इसके फलस्वरूप साधन आगतों की माँग तथा पूर्ति का स्तर निम्न है। जब कृषि क्षेत्र में आयधारा के व द्धि करनेवाली नवीन एवं सस्ती तकनीकी का विकास होता है तब इसके परिणामस्वरूप साधन आगतों की आय एवं पूर्ति के बढ़ोत्तरी हो जाती है, साथ ही प्रतिफल में भी व द्धि हो जाती है।

मान लीजिए नवीन तकनीकी के विकास से साधन आगत की कीमत घटकर Hm सन्तुलन बिन्दु के अनुरूप OP, हो जाती है तब साधन आगत की कुल मांग एवं पूर्ति तब साधन आगत की कुल मांग एवं पूर्ति बढ़कर OX_1 हो जाती है। तद्नुरूप प्रतिफल भी OR_0 से बढ़कर OR_1 हो जाता है। इस तरह Im तथा Hm के बीच था बड़ी संख्या में सन्तुलनकारी बिन्दु सम्भव हो

सकते हैं। Im तथा 4m को निलाने वाली रेखा को सौदा-सम्पादन अथवा लेन-देन की रेखा के कम में जाना जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि परम्परावादी कृषि की अवस्था में माँग एवं पूर्ति वक्र कम लोचदार होते हैं, जबकि आधुनिक व द्धि की अवस्था में ये वक्र अधिक लोचदार होते है। इसका तात्पर्य यह कि परम्परागत_कृषि में साधनों की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन लाने के लिए कीमतों में बहुत अधिक परिवर्तन की आवश्यकता होगी, जबकि आधुनिक कृषि में साधन आगत कीमतों में मामूली व द्धि भी उनकी मांग एवं पूर्ति में अत्यधिक परिवर्तन ला देगी।

परन्तु इस मॉडल में कमियाँ भी हैं तथा कई द ष्टिकोणों से यह एक अधूरा सिद्धान्त भी है।

एक तो यह मॉडल, इस प्रक्रिया की व्याख्या करने में असमर्थ रहा कि किस तरह से साधनों को शिक्षा, अनुसंधान तथा अन्य सार्वजनिक। निजी क्षेत्र की आर्थिक क्रियाओं में बांटा जाए?

दूसरा, यह मॉडल इस तथ्य को स्पष्ट नहीं कर पाया कि किस तरह से आर्थिक परिस्थितियाँ विकास को प्रेरित करेगी तथा कार्यकुशल तकनीकी का किसी विशिष्ट समाज में लागू कैसे कर पाएगी?

तीसरा, इस मॉडल ने इस प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास ही नहीं किया कि किस तरह से किसी राष्ट्र के सीमित साधनों को ध्यान में रखकर, आगत तथा उत्पाद कीमत के सम्बन्ध, अनुसन्धान में निवेश को किस तरह प्रेरित तथा प्रोत्साहित करेंगे?

कृषि विकास का मोलर मॉडल
(Mollor's Model of Agricultural Development)

भूमिका

अल्पविकसित एवं आर्थिक द ष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या तथा कृषि उत्पादों की मांग की उच्च आय लोच के फलस्वरूप कृषि उत्पादों की आपूर्ति में पर्याप्त व द्धि करना आवश्यक होता है। इन देशों में कृषि पदार्थों के आयात हेतु वांछित विदेशी विनियम की कमी होती है तथा जितनी भी सीमित विदेशी मुद्रा होती है उसको वे औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत वस्तुओं के आयात पर खर्च कर देते हैं। अतः ऐसे गरीब देशों के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि वे अपने कृषिगत उत्पादों की उत्पादकता में पयाप्त व द्धि का प्रयास करें। इस तथ्य को द ष्टिगत रखते हुए प्रो० जे० डब्ल्यू० मोलर (Prof. J.W. Mollor) ने सन् 1966 में प्रकाशित अपने निबन्ध "The Economics of Agricultural" में कृषि विकास का एक व्यावहारिक मॉडल प्रस्तुत किया। अपने कृषि को आध ुनिक कृषि में परिवर्तन करने हेतु अपेक्षाकृत द ष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

कृषि विकास की अवस्थाएँ
(Phase and Agricultural Development)

प्रो० मोलर की अवधारणा है कि किसी भी अर्थव्यवस्था में कृषि विकास की निम्न तीन अवस्थाओं में से कोई-न-कोई अवस्था विद्यमान रहती है-

1. परम्परावादी कृषि अथवा कृषि विकास से पूर्व की दशा।
2. बढ़ता कृषि उत्पादन - निम्न पूँजी, श्रम गहन तकनीक।

3. बढ़ता कृषि उत्पादन - उच्च पूँजी श्रम बचत तकनीक।

कृषि विकास की इन अवस्थाओं की विस्त त व्याख्या की जा सकती है-

1. **परम्परावादी कृषि अथवा कृषि विकास से पूर्व की दशा (Traditional Agri or Pre-conditions of Agricultural Development)** - प्रो० मोलर के अनुसार परम्परावादी कृषि ही पिछड़ी दशा में होती है तथा इसमें उत्पादन की पुरानी तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। देश की अधिकांश कार्यशील जनसंख्या कृषि में लगी होती है अर्थात् कृषि में श्रम गहनता की स्थिति विद्यमान रहती है। इस दशा में परम्परागत कृषि आगतों में व द्धि करके ही कृषि उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि इस अवस्था में अल्पविकसित देशों के बीच आर्थिक, सामाजिक एवं भौतिक कारणों से फार्म प्रबन्ध में कुछ भिन्नता पाई जाती है। फिर भी वही स्थितियां सभी जगह विद्यमान रहती हैं।

   इन देशों में अधिकांश फार्म, होते हैं जिन पर प्रयोग होनेवाली श्रम शक्ति, प्रबन्ध तक पूँजी की आपूर्ति कृषक एवं उसके छोटे परिवार द्वारा ही की जाती है। सामान्यतः खेतों का आकार छोटा होता है तथा उस पर कार्य करनेवाले श्रमिकों की संख्या विकसित देशों की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है कृषक अपने व्यक्तिगत लाभ को द ष्टि में रखते हुए कृषि उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करते है। फलस्वरूप कुल उत्पादन तथा प्रति श्रमिक आय में व द्धि दिखाई नहीं देती।

   इस प्रथम अवस्था में कुछ सीमा तक गैर-परम्परागत आगतों-उर्वरकों का प्रयोग होने लगता है। परन्तु उन्नतशील बीजों जैसे पूरक परम्परागत् आगतों का प्रयोग नहीं होता। ऐसी दशा में कृषि उत्पादन पर गैर-परम्परागत आगतों का प्रभाव नगणय ही रहता है। परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में संस्थागत परिवर्तन तब तक प्रभावी नहीं होते जब तक उसके साथ तकनीकी परिवर्तन भी न लाया जाए।

   मोलर के अनुसार परम्परागत् कृषि में अल्प रोजगार भी स्थिति पाई जाती है। जिसका मुख्य कारण - कृषकों के बीच भूमि का असमान बँटवारा होना है। इसके साथ ही कृषक जीवन-निर्वाह क्षेत्र पर समस्त पारिवारिक श्रम को तब तक लगाया जाता है जब तक कि उसकी सीमान्त उत्पादकता घटकर शून्य नहीं हो जाती। जहां कृषक बड़े कृषि-क्षेत्रों पर काम करते हैं वहाँ उन्हें श्रम तथा आराम के बीच चुनाव करने का विकल्प मौजूद रहता है। वास्तव में, आय बढ़ जाने पर वे श्रम का कम प्रयोग करना पसन्द करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कृषक अपने खेतों के आकार को बढ़ाने का प्रयास करते है।

   यद्यपि प्रथम अवस्था में कृषि क्षेत्र में पिछड़ी तकनीकी का प्रयोग किया जाता है फिर भी कुल कृषि उत्पादन में कुछ सीमित व द्धि, मांग में व द्धि के अनुरूप नहीं हो पाती। अर्थव्यवस्था में अन्य क्षेत्रों के विकास से लोगों की आय बढ़ती है, साथ ही जनसंख्या में भी व द्धि हो जाती हे। इसके परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्नों की मांग बढ़ जाती है। अतः इस बात पर ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है कि कृषि उत्पादों की इस बढ़ी हुई मांग को प्रथम अवस्था में किस सीमा तक पूरा किया जा रहा है और इसी के अनुरूप कृषि उत्पादन में व द्धि के लिए किस तरह की नीति के निर्माण की आवश्यकता है।

2. **बढ़ता कृषि उत्पादन - निम्न पूँजी, श्रम गहन तकनीक (Rapid Agricultural Production – Low Capital, Labour Intensive Technology)** - कृषि विकास की इस दूसरी अवस्था में, कृषि देश के सम्पूर्ण आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगती है। इस अवस्था में कृषि की सीमान्त उत्पादकता में व द्धि करनेवाले अपेक्षाकृत उन्नत किस्म में कृषि आगतों का प्रयोग होने लगता है। उत्पादन के आधुनिक आगतों का प्रयोग, परम्परावादी उत्पादन फलन को ऊपर की ओर उठा देता है। यदि उत्पादन आगतों के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है परन्तु उन पर बहुत अधिक पूँजी नहीं लगाई जाती है। इन आगतों का प्रयोग करने का मुख्य उद्देश्य पूर्ति हैक्टेअर उत्पादकता में व द्धि करना होता है। इस अवस्था में कृषि उत्पादों की माँग तेजी से बढ़ती है कृषि क्षेत्र का आकार स्थिर रहता है।

सस्ते श्रम की उपलब्धता के फलस्वरूप कृषि में आधुनिक यन्त्रों एवं उपकरणों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त, इस अवस्था में देश में औद्योगिक विकास हेतु पूँजी की कमी रहती है, जबकि इस क्षेत्र में बढ़ते प्रतिफल की सम्भावना बनी रहती है।

कृषि उत्पादन में व द्धि की शर्तें (Conditions for the Progress of Agricultural Production) - मोलर के अनुसार इस द्वितीय अवस्था में कृषि उत्पादन में व द्धि हेतु निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए संस्थाओं के माध्यम से प्रेरित किया जाना चाहिए क्योंकि अल्पविकसित देशों में लघु एवं सीमान्त किसान उत्पादन में व द्धि हेतु बहुत कम प्रेरित होने है अतः इन परिस्थितियों ने उन्हें प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम एवं संस्थागत सुधार भी कृषि उत्पादन में व द्धि हेतु प्रेरणा करने में सकारात्मक भूमि निभा सकते हैं।

विभिन्न संस्थाओं की स्थापना - कृषि उत्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली संस्थाएं, कृषि उपकरणों की मरम्मत, स्थानीय सिंचाई की सुविधाएँ, सड़कें, स्कूल तथा अन्य सेवाएं आदि का विकास करके कृषि उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

संचार तन्त्र का विकास - कृषि पद्धति गतिशील होती है इसीलिए उसमें समय-समय पर सुधार एवं परिवर्तन होते रहते है। वैकल्पिक सुधारों एवं नई पद्धतियों का समय-समय पर कृषकों को अवगत करने के लिए संचार तन्त्र का समुचित विकास किया जाना चाहिए। विकास की एक अवस्था में कुछ भौगालिक क्षेत्रों के लिए जो तकनीक उन्नत एवं आधुनिक समझी जाती हैं, यह आवश्यक नहीं है कि विकास की अगली अवस्था में भी वह तकनीक उपयुक्त एवं प्रभावी समझी जाएगी।

मोलर की धारणा है कि इस तरह के परिवर्तन कृषि आगतों की दुर्लभता को प्रदर्शित करते हैं। कृषि की उन्नत तकनीकी एवं पुरानी तकनीकी एक दूसरे के पूरक की तरह प्रचलन में रहती है अतः आवश्यकता इस बात की होती है कि उनके बीच समुचित समन्वय बनाए रखा जाए।

शोध कार्यों को प्रोत्साहित करना - कृषि उत्पादकता में सुधार हेतु कृषि आगतों की किस्म में सुधार होना आवश्यक होता है। इन आगतों की किस्म में सुधार हेतु समय-समय पर शोध कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। मेकर के अनुसार शोध कार्यों को फार्म की दशाओं एवं सामाजिक स्वीकार्यता के अनुरूप सम्पादित किया जाना चाहिए शोध में व्यावहारिक का गुण होना चाहिए।

नवीन एवं उन्नत भौतिक आगतों की आपूर्ति - उत्पादन के बढ़ाने के लिए नवीन पद्धतियों एवं पदार्थों की आवश्यकता होती है तथा फसलों की विविधता, पशुओं की उन्नत नस्लें तथा उर्वरक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दुर्लभता की दशा में इन आगतों को विदेशों से आयात किया जाना चाहिए क्योंकि इनके उत्पादन हेतु कारखानों को स्थापित करने के लिए भारी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जो अल्प विकसित देशों में उपलब्ध नहीं होती।

शिक्षा का प्रसार - कार्यक्रम की सफलता कृषकों के प्रशिक्षण पर निर्भर करती है। कुशल एवं प्रशिक्षित कृषक उपलब्ध संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग तक चुनाव कर सकते हैं तथा समयानुकूल उपयुक्त निर्णय ले सकते हैं।

मोलर का कथन है कि व्यवहार में जिस दर से प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा विकासोन्मुख संस्थाओं का संचालन किया जाता है, उसी दर से कृषि उत्पादन में व द्धि सम्भव हो पाती है, अन्य शब्दों में, कृषि की नवीनतम तकनीकों, उपकरणों तथा उन्नतशील कृषि आगतों की जानकारी कृषकों को दी जानी चाहिए तथा इन आगतों के उपयोग के सन्दर्भ में उन्हें प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। उन्हें इस तथ्य से अवगत करवाना चाहिए कि किस तरह के आगतों का विवेकपूर्ण उपयोग कर कृषि उत्पादन को अधिकतम किया जा सकता है।

संक्षेप में, द्वितीय अवस्था में कृषि का विकास एक सतत् प्रक्रिया हैं। इस अवस्था में उत्पादन में इसलिए नहीं व द्धि होगी कि नवीन नवपर्वतनों को अपनाया गया है कि बल्कि इसलिए होती है कि नवपर्वतनों से उत्पादन के जिन साधनों की बचत होती है उन्हे पुनः कृषि योग में पुनर्नियोजित कर लिया जाता है। नवीनतम तकनीकों का अधिक प्रयोग नहीं किया जाता। तकनीकियाँ अधिक पूँजी उन्मुख नहीं होती। नए आगत श्रम के पूरक के रूप में कार्य करते हैं। तथा श्रम को कभी-कभी ही पूँजी से प्रतिस्थापित किया जाता है। यदि किन्हीं परिस्थितियों में विस्थापित किया जाता है तो उसे पुनः उत्पादन प्रक्रिया में वापस ले लिया जाता है।

3. **बढ़ता कृषि उत्पादन - उच्च पूँजी श्रम बचत तकनीक (Rising Production High Capital, Labour Saving Technology)** - मोलर का कथन है कि जब कृषि विकास की द्वितीय अवस्था पर्याप्त गति पकड़ लेती है तब वह त तीय अवस्था की ओर अग्रसर हो जाती है। इस अवस्था में अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्र का विकास बहुत हद तक हो चुका होता है। यह उल्लेखनीय है कि इस अवस्था में कृषि क्षेत्र में उत्पादन में व द्धि हेतु पूँजी के उपयोग तथा श्रम बचत तकनीकी का महत्त्व बढ़ने लगता है। कृषि सम्बन्धित शोध के कारण भी श्रम की उत्पादकता में व द्धि होने लगती है।

कृषि क्षेत्र में पर्याप्त पूँजी-निर्माण होने लगता है जिसके फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में निवेश हेतु आवश्यक पूँजी उपलब्ध रहती है। कृषि क्षेत्र में गैर-कृषि क्षेत्र की ओर पलायन से फार्म का आकार कुछ हद तक बड़ा हो जाता है। फार्म का आकार कुछ हद तक बड़ा हो जाता हैं। ऐसी दशा में, मशीनरी आदि के लिए कृषि क्षेत्र में निवेश स्वाभाविक रूप से होने लगता हैं।

मोलर का कथन है कि जब ऊपर वर्णित क्रम का विकास होता है तब वह सहज तथा कम कष्टकारक होता है। परन्तु मोलर की धारणा है कि कभी-कभी कुछ ऐसी स्थिति भी देखने में आती है जब कृषि विकास प्रथम अवस्था से सीधे तीसरी अवस्था

में उछलकर पहुँच जाता है, जैसा कि अमेरिका में हुआ है। ऐसा होने का कारण यह रहा कि कृषि विकास की द्वितीय अवस्था में उर्वरकों आदि के प्रयोग से कृषि उत्पादन को बढ़ाया जाता है जबकि अमेरिका में कृषि मशीनरी के विकास के उपरान्त ही उर्वरकों एवं अन्य जैव-रसायनों आदि आगतों का विकास हुआ था परिणामस्वरूप अमेरिका ने कृषि विकास की त तीय अवस्था में सीधे ही प्रवेश कर लिया।

प्रमुख आलोचनाएँ

1. **व्यावहारिक परिभाषा (Pragmatic Definition)** - मोलर की अनुसार परम्परावादी कृषि से तात्पर्य पिछड़ी कृषि से है जिसमें श्रम के प्रमुख साधन के रूप में किया जाता है।

2. **संस्थागत परिवर्तनों पर जोर (Emphasis on Institutional Changes)** - मोलर का सुझाव है कि कृषि क्षेत्र के रूपान्तरण हेतु भूमि सुधार साख सुविधाओं, विस्तार सेवाओं तथा विपणन सुविधाओं में सुधार किया जाना अपेक्षित है। फिर भी उन्होंने इस क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप की उपेक्षा की है जबकि आधुनिक विकास की प्रक्रिया में सरकार की सकारात्मक भूमिका का होना आवश्यक समझा जाता है।

3. **श्रम की भूमिका (Role of Labour)** - विकास की प्रक्रिया के श्रम एवं अन्य आगतों की भूमिका के सन्दर्भ में मेकर स्पष्ट रूप से विश्लेषणात्मक है। उदाहरण के तौर पर, परम्परागत कृषि में भूमि पर अतिरिक्त श्रम की मात्रा को बढ़ाकर ही उत्पादन को बनया जा सकता है, जहाँ उसकी सीमात्मक उत्पादकता धनात्मक होती है। परन्तु इसके विकास गतिशील कृषि में (कम पूँजी वाली तकनीकी में) वर्तमान श्रम की उत्पादकता में व द्धि के लिए अन्य आगत श्रम के पूरक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसके तरह ये आगत अधिक श्रम के उपयोग को प्रोत्सहित करते हैं। इसे अतिरिक्त, पूँजी प्रधान तकनीकी वाली गतिशील कृषि में पूँजी गहन आगतों द्वारा श्रम को जो प्रतिस्थापित करके श्रम की उत्पादकता को बढ़ाया जाता है।

4. **संसाधनों का इष्टतम बंटवारा (Optimum Allocation of Resources)** - मोलर मानकर चलते हैं कि कृषि क्षेत्र में साधनों का इष्टतम बंटवारा होता है। वह यह भी स्वीकार करते हैं कि कृषि क्षेत्र से श्रम को हटा लिए जाने पर इस क्षेत्र में उत्पादन कर जाएगा। परन्तु इसके साथ वह यह भी स्वीकार करते हैं कि कृषि क्षेत्र में अद श्य बेरोजगारी की स्थिति पाई जाती है। वास्तविकता यह है कि जनाधिक्य वाले अल्पविकसित देशों में अद श्य बेरोजगारी की उपस्थिति एक सामान्य दशा है।

कृषि विकास का बोसरप मॉडल
(Boserup's Model of Agricultural Development)

भूमिका
(Introduction)

श्रीमती ई० बोसरप (E. Boserup), कृषि विकास की प्रक्रियाओं तक समस्याओं की विवेचना करनेवाले अर्थशास्त्रियो में अग्रणी हैं। उन्होंने कृषि विकास में अब तक असंगत बने रहनेवाले साधनों को महत्त्व प्रदान कर दिया है तथा परम्परावादी अर्थशास्त्री मालथस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का भी खण्डन किया है।

श्रीमती बोसरप ने अपने मॉडल में कृषि विकास के कारणों की जाँच करने का प्रयास किया है। उन्होंने इस धारणा का प्रतिपादन किया है कि कृषि अनिवार्यताओं का प्रतिफल होता है। कृषि का विकास करना इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि जनसंख्या में तेजी से व द्धि होने की प्रव त्ति मौजूद होती है। कृषि कार्य की तकनीकी तथा विकास का प्रतिमान, आदर्श जनसंख्या व द्धि द्वारा निर्धारित किया जाता है। अन्य शब्दों में बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि का विकास करना अति आवश्यक हो जाता है। इस कथन की पुष्टि करने के लिए कुछ अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिका देशों में हुए कृषि विकास का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

मालथस के जनंसख्या सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी समय खाद्यान्नों की आपूर्ति बढ़ जाती है तो जनसंख्या से भी व द्धि होगी परिणामस्वरूप खाद्यान्न आपूर्ति और जनसंख्या के बीच नया सन्तुलन स्थापित होगा। किसी समय यदि जनसंख्या खाद्यान्न की आपूर्ति की तुलना में कम रहती है तब जनसंख्या में व द्धि होगी, जो अतिरिक्त खाद्यान्न की आपूर्ति को खत्म कर देगी। इसके विपरीत, यदि जनसंख्या पहले से ही जीवन निर्वाह स्तर से अधिक रहती है तब धनात्मक नियन्त्रण (Positive Chceks) क्रियाशील हो जाते हैं जो जनसंख्या का घटाकर खाद्यान्न आपूर्ति के बराबर कर देते हैं।

प्रो० बोसरप ने मालथस के सिद्धान्त के उपरोक्त दोनों पहलुओं का खण्डन करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार विश्व युद्धों के बाद लगभग सभी अल्पविकसित देशों की जनसंख्या में अभुतपूर्व व द्धि हो गई है तथा इन देशों में जनसंख्या की व द्धि दर में हुई व द्धि के फलस्वरूप जो जनाधिक्य की स्थिति उत्पन्न हुई है वह खाद्यान्नों के उत्पादन में व द्धि का परिणाम नहीं है। इस व द्धि का मुख्य खण्ड अद्भुत औषधियों के अविष्कार तथा अनुसंधान के कारण म त्यु दर में होनेवाली कमी तथा अन्य कारण हैं न कि खाद्यान्नों के उत्पादन में होनेवाली व द्धि है। इसी तरह उन्होंने मालथस के सिद्धान्त के दूसरे भाग का भी प्रत्यक्ष एवं जोरदार खण्डन किया तथा स्पष्ट किया कि खाद्यान्नों की आपूर्ति के कम होने पर धनात्मक नियन्त्रण (Positive Chceks) स्वतः लागू नहीं होते। आज बहुत से अल्पविकसित देशों में खाद्यान्न आपूर्ति की अपेक्षा जनसंख्या अधिक है परन्तु वहाँ मालथस द्वारा बताया गया प्रतिबन्ध लागू नहीं है।

बोसरप के अनुसार - "जब कभी जनसंख्या का दबाव बढ़ता है, तक उसमें कमी स्पष्ट दिखाई नहीं देती तब विभिन्न तकनीकी एवं अन्य परिवर्तनों के मध्यम से कृषि क्षेत्र का विकास होता है जिसके फलस्वरूप खाद्यान्नों की आपूर्ति व द्धि होती है।"

कृषि विकास की अवस्थाएँ
(Phase of Agricultural Growth)

श्रीमती बोसरप के अनुसार कृषि का विकास निम्नलिखित पाँच अवस्थाओं में से होकर गुजरता है।

1. **जंगली परती** (Forest Follow) -
2. **झाड़ी परती** (Bush Follow)
3. **लघु परती** (Short Follow)
4. **वार्षिक फसल** (Annual Follow)
5. **फसलों की विविधता** (Multiple Cropping)

1. **जंगली परती** (Forest Follow) - प्रो० बोसरप के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था मे कृषि जंगल में परती एवं बंजर भूमि पर बड़े ही सरल ढंग से की जाती है। इस अवस्था में बीज तथा पेड़ों एवं झाड़ियों को काटने के लिए कुल्हाड़ी के रुप में बहुत थोड़ी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त, कृषि उत्पादन में श्रम की बहुत कम मात्रा में आवश्यकता होती है। कृषि की प्रक्रिया में बड़े तथा परिपक्व पेड़-पौधों को काटकर जला दिया जाता है तथा कृषि योग्य भूमि तैयार की जाती है। इस भूमि पर लकड़ी एवं अन्य नुकीले उपकरणों आदि की सहायता से खुदाई करके इसे बाने योग्य बनाया जाता है। बुवाई के लिए कुदाल, फावड़ा तथा हल आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। संक्षेप में, कृषि खाद्यान्न उत्पादन के लिए पूँजी एवं श्रम की न्यूनतम मात्रा की आवश्यकता पड़ती है।

2. **झाड़ी परती** (Bush Follow) - बोसरप के अनुसार, जब जनसंख्या में व द्धि होती है, तब बड़े-बड़े व क्षों को काटकर बनाई गई कृषि योग्य भूमि पर खाद्यान्नों का जितना उत्पादन होता है वह वर्तमान जनसंख्या के लिए अपर्याप्त होता है परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन को बढ़ाना पड़ता है। यदि जंगल के व क्षों को बड़ा होने दिया जाए, फिर उसे जलाकर कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित किया जाए तो इस प्रक्रिया में बहुत लम्बा समय लगेगा। इसलिए खाद्यान्नों की आपूर्ति के लिए छोटे व क्षों तथा झाड़ियों आदि के काटकर उसे जलाकर उपलब्ध भूमि पर खेती की जाने लगती है। इस तरह, कृषि विकास की जिस अवस्था में छोटे पेड़ों एवं झाड़-झंखड़ को साफकर उपलब्ध भूमि पर खेती की जाने लगती है।

   इस अवस्था को झाड़ी परती (अथवा बंजर) की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था के उपलब्ध मिट्टी स्वतन्त्र एवं ढीली न होकर सघन एवं कसी हुई होती है। इस तरह की भूमि पर फसल उगाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक मजबूत उपकरणों एवं यन्त्रों के साफ करना तथा जलाना एक दोहरा कार्य है। अतः कुदाल तथा फावड़े की सहायता से घास-फूस तथा झांड-झरंवाड को साफ करने के लिए अधिक श्रमिकों को काम पर लगाना पड़ता है।

   संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि इस अवस्था में बढ़ती जनसंख्या के लिए आवश्यक खाद्यान्नों की आपूर्ति के लिए झाड़ियों को जलाकर तथा उसे साफकर प्राप्त भूमि से खेती करने योग्य भूमि बनाया जाता है तथा उस पर खाद्यान्नों का उत्पादन किया जाता है।

3. **लघु परती** (Short Follow) - लघु परती की इस अवस्था में जब समाज की जनसंख्या में व द्धि होती है तब खाद्यान्नों की बढ़ती माँग की आपूर्ति के लिए घास तथा खरपतवार से अच्छी होनेवाली परती भूमि पर भी खेती की जाती है। कुदाल तथा फावड़े जो झाड़ी परती (Bush Follow) की अवस्था में महत्त्वपूर्ण कृषि औजार के रूप में प्रयोग में लाए जाते थे, वे इस अवस्था में प्यास की जड़ों तथा खरपतवारों को प्रभावी ढंग से नष्ट करने में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध नहीं होते। परिणामस्वरूप इस अवस्था में हक का प्रयोग होने लगता है। इसे साथ ही घासों तथा झाड़ियों के जलाने से प्राप्त राख को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस तरह के उपलब्ध खादों की मात्रा में सीमित ही होती है। क्योंकि घास-फूस को बार-बार जलाकर वांछित मात्रा में राख प्राप्त करना यथासम्भव नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में तालाबों की मिट्टियों को आसपास की जमीनों से बहाकर आनेवाले कूड़ा-करकट तथा जानवरों

के बैठने के स्थान पर पाए जानेवाले गोबर एवं कूड़े को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था में अपेक्षाकृत श्रम एवं पूँजी का प्रयोग होता है।

4. **वार्षिक फसल (Annual Follow)** - जब फसल की बुवाई वार्षिक आधार पर की जाती है तब परती अपना बंजर भूमि नहीं पाई जाती। वार्षिक फसल चक्र अथवा वार्षिक कृषि के अन्तर्गत किसी वर्ष मे एक ही फसल उगाई जाती है। किसी वर्ष में एक फसल के कटने तथा अगले वर्ष अन्य फसल बोने के बीच जो समय अन्तराल बच जाता है उसका उपयोग जानवरों के चारा अथवा घास उगाने के लिए किया जाता है।

5. **फसलों की विविधता (Multiple Cropping)** - प्रो० ई० बोसरप के अनुसार यह भूमि उपयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण, निर्णायक एवं सघन व्यवस्था है इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही वर्ष में दो या दो से अधिक फसलें एक ही भूखण्ड पर उगाई जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रबी तथा खरीफ के मौसम में विविध प्रकार की फसलों का उत्पादन किया जा सकता है। इस व्यवस्था में भूमि के परती रहने की सम्भावना नहीं होती। इस तरह बढ़ती जनसंख्या के फलस्वरूप कृषि विकास की चौथी एवं पाँचवीं अवस्थाएं अस्तित्व में आती हैं। इन अवस्थाओं में कृषि विकास हेतु अधिक पूँजी तथा श्रम की आवश्यकता होती है।

अपने विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रो० बोसरप कहती हैं लघु अपना परती की अवस्था के बाद जब जनसंख्या घनत्व में व द्धि होती है तब अधिक मात्रा में खाद्यान्नों की आवश्यकता पड़ती है। जब जनसंख्या कम रहती है तब कम सघन कृषि की आवश्यकता होती है तथा लोग पशुपालन को विशेष महत्त्व नहीं प्रदान करते। वे अपने चारे की व्यवस्था प्राकृतिक रूप से उत्पन्न घासों एवं झाड़ियों आदि के माध्यम से कर लेते हैं, परन्तु जब जनसंख्या घनत्व बढ़ा है तब कृषि कार्य अधिक विस्त त रूप से होने लगता है। तथा कृषि कार्य हेतु पशुओं की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह अनाज तथा चारे के उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाने लगता है। इस दशा में प्रति अनाज के उत्पादन में अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है।

अपने इस कथन तर्क को स्पष्ट करते हुए श्रीमती बोसरप कहती हैं कि जब समाज जंगल संस्कृति से अलग परती की अवस्था में जाता है तब उत्पादित खास फसलों की प्रकृति में परिवर्तन आ जाता है। इस अवस्था में लोग जड़ फसलों की अपेक्षा अनाज का उत्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। अनाज की खेती को घास तथा खरपतवार से सुरक्षा प्रदान करनी होती है। निःसन्देह अनाज के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम श्रम शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु कैलोरी के रूप में उनका प्रति हैक्टेअर उत्पादन जड़वाली फसलों की अपेक्षा बहुत कम होता है। अतः अनाजों के उत्पादन के लिए अधिक क्षेत्र का उपभोग होने लगता है जिसके फलस्वरूप कुल प्रयुक्त होनेवाले श्रम की मात्रा में व द्धि हो जाती है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विश्लेषण में इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित किया गया है कि प्रारम्भिक अवस्था में कृषि का विकास जनसंख्या व द्धि से अधिक प्रभावित होता है तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। अपने तर्क के समर्थन में उन्होंने यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका का उदाहरण प्रस्तुत किया है जहां खाद्यान्न के उत्पादन में व द्धि करने के लिए गरीब लोगों को दास बनाकर कृषि श्रमिक के रूप में प्रयुक्त किया गया था।

प्रो० बोसरप ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि जनसंख्या में व द्धि के फलस्वरूप जब कृषि का विकास होता है तब साथ ही अन्य परिवर्तन भी स्वाभविक तौर पर होते है। ये परिवर्तन औजारों के निर्माण से संबंधित होते है। कृषि विकास के साथ-साथ उसमें प्रयोग होने वाले यन्त्रों एवं उपकरणों की दशा में भी सुधार होता जाता है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या में जब अत्यधिक व द्धि होने लगती है तब शहरों का विकास होता है। ये शहर खाद्य आपूर्ति के लिए गाँवों से सम्पर्क बनाए रखते हैं। आर्थिक इतिहासकारों ने इस तथ्य की ओर संकेत दिया है कि मध्य-युग में पड़नेवाले अकालों का प्रमुख कारण ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या का विरल रहना था न कि सघन होना था। नगरों के अपर्याप्त विकास, परिवहन तथा ढुलाई के साधनों की कमी के कारण नगरों का खाद्यान्न की उपलब्धता की कमी बनी रही।

प्रो० बोसरप ने अपने सिद्धान्त में यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि औद्योगिक विकास से पूर्व की अवस्था में कृषि विकास की प्रव त्ति जनसंख्या व द्धि की प्रव त्ति से अधिक प्रभावित थी। साथ ही उन्होंने यह भी संकेत दिया कि औद्योगिकीकरण से पूर्व की अर्थव्यवस्था मे सामाजिक ढाँचे की बनावट भी जनसंख्या व द्धि पर निर्भर करती थी।

अन्य शब्दों में जनसंख्या व द्धि मनुष्य की कृषि पद्धति तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। अन्त में बोसरप इस बिन्दु पर बल देने का प्रयास करती हैं कि पूर्व औद्योगिक अवस्था में, बढ़ती हुई जनसंख्या ने कृषि विकास के लिए आवश्यक निवेश के मार्ग में किसी तरह का अवरोध उत्पन्न नहीं किया। मानव श्रम ने नवीन कृषि क्षेत्रों के निर्माण लघु सिंचाई कार्य, नहरों के खोदने तथा नालियों के निर्माण आदि में सहायक होकर क षि विकास हेतु परिसम्पत्ति के निर्माण में सहायता की है। इस तरह कृषि विकास की इन अवस्थाओं में बढ़ती हुई जनसंख्या स्वागत योग्य होती है।

बोसरप का सिद्धान्त एवं वर्तमान अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएँ
(Boserup's Theory and Present under Development Economic)

बोसरप के अनुसार, वर्तमान अल्पविकसित देशो जो कि औद्योगिक द ष्टिकोण के काफी पिछड़े हुए हैं, उनका कृषि विकास का सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक है उनके अनुसार, इन देशों में प्रति मानव घण्टे उत्पादन इतना कम होता है कि उससे सीमित मात्रा में उपलब्ध नियोजित कुशल श्रम तथा प्रयुक्त निवेशी विनियम का भुगतान तक नहीं किया जा सकता। अतः यह मान लेना अवास्तविक होगा कि ऐसे देशों में नगरीय औद्योगिकीकरण की अवस्था तक भी नहीं पहुँच पाए हैं वहाँ आधुनिक औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विधियों की सहायता से कृषि पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकेगा।

आलोचना
(Criticism)

कृषि विकास के बोसरप मॉडल की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. बोसरप के मॉडल की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि यह उन अल्पविकसित देशों में लागू नहीं होता जहाँ नगरीय औद्योगिक क्षेत्र पिछड़ा हुआ है।
2. बोसरप ने जनसंख्या व द्धि से कृषि क्षेत्र पर पड़नेवाले प्रतिकूल प्रभावों की अवहेलना की है। पिछली अर्थव्यवस्थाओं की ये जनसंख्या व द्धि से पर्याप्त मात्रा में जोतों का उपविभाजन तथा विखण्डन हुआ है। लघु तथा सीमान्त कृषि में नवीन तथा सुधरी हुई तकनीकी तथा बड़े पैमाने की कृषि का काम नही उठा पाते। इस तरह इन देशों में बढ़ती हुई जनसंख्या ने पूँजी निर्माण की प्रक्रिया पर विपरीत प्रभाव डाला है।

3. बोसरप ने अपने मॉडल में यह भी आशा व्यक्त की है कि वर्तमान समय में अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बढ़ती हुई जनसंख्या को कृषि क्षेत्र में खपाया जा सकता है। परन्तु परन्तु यह विचार अमेरिका जैसे देशों के सन्दर्भ में सच होता दिखाई देता है जहां जनसंख्या घनत्व काफी कम है। इन देशों में व्याप्त कृषि समस्याओं ने श्रमिकों को कृषि क्षेत्र से गैर कृषि क्षेत्र में स्थानान्तरण हेतू विवश कर दिया है। इसका कारण यह है कि बोसरप के इस विचार को समझना कठिन है कि इन देशो में किस तरह नगरीकरण और उसके उपरान्त औद्योगिकीकरण हुआ जबकि औद्योगिकीकरण से पूर्व समय से इन देशों में कृषि (विकास का जनसंख्या) का दबाव बहुत ही कम था। वास्तव में इन देशों के नगरीकरण एवं औद्योगिकीकरण उत्तरदायी है।

4. अन्त में, यह कहा जा सकता है कि बोसरप का मॉडल एक दिमागी कसरत के अलावा कुछ और नहीं है। आज के आधुनिक विश्व में इसकी व्यावहारिकता पूर्णतया अनिश्चित है। कृषि कार्यों की विभिन्न अवस्थाओं को जानना ऐतिहासिक द ष्टि से उचित है परन्तु इतिहास स्वयं को दोहराएगा ही यह आवश्यक नहीं है।

कृषि का आर्थिक विकास मे महत्त्व (भूमिका) लुईस का मॉडल
(Approaches to Agricultural – Lewis Model)

लुईस ने अपने एक प्रसिद्ध लेख "Economic Development with Unlimited Supplies of Labour" में दो क्षेत्रिय मॉडल प्रस्तुत किया तथा इसने कृषि क्षेत्र से सस्ते श्रम की पूर्ति की सहायता से पूँजीवादी क्षेत्र के विस्तार की सम्भावनाओं की खोजबीन की।

लुईस के मॉडल की मुख्य मान्यताएँ

1. अर्थव्यवस्था को दो क्षेत्रों में बाँटा जाता है - एक पिछड़ा हुआ मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्र - जीवन निर्वाह क्षेत्र तथा दूसरा विकसित क्षेत्र उदाहरण के लिए पूँजीवादी क्षेत्र।

2. विकसित पूँजीवादी क्षेत्र पूँजीगत स्टॉक का प्रयोग करना है (जिसका पुनरुत्पादन किया जा सकता है) तथा पूँजीवादी ऐसे प्रयोग के लिए भुगतान प्राप्त करता है। इसके विपरीत पिछड़ा हुआ कृषि क्षेत्र गैर-पुनरुत्पादित पूँजी (भूमि) का प्रयोग करता है।

3. पिछड़े हुए कृषि क्षेत्र में श्रम की पूर्ति असीमित होती है "जीवन निर्वाह क्षेत्र में वास्तविक मजदूरी स्थिर है तथा श्रम की सीमान्त मजदूरी लगभग शून्य के समान होती है यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मान्यता है।

4. दोनों ही क्षेत्रों में उत्पादन तकनीकियों में अन्तर पाया जाता है। पूँजी वादी क्षेत्र में प्रति श्रमिक उत्पाद अधिक है जबकि पिछड़े कृषि क्षेत्र में पूर्ति श्रमिक उत्पाद कम होता है।

5. अर्थव्यवस्था में यद्यपि अकुशल श्रम की शर्त असीमित होती है परन्तु पूँजी की मात्रा बहुत ही कम पाई जाती है। अतः ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना बहुत ही मुश्किल हो जाता है क्योंकि कला-कौशल की कमी पाई जाती हैं परन्तु इस कमी को मानवीय पूँजी में निवेश करके (शिक्षा तथा प्रशिक्षण) दूर किया जा सकता है। थोड़ी पूँजी तथा कृषि क्षेत्र से श्रम आधिक्य को उद्योग में हस्तांतरण करके आर्थिक संव द्धि प्राप्त की जा सकती है।

'श्रम आधिक्य' को जब पिछड़े कृषि क्षेत्र के विकसित पूँजीगत क्षेत्र में हस्तांतरण किया जाता

है तो यह दोनों क्षेत्रों के लिए ही लाभदायक होता है। श्रम हस्तांतरण के बाद, पिछड़े कृषि क्षेत्र में भूमि श्रम का अनुपात बढ़ जाता है तथा आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन में व द्धि करने के लिए अपेक्षित काम उपलब्ध हो जाता है। पूँजीगत क्षेत्र में मजदूरी का निर्धारण जीवन निर्वाह क्षेत्र में श्रमिक द्वारा प्राप्त मजदूरी द्वारा किया जाता है पूँजीगत मजदूरी सामान्यतः जीवन निर्वाह क्षेत्र में प्राप्त होनेवाली अर्जित आय से अधिक होती है जो कि श्रमिक के जीवन निर्वाह के क्षेत्र से आधुनिक पूँजीगत क्षेत्र में जाने के लिए और प्रोत्साहित करती है।

श्रम के हस्तांतरण की मात्रा मुख्यतः उपलब्ध पूँजीगत स्टॉक तथा श्रम की संख्या पर निर्भर करती हैं। हस्तांतरण की दर, पूँजीगत क्षेत्र के अर्न्तगत हो वाले लाभ की व द्धि दर (या आधिक्य) पर निर्भर करती है लुईस यह भी तर्क देते हैं कि औद्योगिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित लाभ। आधिक्य, सामान्यतः पूँजीपति द्वारा निवेश किए जाते हैं। परन्तु यह सदा सत्य नहीं होता क्योंकि लुईस के अनुसार लाभ में कई सम्भावित 'ध्रव' होते हैं (यद्यपि से ध्रव, सूक्ष्म ही होते है)। लुईस के अनुसार आर्थिक विस्तार की प्रक्रिया का महत्त्वपर्ण कारक पूँजीगत आधिक्य का प्रयोग होता है।

निम्नलिखित चित्र में लुईस मॉडल की कार्य-प्रणाली को प्रदार्शित करता है।

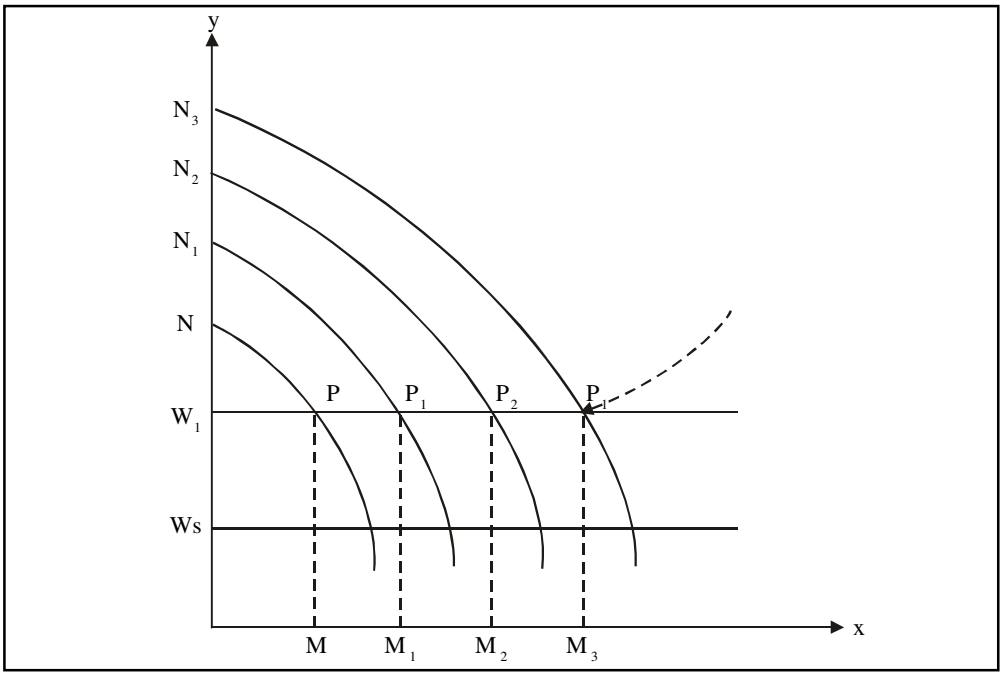

चित्र 2: श्रम की सीमान्त उत्पादन (सीमान्त उत्पादन) मजदूरी

चित्र में X-अक्षांश औद्योगिक श्रमिक की मात्रा को Y-अक्षांश श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता तथा मजदूरी को मापता है। सीमान्त उत्पादकता वक्र-श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता का माप करती है। OWs स्थिर जीवन-निर्वाह मजदूरी को दर्शाती है। औद्योगिक मजदूरी OW_1 के समान है जहाँ $OW_1 > OWs$ औद्योगिक क्षेत्र श्रमिक को वहां तक रोजगार प्रदान करता है जहां श्रमिक की मजदूरी तथा श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता के समान होती है (मजदूरी = श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता)। अतः सन्तुलन का प्रारम्भिक बिन्दु 'P' है तथा श्रम की 'OM' यात्रा को रोजगार दिया जाता है। अविकसित औद्योगिक क्षेत्र में लाभ। आधिक्य की मात्रा ONPM तथा OW_1PM के अन्तर i.e. W_1NP के समान है। जो कि कुल मजदूरी बिल के समान है तथा काम की मात्रा W_1NP के समान है।

हम मानकर चलते हैं कि पूँजीपति अपने सारे कामों का पुनः निवेश करते हैं। तब सीमान्त उत्पादकता वक्र M_1P_1 तक खिसक जाती है तथा रोजगार अब OM_1 तक पहुंच जाता है तथा लाभ का आकार $W_1N_1P_1$ तक बढ़ जाता है। वास्तविक मजदूरी दर पर ही स्थिर रहती है।

यह प्रक्रिया तब तक निरन्तर चलती रहेगी जब तक कृषि क्षेत्र से आधिक्य श्रम औद्योगिक क्षेत्र में समायोजित नहीं हो जाता। श्रम आधिक्य के समाप्ति बिन्दू (Exhumation Point) का बिन्दू P_0 तथा रोजगार का स्तर OM_0 है। उस बिन्दू के बाद मजदूरी की दर बढ़ना प्रारम्भ कर देती है जो कि चित्र में कटी हुई रेखा से दिखाया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि P_0 बिन्दू के बाद, कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र तक पूर्ण श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम होगी तथा यह औद्योगिक क्षेत्र से और अधिक श्रम के लिए प्रतियोगिता कर रही है। लुईस के अनुसार, इस अवस्था को कृषि का व्यावसायीकरण कहते हैं। यह व्यावसायीकरण मुख्यतः (i) पूँजीगत क्षेत्र में होनेवाले काम में व द्धि तथा (ii) वास्तविक मजदूरी दर में व द्धि के कारण होता है।

यद्यपि लुईस मॉडल दोहरी अर्थव्यवस्था के विकास में एक सराहनीय कदम माना गया है परन्तु फिर भी इसकी मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार है-

1. श्रम की सीमान्त उत्पादकता जीवन निर्वाह क्षेत्र में सदा ही शून्य या शून्य के निकट होती है - यह मान्यता सही नहीं है; क्योंकि कई तथ्यों पर आधारित अध्ययनों के अनुसार श्रम की सीमान्त आवश्यकता शून्य से अधिक होती है $(MP_L > 0)$ अगर यह सही है तो कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र को हस्तांत्रित श्रमिक की अवसर लागत घनात्मक होगी क्योंकि इस हस्तांतरण के कारण कृषि क्षेत्र का उत्पादन कम हो जाएगा यद्यपि कई तथ्यों पर आधारित तथ्यों के अनुसार श्रम की पूर्ति में कमी के कारण कृषि उत्पादन में कमी होती है। कई आलोचकों के अनुसार यह अध्ययन विस्त त नहीं है, श्रम की सीमान्त उत्पादकता कई बार ऋणात्मक तथा कई बार धनात्मक होती है; कई कृषि फसलों के उत्पादन में विभिन्न मौसमों में श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक भी हो सकती है तथा अन्य में ऋणात्मक भी हो सकते हैं - इसका मुख्य कारण "मौसम" हो सकता है क्योंकि जब श्रमिक विस्थापित किया जाता है तो उत्पादन मे कमी होती है।

3. यह भी देखा गया है कि लुईस मॉडल केवल विशिष्ट परिस्थितियों में तब ही लागू होता है जब लाभ आधिक्य का पुनः निवेश किया जाता है। परन्तु अगर मान लिया जाए कि पूँजीपति उत्पादन की श्रम-प्रधान तकनीकी के स्थान पर पूँजी-प्रधान तकनीकी अपना लेता है तो फलस्वरूप प्रति इकाई पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में व द्धि होगी तथा सीमान्त उत्पादकता वक्र को खिसका देती है, परन्तु इस खिसकान के कारण रोजगार के स्तर में व द्धि नहीं होगी।

रानीस तथा फाई मॉडल
(Ranis and Fei Model)

रानीस तथा फाई मॉडल का मुख्य उद्देश्य, यह प्रदर्शित करना है कि कृषि क्षेत्र से "आधिक्य" श्रम का औद्योगिक क्षेत्र को हस्तांतरण करके, एक अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से व्यावसायीकरण तथा विकसित किया जा सकता है।

लुईस के मॉडल में, कृषि क्षेत्र की भूमिका (जो कि औद्योगिक तथा आर्थिक संव द्धि को प्रोत्साहित करती है) को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वास्तविकता में, लुईस का मॉडल कृषि क्षेत्र

की पूरी तरह से अवहेलना करता है तथा इस क्षेत्र को केवल श्रम का भण्डार ही मानता है। आर०एफ० मॉडल कृषि क्षेत्र में बढ़नेवाली उत्पादकता तथा इसके व्यावसायीकरण की अनुकूलता को अधिक महत्त्व देता है, उनके अनुसार कृषि क्षेत्र केवल औद्योगिक क्षेत्र को मानव संसाधन की पूर्ति ही नहीं करता, बल्कि विकास की प्रक्रिया के लिए पर्याप्त बचत भी उपलब्ध करता है।

यह मॉडल मानकर चलता है कि लुईस तरह की अर्थव्यवस्था में श्रम आधिक्य पाया जाता है। कृषि क्षेत्र में मजदूरी का स्तर स्थिर होता है औद्योगिक क्षेत्र में श्रम की पूर्ति वक्र अनन्त लोचदार होती है क्योंकि श्रम को विस्थापित करने की अवसर लागत शून्य या बहुत कम होती है। आर०एफ० मॉडल, आर्थिक संव द्धि की तीन अवस्थाओं से सम्बन्धित होता है। पहली अवस्था में, यह मान लिया गया है कि श्रम पूर्ति अनन्त लोचदार है, फलस्वरूप श्रम पूर्ति, मजदूरी में होनेवाले परिवर्तनों से अल्पपरिवर्तनशील होती है, चित्र C के अनुसार, श्रम पूर्ति पूर्णतया लोचदार है, तथा वास्तविक मजदूरी और सीमान्त उत्पादन संस्थागत मजदूरी दर (C/W) पर स्थिर रहती हैं। चित्र B में श्रम की सीमान्त उत्पादन को उत्पादन फलन की ढलान द्वारा दिखाया गया है। A तथा D के बीच में उत्पादन फलन की ढलान समतल है जिससे यह अभिप्राय है कि सीमान्त उत्पादन शून्य के बराबर है। चित्र C के अनुसार O तथा C के बीच में सीमान्त उत्पादन शुन्य है। इस चित्र में स्थिर संस्थागत मजदूरी को OW द्वारा दिखाया गया है तथा औसत सीमान्त उत्पादन को WVQ द्वारा दर्शाया गया है। जब पूँजीपति लाभ का पुनर्निवेश करता है तो आर्थिक विकास संव द्धि होती है।

चित्र A में ds' लाभ के पुनर्निवेश को प्रदर्शित करता हैं तथा श्रम का हस्तांतरण OC = AD के द्वारा होता है। यह हस्तांतरण तब पूरा हो जाता है जब श्रम आधिक्य समाप्त हो जाता है तथा सीमान्त उत्पादन में व द्धि प्रारम्भ हो जाती है। चित्र B में DP तथा चित्र C में CH इस प्रक्रिया को पूरा कर देती है- यह विकास की दूसरी अवस्था है। परन्तु मजदूरी, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन से अधिक होती है। क्योंकि कृषि क्षेत्र में औद्योगिक क्षेत्र को हस्तांतरण करने की अवसर लगात भी धनात्मक ही होगी (यह कृषि क्षेत्र में त्याग किए गए उत्पादन के कारण होती है)। अतः चित्र A में 't' बिन्दु से आगे, श्रम की पूर्ति वक्र पूर्ण लोचदार होना बन्द हो जाती है तथा बढ़ना शुरू कर देती है।

अर्थव्यवस्था, चित्र C के अनुसार 'E' बिन्दु पर पूरी तरह से व्यवसायी हो जाती है। जहाँ MP = c/w चित्र B में इसके समरूप बिन्दु उत्पादन फलन को स्पर्श करनेवाले बिन्दु 'R' से दर्शाया गया है। फलस्वरूप चित्र 'c' के 'CH' हिस्से तक चित्र 'B' के 'DP' हिस्सा आर्थिक विकास की दूसरी अवस्था को प्रदर्शित करते हैं। जब तक पूर्ति OL_2 से अधिक होती है (चित्र A), यह श्रमिको के हित में होगा कि वो कृषि को छोड़ दे क्योंकि ऐसा करने से फसल उपज/पैदाबर में कमी (नुकसान), मजदूरी में होनेवाली कमी से कम होगा। परन्तु OL_2 से नीचे श्रम की पूर्ति को एक भूमिपति अपने खेत पर रखना पसन्द करेगा क्योंकि यह उसके हित में होगा। आर०एफ० मॉडल में बिन्दु E, R तथा L_2 व्यावसायीकरण के बिन्दुओं के महत्त्व को दिखाते हैं।

चित्र A में, जब तक भूमि से हटाए गए श्रम की संख्या OLO से अधिक नहीं होती है। यद्यपि कुल मजदूरी हस्तांतरित श्रम के अनुपात में कम होती है। यद्यपि कुल उत्पादन मे कमी नहीं होती क्योंकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता (MP_L) शून्य के समान है यह चित्र B के समतल उत्पादन में दिखाया गया है आधिक्य की मात्रा WL है जो कि शहरी क्षेत्र में श्रम के आकार के समानुपाती होती है।

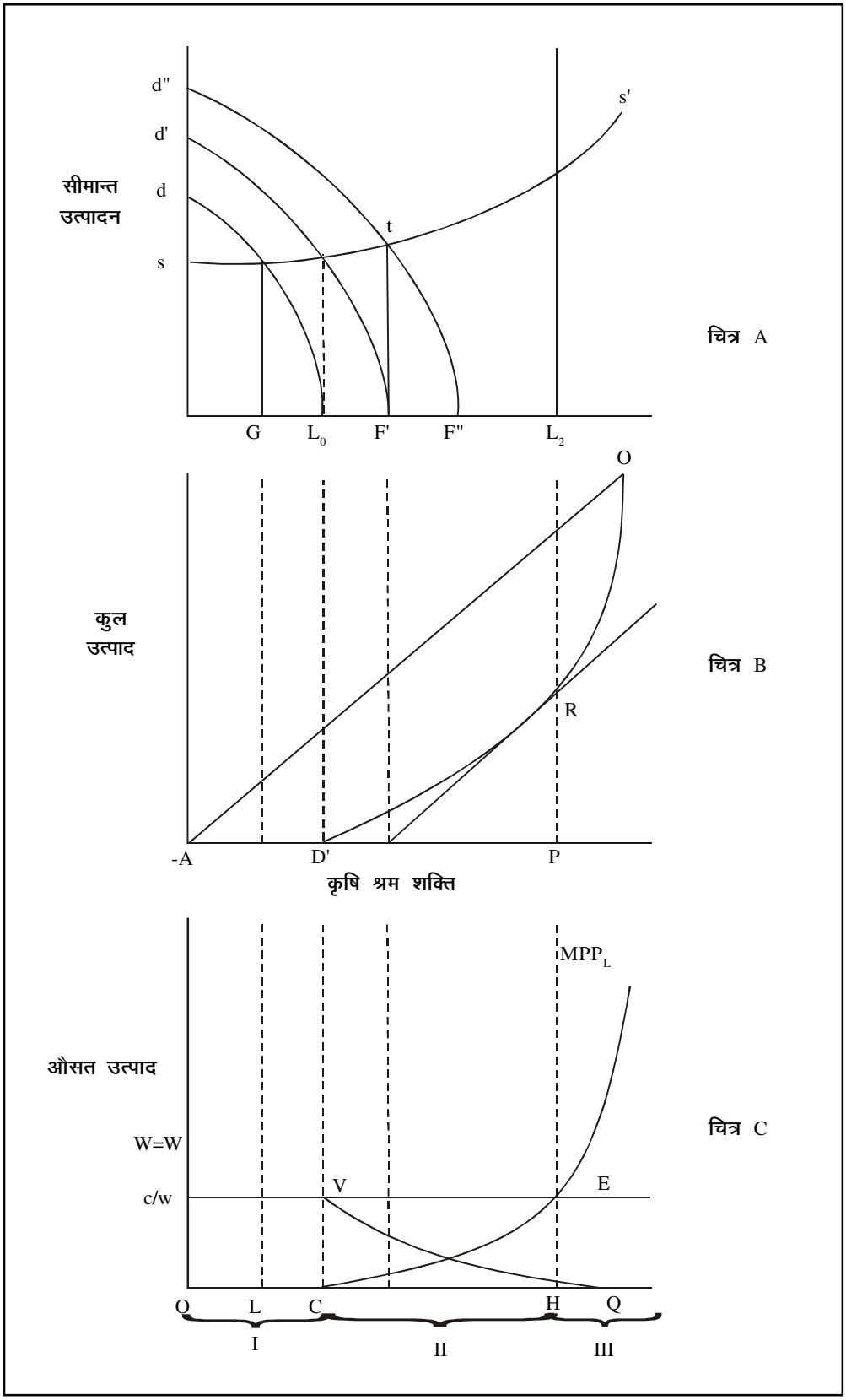
d"
d'
d
s
सीमान्त
उत्पादन
s'
t
G
L_0
F'
F"
L_2
चित्र A
O
कुल
उत्पाद
R
-A
D'
P
कृषि श्रम शक्ति
चित्र B
MPP_L
औसत उत्पाद
W=W
c/w
V
E
O
L
C
H
Q
I
II
III
चित्र C

चित्र 3(A), (B) (C)

जैसे ही उद्योग में श्रम की पूर्ति OLO से अधिक हो जाती है, श्रम का कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र को और अधिक हस्तांतरण के कारण, कृषि क्षेत्र के उत्पादन मे कमी हो जाती है। फलस्वरूप 'इस बिन्दु' से आगे हर औद्योगिक श्रम के लिए आधिक्य घटना शुरु हो आगे जाएगा। इसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न की सापेक्षिक कीमतों में व द्धि होगी। इसी के कारण औद्योगिक क्षेत्र में श्रम की पूर्ति वक्र में व द्धि होना प्रारम्भ हो जाती है। अतः लुईस जैसा मॉडल केवल L_0 तक ही लागू होता है क्योंकि इसके बाद ऐसा मॉडल लागू नहीं होता क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र के "असीमित श्रम की पूर्ति" शून्य अवसर लागत पर मिलनी बन्द हो जाती है। L_2 बिन्दु पर, दोनों ही क्षेत्रों का व्यावसायीकरण हो जमा है क्योंकि दोनों ही क्षेत्रों में MP_1 बराबर हो जाता है तथा मजदूरी भी दोनों ही क्षेत्रों में MP_1 के समान हो जाती है।

आर०एफ० मॉडल में जिस गति से श्रम का हस्तांतरण कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र को होगा; वह निम्नलिखित तत्त्वों पर निर्भर करता है।

1. जनसंख्या की व द्धि दर।
2. कृषि में तकनीकी प्रगति की प्रकृति।
3. औद्योगिक पूँजीगत स्टॉक की व द्धि, जो कि औद्योगिक क्षेत्र में होनेवाले लाभ की व द्धि दर तथा कृषि क्षेत्र में अर्जित आधिक्य पर निर्भर करता है।

आर०एफ० मॉडल की कार्यप्रणाली पर भी कुछ प्रश्नचिह्न लगाए हैं -

1. लुईस की तरह, यह मॉडल भी इसी मान्यता पर आधारित है कि कृषि क्षेत्र में सीमान्त उत्पादकता, आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में शून्य होती है।
2. मुद्रा तथा कीमतों के महत्व की अवहेलना की है परन्तु साख नीति कृषि तथा औद्योगिक विकास में होनेवाले अवरोधकों को दूर करती हैं।
3. इस मॉडल ने मजदूरी आधारित श्रमिक तथा परिवार आधारित श्रमिक में कोई अन्तर नहीं किया है।
4. यह मॉडल बन्द अर्थव्यवस्था पर आधारित है जो कि खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल की आयात की सम्भावनाओं को निरस्त कर देता है।
5. इस मॉडल ने कृषि क्षेत्र में पूँजी के महत्त्व का विश्लेषण नहीं किया।

ईकाई-2

अध्याय-5

उत्पादन फलन
(Production Function)

उत्पादन फलन उत्पादन के साधनों की मात्रा तथा उत्पादन के स्तर के मध्य सम्बन्ध को कहा जाता है। यहाँ उत्पादन के साधनों की मात्रा को आशत (Input) तथा उत्पादन के स्तर को निर्गत (Output) कहा जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्गत, आगतों का फलन (Output is a function of inputs) है। यदि उदाहरण के लिए मान लें कि आगत केवल दो (श्रम एवं पूँजी) हैं, तब हम लिख सकते हैं:

$Q = f(L, C)$ (जहाँ f = फलन, L = श्रम, C = पूँजी)

साधारण भाषा में इसका इतका केवल इतना ही अर्थ है कि उत्पादन की मात्रा श्रम तथा पूँजी पर निर्भर है। इस प्रकार उत्पादन फलन आगत तथा निर्गत की मात्राओं के फलनात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करता है। यह बताता है कि समय की एक निश्चित अवधि में आगत के परिवर्तन से निर्गत में किस प्रकार और कितनी मात्रा में परिवर्तन होता है। स्पष्टतया, उत्पादन फलन वह अनुसूची या सारणी है जो यह बताती है कि आगतों के विभिन्न संयोगों से निर्गत की कितनी मात्रा प्राप्त होती है जबकि प्रौद्योगिकी दी गई हो।

यहा यह स्पष्ट करना भी सर्वथा उचित होगा कि उपभोक्ता अपने इष्टतमीकरण (Optimization) को दो तरीकों से प्राप्त कर सकता है-

(a) दिए गए उत्पादन के साधनों की मात्रा से अधिकतम उत्पादन का स्तर हासिल करना।

(b) किसी उत्पादन स्तर को उत्पादन के साधनों के न्यूनतम लागत संयोग से उत्पादित करना।

उत्पादन फलन की मान्यताएँ
(Assumptions of Production Function)

उत्पादन फलन तभी काम करता है जबकि निम्न बातों का मान लिया जाता है:

(1) उत्पादन फलन एक निश्चित समय से सम्बन्धित होता है।

(2) दिए गए समय के अन्तर्गत उत्पादन की तकनीक में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(3) यह मान लिया जाता है कि फर्म, उत्पादन की समय विशेष में उपलब्ध कुशलतम

तकनीक का प्रयोग करती है।

(4) उत्पादन के साधनों की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात फर्म के सम्बन्ध में लागत व्यय दिया हुआ है।

उत्पादन फलन का स्वभाव या विशेषताएँ
(Nature or Characteristics of Production Function)

उत्पादन फलन का स्वभाव अथवा विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) उत्पादन फलन, उत्पाद तथा उत्पादन के उत्पादनों के मध्य फलनात्मक सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।

(2) उत्पाद तथा उत्पादनों का सम्बन्ध तकनीकी होता है।

(3) उत्पादन फलन को सही-सही अध्ययन हेतु उपादानों के गुणों का विवेक से तथा सही अनुमान लगाना आवश्यक होता है।

(4) एक उत्पादन फलन किसी एक दिए हुए निश्चित समय अवधि के लिए ही होता है।

(5) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उत्पादन फलन में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

(6) उत्पादन फलन स्थैतिक अर्थशास्त्र का विषय है क्योंकि यह तकनीकी ज्ञान का स्तर, साधनों की कीमतों तथा समयावधि को निश्चित मानकर कार्य करता है।

(7) उत्पादन फलन आर्थिक समस्या न होकर इन्जीनियरिंग समस्या है। उत्पादन फलन का कार्य उत्पादन की भौतिक मात्रा (Physical quantities of output) तथा साधनों की भौतिक मात्रा (Physical quantities of inputs) के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या करना हैं अतः मूल रूप से उत्पादन फलन एक इन्जीनियरिंग धारणा मानी जाती है न कि आर्थिक धारणा। इस प्रकार कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि उत्पादन फलन अर्थशास्त्र से बाहर है और यह इन्जीनियरिंग के क्षेत्र में आता है।

(8) उत्पादन फलन के अन्तर्गत साधनों को एक-दूसरे के स्थान पर कम या अधिक मात्रा में प्रतिस्थापित किया जाता है।

उत्पादन फलन के प्रकार
(Kinds of Production Function)

साधनों की स्थिरता तथा परिवर्तनशीलता पर आधारित उत्पादन फलन दो प्रकार का होता है- प्रथम, वह उत्पादन फलन जिसमें कुछ साधनों की मात्राएँ स्थिर तथा कुछ की परिवर्तनशील होती हैं; दूसरे, वह उत्पादन फलन जिसमें सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं।

पहले प्रकार का उत्पादन फलन अल्पकाल में पाया जाता है क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा को नहीं बदला जा सकता। इसलिए इस उत्पादन फलन को घटते-बढ़ते अनुपात का नियम या परिवर्तनशील अनुपात का नियम कहा जाता है। दूसरी प्रकार का उत्पादन फलन दीर्घकाल में पाया जाता है क्योंकि दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा को परिवर्तित करना सम्भव होता है। इसलिए इसे पैमाने के प्रतिफल का नियम भी कहा जाता है।

हम उत्पादन फलन की सहायता से स्थिर पैमाने के प्रतिफल को गणितीय रूप मे इस प्रकार

स्पष्ट कर सकते हैं-

$$Q = f(X, Y)$$

(यदि Q उत्पादन के लिए दो साधनों X और Y की आवश्यकता है।)

यदि सब आगतों की मात्रा को m गुना बढ़ा दिया जाए तब उत्पादन (या निर्गत) भी m गुना बढ़ जाता है और तब उत्पादन फलन इस प्रकार बन जाता है।

$$mQ = f(mX, mY)$$

जहाँ P उत्पादन मात्रा तथा m वास्तविक अंक (Real Number) को प्रदर्शित करता है। इसे रेखीय समरूप उत्पादन फलन या प्रथम कोटि का समरूप उत्पादन फलन (Linear and homogeneous production function of first degree) कहते हैं। अतः प्रथम कोटि के समरूप उत्पादन फलन से पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते हैं।

सामान्यरूप से किसी समरूप उत्पादन फलन को निम्न प्रकार लिखा जाता है-

$$Qm^K = f(mX, mY)$$

जहां m को वास्तविक अंक तथा K स्थिर राशि (constant) है। इसे K कोटि का समरूप उत्पादन फलन कहा जाता है। यदि $K = 1$ है तो उपर्युक्त उत्पादन फलन प्रथम कोटि का समरूप उत्पादन फलन होगा। यदि $K = 2$ तो फलन 'द्वितीय कोटि का समरूप फलन' (Homogeneous function of second degree) होता है। यदि K एक से अधिक है ($K > 1$) तो उत्पादन फलन से पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल (increasing returns to scale) प्राप्त होता है। यदि K एक से कम ($K < 1$) तो पैमाने का हासमान प्रतिफल (diminishing returns to scale) प्राप्त होता है।

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन के बीच निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है

(1) अल्पकाल में समय की कमी के कारण उत्पादन के कुछ ही साधनों की मात्रा को बदला जा सकता है जबकि दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा में परिवर्तन सम्भव है।

(2) अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक उत्पादन अपनी वस्तु की पूर्ति को केवल एक सीमा तक ही परिवर्तित कर सकता है, जबकि दीर्घकालीन उत्पादन फलन में पूर्ति को मांग के अनुरूप बढ़ाया अथवा घटाया जा सकता है।

(3) अल्पकालीन उत्पादन फलन में समय की कमी के कारण साधनों का आपसी संयोग अनुपात बदल जाता है जबकि दीर्घकालीन उत्पादल फलन में साधनों में एक समान अनुपात में व द्धि अथवा कमी की जाती है।

(4) अल्पकाल में वस्तु व साधनों की कीमत में परिवर्तन हो सकते हैं जबकि दीर्घकाल में इनमें स्थिर रहने की प्रव त्ति पाई जाती है।

(5) अल्पकालीन उत्पादन-फलन 'परिवर्तनशील अनुपातों का नियम' हैं जबकि दीर्घकालीन उत्पादन-फलन 'पैमाने के प्रतिफल का नियम' है।

(6) अल्पकालीन उत्पादन-फलन वास्तविक है, इसे देखा जा सकता है जबकि दीर्घकालीन उत्पादन-फलन को किसी नियम के रूप में नहीं देखा जा सकता।

उत्पादन फलन कई प्रकार के हो सकते हैं। अर्थशास्त्रियों ने आदान-प्रतिफल सम्बन्धों का व्यावहारिक अध्ययन कर अनेक उत्पादन फलनों का निरूपण किया है। इनमें 'काब-डगलस उत्पादन फलन' (Cobb-Douglas Production Function) विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

काब-डगलस उत्पादन फलन
(Cobb-Douglas Production Function)

1890 से 1922 के दौरान प्रोफेसर कॉब (Cobb) व डगलस (Douglas) ने आगतों (Only labour and capital) व निर्गतों से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठे किए व इनके आधार पर एक सूत्र का प्रतिपादन किया।

$$Q = bL^{K}C^{1-K}$$

जहाँ Q = उत्पादन मात्रा, b. K = धनात्मक स्थिरांक, L = श्रम, C = पूँजी।

प्रो० काब तथा प्रो० डगलस ने इस फलन का प्रयोग दिए हुए आँकड़ों पर किया। यही कारण है कि इसे काब-डगलस फलन के नाम से जाना जाता है।

मान्यताएं
(Assumptions)

इस फलन के चुनाव में निम्न मान्यताएँ निहित हैं:

(1) उत्पादन के केवल दो ही उपादान हैं, पूँजी (capital) तथा श्रम (labour)।

(2) श्रमिकों की उत्पादन शक्ति (अध्ययन किए जाने वाले वर्ष में) निश्चित एवं स्थिर है।

(3) पूँजीगत पदार्थो की भी उत्पादन शक्ति (अध्ययन किए जाने वाले वर्ष में) निश्चित एवं स्थिर है।

(4) यदि श्रम तथा पूँजी की मात्रा को m गुना बढ़ा दिया जाए तो उत्पादन की मात्रा भी m गुना हो जाती है।

$$\begin{aligned} Q &= bL^{K}C^{1-K} \\ &= b(mL)^{K}(mC)^{1-K} \\ &= mbL^{K}C^{1-K} \\ &= mQ \end{aligned}$$

(5) पार्ट टाइम या ओवर टाइम (Part time or over time) को गणना में स्थान नहीं दिया गया है।

संशोधित काब-डगलस फलन
(Modified Cobb-douglas Functions)

उपरोक्त फलन द्वारा सिर्फ पैमाने के स्थिर प्रतिफल की व्याख्या की जाती है, पैमाने के घटते व पैमाने के बढ़ते प्रतिफल की नहीं।

इस कमी को स्वीकार करते हुए प्रो० डगलस ने एक संशोधित नए फलक का प्रतिदान किया जो इस प्रकार है:

$$Q = bL^{K}C^{j}$$

इसे संशोधित काब-डगलस फलन कहते हैं। इसमें स्केलगत तीनों प्रतिफलों का अध्ययन किया जा सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि $K + j$ का मूल्य क्या है? यदि $(K + j) > 1$ तब पैमाने के वर्धमान प्रतिफल की स्थिति होगी, यदि $(K + j) = 1$ तब पैमाने के स्थिर प्रतिफल तथा यदि $(K + j) < 1$ तब पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति होगी।

काब-डगलस फलन की विशेषताएँ
(Characteristics of Cobb-Douglas Function)

(1) इस फलन में उत्पादन के केवल दो उपादानों (श्रम एवं पूँजी) का ही अध्ययन किया गया है जबकि अर्थशास्त्र में चार उपादानों (श्रम, पूँजी, संगठन एवं साहसोद्यम) का अध्ययन किया जाता है।

(2) श्रम अथवा पूँजी अथवा दोनों की मात्रा शून्य होने की स्थिति में उत्पादन भी शून्य होगा। बात तर्क सगंत है क्योंकि दोनों साधनों का प्रयोग किए बिना उत्पादन नहीं हो सकता।

काब-डगलस उत्पादन फलन $Q = bL^K C^{1-K}$ में

यदि $L = 0$, तब $Q = b.0.C1-K = 0$

इसी तरह, यदि $C = 0$, तब $Q = b.L^K.0 = 0$

(3) यदि श्रम तथा पूँजी को किसी भी अनुपात में मिला दिया जाए तो उत्पादन धनात्मक होगा अर्थात कुछ-न-कुछ उत्पादन अवश्य होगा।

(4) काब-डगलस उत्पादन फलन एक रेखीय समरूप उत्पादन फलन है और यह पैमाने के स्थिर प्रतिफल का संकेतक है।

चित्र में काब-डगलस उत्पादन फलन के विस्तार पथ का प्रदर्शित किया गया है।

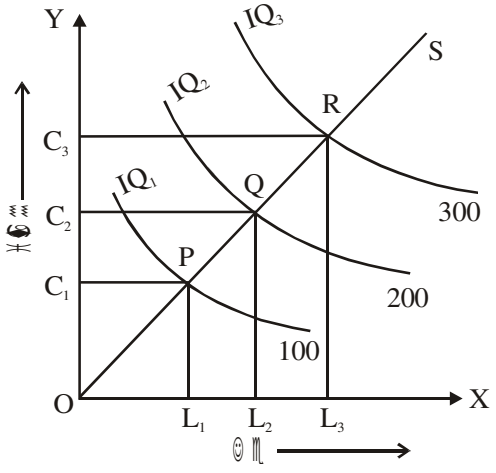

रेखाचित्र 5.1 में OX अक्ष पर श्रम की मात्रा तथा OY अक्ष पर पूँजी की मात्रा की गई है। IQ_1, IQ_2, IQ_3 विभिन्न सम उत्पाद वक्र हैं जो क्रमशः 100, 200 व 300 वस्तुओं के उत्पादन के स्तर को दर्शाते हैं। OS उत्पादन का विस्तार पथ है। चित्र से स्पष्ट है कि OP(100) उत्पादन के स्तर के लिये OL_1 श्रम तथा OC_1 पूँजी का प्रयोग होता है। यदि उत्पादन OQ (200) किया जाता है तो OL_2 $(2OL_1)$ श्रम तथा OC_2 $(2OC_1)$ पूँजी का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि OR (300) उत्पादन किया जाता है तो OL_3 $(3OL_1)$ श्रम तथा OC_3 $(3OC_1)$ पूँजी की मात्रा का प्रयोग किया जाता है। जो यह दर्शाता है कि पूँजी एवं श्रम आगतों को जिस अनुपात में बढ़ाया जाता है उसी अनुपात में उत्पादन भी बढ़ता है। स्पष्टतया, काब-डगलस उत्पादन फलन पैमाने के स्थिर प्रतिफल को दर्शाता है।

काब-डगलस उत्पादन फलन के स्थिर प्रतिफल को दर्शाता है। इसे सिद्ध करने के लिए L और C की मात्राओं को m गुना किया जाता है तब बढ़ा हुआ उत्पादन Q′ होगा।

$$Q' = b(mL)^K .(mC)^{1-K}$$
$$= mbL^K.C^{1-K}$$
$$= mQ$$

इस तरह मूल उत्पादन Q के बढ़कर Q′ हो गया है। अर्थात, जब आगतों को m गुना बढ़ा दिया जाता है, तब उत्पादन भी m गुना बढ़ जाता है। इस प्रकार, काब-डगलस उत्पादन फलन पैमाने के स्थिर प्रतिफल को दर्शाता है।

(5) चूँकि, यह रेखीय समरूप फलन है अतः उत्पादन के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर वेतन/मजदूरी देने पर कुल उत्पादन का पूरा वितरण हो जाता है।

(6) **साधन गहनता (Factor Intensity)** – काब-डगलस उत्पादन फलन में, $K/(1 - K)$ अनुपात साधन गहनता को मापता है। यह अनुपात जितना अधिक होगा, तकनीक उतनी ही श्रम गहन होगी और यह अनुपात जितना कम होगा, उतनी ही उत्पादन की तकनीक पूँजी गहन होगी।

(7) **उत्पादन की दक्षता (Efficiency of Production)** – काब-डगलस उत्पादन-फलन में गुणांक b उत्पादन के साधनों के संगठन मे दक्षता को मापने में सहायता करता है। अधिक दक्ष फर्म का कम दक्ष फर्म की तुलना में b बड़ा होगा।

(8) L और C से सम्बन्धित K तथा $K - 1$ उत्पादन की लोचें (elasticities) होती हैं।

काब-डगलस उत्पादन के अनुसार उत्पादन में पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते हैं अर्थात जिस अनुपात में आगतों को बढ़ाया जाता है उसी अनुपात में उत्पादन (निर्गत) भी बढ़ जाता है। परन्तु खेती में ऐसा सम्भव नहीं होता। अगर ऐसा हो जाए तो खाद्यान्न समस्या पैदा ही नहीं हो सकती। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काब-डगलस उत्पादन फलन कृषि पर लागू नहीं हो पाता।

परन्तु उल्लेखनीय है कि प्रो० ए० एम० खुसरो ने भारतीय कृषि से संकलित किए गए आंकड़ों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय कृषि में पैमाने का स्थिर प्रतिफल पाया जाता है। उन्होंने स्पष्ट किया यदि एकड़ क्षेत्र को उसके बाह्य मूल्य के रूप में ही मान लिया जाए तो यह पाया जाता है कि जैसे-जैसे एकड़ क्षेत्र में व द्धि होती जाती है प्रति एकड़ कुल उत्पादन गिरता जाता है। इसी प्रकार कृषि क्षेत्रफल में व द्धि होने पर व्यवसाय आय गिरती जाती है यद्यपि प्रति एकड़ कुल उत्पादन की तुलना में कम दर से। पर कृषि क्षेत्र में व द्धि होने पर प्रति एकड़ लाभ बढ़ता जाता है।

साधन-साधन सम्बन्ध
(Factor–Factor Relationship)

किसी भी फार्म मैनेजर को उत्पादन करते समय बहुत सारे निर्णय लेने पड़ते हैं तथा इसक लिए उसे बहुत सी तकनीकियां और उत्पादन अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को अवश्य समझना चाहिए।

फार्म अर्थशास्त्र में, आर्थिक तर्क का प्रयोग किया जाता है। कृषि में उत्पादन कई फार्म पर होता है। फसल का उत्पादन, दुग्ध का उत्पादन। कृषि उत्पादन आंशिक तौर पर प्रकृति पर निर्भर करता है। अतः औद्योगिक उत्पादन की तुलना में इसमें कुछ की भिन्नता पाई जाती है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है कृषि उत्पादन में भी उसी तरह से आधुनिकता आ रही

है तथा उत्पादन अर्थशास्त्र का प्रयोग भी व्यापक स्तर पर किया जा रहा है। उर्वरको, कीटनाशक तथा अन्य दवाईयों का प्रयोग भी किया जाता है। उत्पादन प्रक्रिया में इन उपरोक्त आगतों का प्रयोग किस स्तर तक किया जाना चाहिए, यह जवाब उत्पादन अर्थशास्त्र द्वारा ही दिया जाता है।

उत्पादन अर्थशास्त्र का प्रयोग केवल फसलों के उत्पादन में ही नहीं किया जाता अपितु डेयरी उद्योग तथा मछली पालन में भी किया जाता है।

उत्पादन अर्थशास्त्र का प्रयोग सभी स्तरों पर किया जाता है। फार्म के स्तर पर तथा क्षेत्रीय राष्ट्रीय स्तर पर। फार्म स्तर पर, दो तरह की समस्याओं को समाधान करना होगा, पहली यह कि आगतो के इष्टतम् स्तर का निर्धारण करना, दूसरी किसी फार्म पर विभिन्न उद्यमियों के उत्पादन स्तर को अधिकतम करना।

राष्ट्रीय स्तर पर यह निर्णय लेना है कि उत्पादन का कौन सा महत्त्वपूर्ण साधन है तथा इसकी सापेक्षिक भूमिका क्या है? अन्ततः देश के सीमित साधनों को ध्यान में रखकर उत्पादन अर्थशास्त्र को उत्पादन योजना बनाने में मार्गदर्शक के रूप में सहायता करनी चाहिए।

मुख्यतः तीन तरह के आर्थिक सम्बन्ध पाए जाते हैं जो इस प्रकार है-

(i) साधन-उत्पाद सम्बन्ध

(ii) साधन-साधन सम्बन्ध

(iii) उत्पाद-उत्पाद सम्बन्ध

इस में साधन-साधन सम्बन्ध का अध्ययन किया जाएगा।

किसी उत्पादन के विशेष स्तर का उत्पादन करने के लिए एक से अधिक आगत की आवश्यकता होती है। परन्तु उत्पादन के विशेष स्तर का उत्पादन करने के लिए विभिन्न आगतों की कितनी मात्रा को प्रयोग करना चाहिए, यह एक समस्या है? सरलता के द ष्टिकोण से, इस विश्लेषण में दो आगत तथा परिणामस्वरूप उत्पादन के स्तर का अध्ययन किया जाएगा।

समउत्पाद वक्र
(Isoquant)

यह वह वक्र होता है जो उत्पादन के परिवर्तनशील दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को दर्शाती है जिन पर उत्पादन की समान मात्रा प्राप्त होती है, जिनके प्रति उत्पादन तटस्थ होता है।

समउत्पाद, दो शब्दों से बना है सम से अभिप्राय समान तथा उत्पाद से अभिप्राय उत्पादन की मात्रा अतः समउत्पाद से अभिप्राय है कि उत्पादन की समान मात्रा।

चित्र 1 – समउत्पाद वक्र

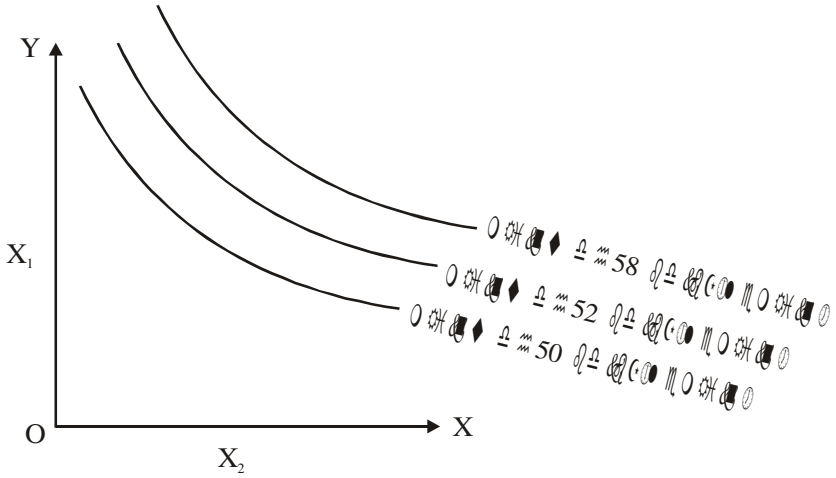

चित्र 1 में विभिन्न समउत्पाद वक्र दर्शायी गई है उत्पादन की विशेष 50 इकाईयाँ, आगतो के निम्नलिखित संयोगों को प्राप्त किया गया है।

X_1	X_2
0	40
1	26
2	13
3	7
4	2
5	0

उत्पादन के और ऊँचे स्तर के लिए या सम उत्पाद वक्र के ऊँचे स्तर के लिए आगतो के अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के तौर पर उत्पादन की 52 इकाईयों का उत्पादन करने के लिए आगतो के निम्नलिखित संयोगों की आवश्यकता होती है।

X_1	X_2
0	43
1	29
2	16
3	10
4	5
5	0

अतः हमें समउत्पाद वक्र के विभिन्न स्तरों को तब तक प्राप्त करते रहेंगे जब तक यह स्तर अधिकतम 58 इकाईयों तक नही पहुँच जाता।

सम लागत रेखा

उत्पादक के पास उत्पादन करने के लिए पूँजी की स्थिर मात्रा ही उपलब्ध होती है, तथा उत्पादक Y वक्र का उत्पादन करने के लिए X_1 तथा X_2 आगतो के विभिन्न संयोगों को खरीद सकता है।

मान लिजिए उत्पादन के Y वस्तु का उत्पादन करने के लिए X_1 तथा X_2 आगतो को खरीदने

के लिए 110 रु. हैं। X_1 आगत की कीमत 1 रु. तथा X_2 आगत की कीमत 11 रु. है। अब अगर उत्पादक सारे रुपये X_2 आगत को खरीदने में खर्च करता है तो X_2 आगत की 110 इकाइयों को प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि उत्पादन सारे रुपये X_1 आगत को प्राप्त करने मे खर्च करता है तो X, आगत की 10 इकाईयां प्राप्त करेगा।

रेखाचित्र 2 की सहायता से नीचे दिखाया गया है।

चित्र 2 - समलागत रेखाएँ

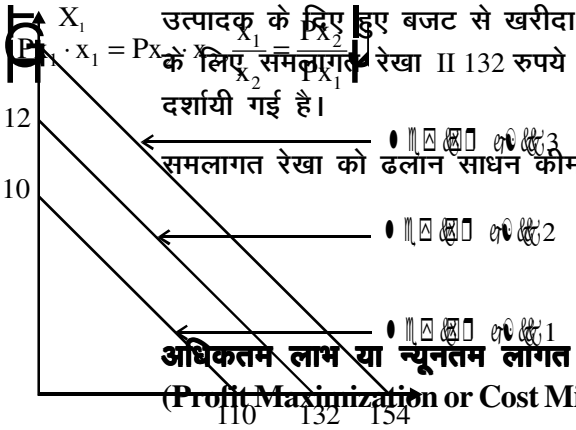

चित्र में समलागत रेखाएँ X_1 तथा X_2 आगतो की दो विभिन्न संयोगों को दर्शाती हैं। जिन्हें उत्पादक के दिए हुए बजट से खरीदा जा सकता है। चित्र 2 में समलागत रेखा I 110 रुपये के लिए समलागत रेखा II 132 रुपये के लिए तथा समलागत रेखा III, 154 रुपये के लिए दर्शायी गई है।

समलागत रेखा को ढलान साधन कीमतों का अनुपात है।

अधिकतम लाभ या न्यूनतम लागत संयोग
(Profit Maximization or Cost Minimization)

साधनों के विभिन्न संयोगों का स्तर, जिस पर आधारित लाभ प्राप्त होता है, निम्नलिखित तीन विधियों से निकाला जा सकता है।

1. अंकगणितीय गणना (Arithmetic Calculation)
2. ग्राफिक विधि (Graphics method)
3. बीजगणितीय विधि (Algebric method)

अंकगणितिय गणना

साधारण अंकगणितीय गणना की सहायता से लाभ के स्तर को जानने के लिए तालिका I में दर्शाया गया है।

तालिका 1

उत्पादन की 50 इकाइयों की न्यूनतम लागत की गणना

X_1 की इकाईयां	X_2 की इकाईयां	X_1 की लागत 11 रुपये की इकाई	X_2 की लागत 1 रुपये प्रति इकाई	कुल लागत
0	40	0	40	40
1	26	11	26	37
2	13	22	13	35
3	7	33	7	40
4	2	44	2	46
5	0	55	0	55

तालिका से स्पष्ट दिखाई देता है कि उत्पादन की 50 इकाईयों का उत्पादन करने के लिए 35 रुपये न्यूनतम लागत है। परिणामस्वरूप उत्पादन की 50 इकाईयों का उत्पादन करने के लिए X_1 की 2 इकाईयों का तथा X_2 की 13 इकाईयों के संयोग का प्रयोग करना चाहिए।

ग्राफिक विधि

जब समलागत रेखा की ढलान समउत्पाद वक्र की ढलान के बराबर होगी, तो X_1 तथा X_2 आगतों का विशिष्ट संयोग ही अधिकतम लाभ प्राप्त करनेवाला ही संयोग होगा। ग्राफ की सहायता से इसे चित्र में दिखाया गया है।

चित्र 3 – न्यूनतम संयोगवाला संयोग

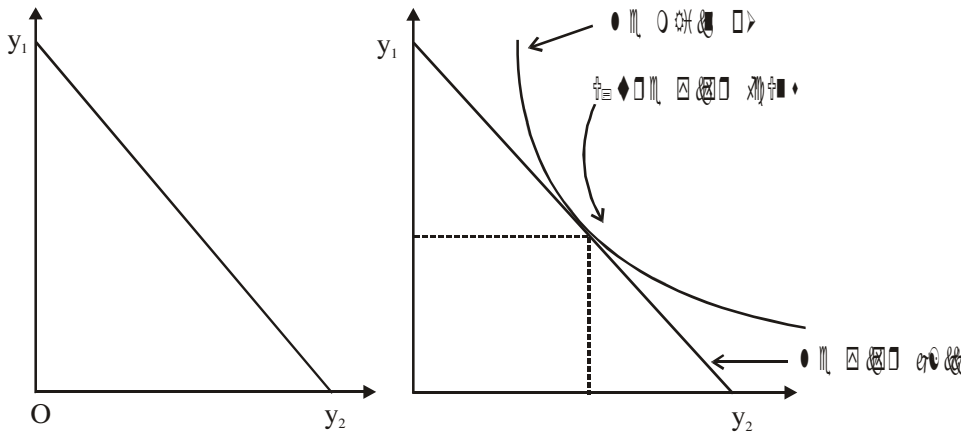

बीजगणितीय विधि

इस विधि में सबसे पहले कीमत अनुपात को निकाला जाता है। तथा यह प्रतिस्थापन अनुपात के समान होना चाहिए।

$$\text{i.e., } \frac{\Delta x_1}{\Delta x_2} = P_{x_1} \cdot \Delta x_1 = P_{x_2} \cdot \Delta x_2$$

प्रतिस्थापन का चित्र
(Low of Substitution)

किसी भी उत्पादन के स्तर के उत्पादन करने के लिए आगतों के विभिन्न संयोगों का प्रयोग किया जा सकता है। उत्पादक किसी भी उत्पादन के स्तर को न्यूनतम लागत के संयोग पर उत्पादन करना चाहता है। कृषि में (1) बैलों का प्रतिस्थापन टैक्ट्रर की जगह किया जा सकता है। (2) दूध की विशेष मात्रा का उत्पादन करने के लिए चारों की विभिन्न मात्रा का प्रयोग किया जा सकता है यहाँ पर खेती करनेवाले को यह निर्णय लेना पड़ता है कि दो आगतों का किस तरह से प्रयोग करें ताकि उत्पादन की विशेष मात्रा का उत्पादन कर सके।

तालिका 2

250 किवंटल प्रति हैक्य्यर उत्पादन की मात्रा का उत्पादन करने के लिए न्यूनतम लागत संयोग (काल्पनिक आंकड़े)

आगतों के संयोग		आगतों की खुराक में परिवर्तन		सीमान्त प्रतिस्थापन्न की दर	उत्पादन की 50 क्विंटल की लगात रुपये कीमत PX_1 =11 अनुपात PX_2 =1		रुपये कीमत अनुपात px_1=8 px_2 =2	Px_1/px_2
X_1	X_2	X_1	X_2	X_2/AX_1		$px_1/px2$		
1	2	3	4	5	6	7	8	9
0	40	-	-	-	40	"	80	4
1	26	1	15	15	37	"	60	4
2	13	1	11	11	36	"	42	4
3	7	1	6	6	40	"	38	4
4	2	1	4	4	46	"	36	4
5	0	1	2	2	55	"	40	4

सीमान्त प्रतिस्थापन की दर
(Marginal Rate of Substitution)

एक आगत, दूसरे आगत का प्रतिस्थापन विभिन्न दरों पर करता है। तालिका से कालम 3 तथा 4 से देखा जा सकता है X_1 आगत को जैसे-जैसे अधिक प्रयोग करते जाते हैं तो X_2 आगत की जगह प्रतिस्थापन की दर घटती जाती है। X_1 आगत में होनेवाले परिवर्तन के फलस्वरूप, X_2 आगत में होनेवाले परिवर्तन के अनुपात को सीमान्त प्रतिस्थापन की दर कहा जाता है जिसे तालिका में कालम 5 में दिखाया गया है।

जब इन आगतों के प्रयोग करने की लागत निकाली जाती है, तो यह देखा गया है कि X_1 आगत की कीमत का अनुपात तथा X_2 आगत की कीमत i.e., Px_1, तथा Px_2 को कीमत अनुपात कहते हैं (Px_1/Px_2) कीमतों के पहले समूह में, न्यूनतम लागत तभी सम्भव होती है जब प्रतिस्थापन अनुपात, कीमत अनुपात के बराबर होता है तथा इसे ही न्यूनतम आगत संयोग कहा जाता है।

अतः कीमतों के पहले समूह में खेती करने वाले को X_1 आगत की इकाईयाँ तथा X_2 आगत

की 13 इकाईयों का प्रयोग करना चाहिए ताकि उत्पाद की 50 क्विंटल का उत्पादक करने के लिए न्यूनतम हो सके।

इसी प्रकार कीमतो के दूसरे समूह में कीमत अनुपात तथा प्रतिस्थापन अनुपात X_1 आगत की 4 इकाईयाँ तथा X_2 आगत की 2 इकाईयों वाले संयोग पर एक में दूसरे के समान होने तथा इस स्तर पर लागत भी न्यूनतम होगी।

अन्त में हम कह सकते हैं न्यूनतम लागत संयोग या साधन प्रतिस्थापन का नियम इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसकी सहायता से दो आगतों के उन संयोगों का निर्धारण किया जा सकता है जिसका लागत न्यूनतम होती है।

विस्तार पथ
(Expansion Path)

कोई भी फर्म अपने उत्पादन का और अधिक विस्तार करने के लिए वित्त को बाहरी स्त्रोतों से प्राप्त करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उत्पादन का किस तरह से विस्तार होगा? उत्पादन के विस्तार का पथ कौन सा होगा? उत्पादन के विस्तार का पथ ऐसा होना चाहिए ताकि इस पथ के सभी बिन्दु अधिकतम लाभ संयोगों को दर्शाये। रेखाचित्र की सहायता से इसे चित्र न० 4 में दिखाया गया है

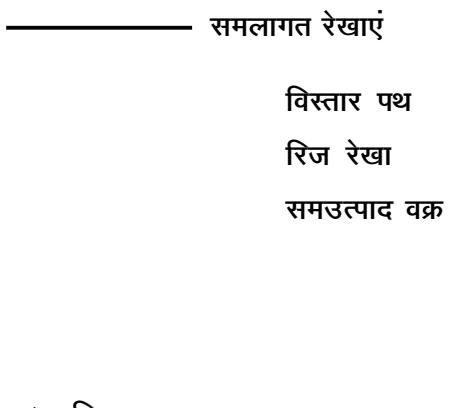

चित्र 4 – विस्तार पथ

अगर आगतों की कीमत स्थिर रहे तो ऊँचे वितिय बजट के लिए सम लागत रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर होगीः ये समलागत रेखाएँ सम उत्पाद वक्रों को स्पर्श करेगी तथा जब इन विभिन्न स्पर्शीय बिन्दुओं को लापस में मिलाया जाता है तो इसे विस्तार पथ कहा जाता है।

जब एक उत्पादक के पास पर्याप्त मात्रा में वित्तीय साधन उपलब्ध हो जाते हैं तो उसे अपने व्यवसाय का विस्तार, विस्तार पथ द्वारा प्रदान की गई दिशाओं के अनुसार करना चाहिए। जब X_1 तथा X_2 की कीमतें बदल जाती हैं तो समलागत रेखा की ढलान बदल जाएगी तथा अब स्पर्शीय बिन्दु भी भिन्न ही होंगे। ये अब स्पर्शीय बिन्दु ही न्यूनतम लागत संयोग वाले बिन्दु ही होंगे। वह रेखा या वक्र, जो सभी उत्पादन के स्तरों के लागतों के न्यूनतम लागत वाले संयागों को मिलाती है उन्हें ही सम रेखा कहते हैं।

विभिन्न कीमतों के स्तर पर कितनी ही समलागत रेखाएँ हो सकती है। रिज रेखाएँ हर लागत

के अधिकतम उत्पादन के उन बिन्दुओं को दर्शाती हैं जब दूसरे लागत की मात्रा स्थिर होती है। चित्र 4 में बिन्दुओं से चिहिन्त रेखाएं ही रिज रेखाएं हैं। फर्म मैनेजर योजनाकाल अवधि के सबसे उपयुक्त केवल एक लागतों के कीमतों के समूह को ही ध्यान में रखता है तो वह ..... जो कीमतों के इस समूह पर निर्भर करती है उसे ही **''विस्तार पथ''** कहते हैं।

उत्पाद-उत्पाद सम्बन्ध
(Product-Product Relationship)

पिछले अध्याय में हमने साधन-साधन सम्बन्ध का अध्ययन किया था। परन्तु, इसके साथ-साथ उत्पाद-उत्पाद सम्बन्ध का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि किसान इस समस्या का सामना करते हैं कि विभिन्न उद्यमियों का किस प्रकार का संयोग होना चाहिए?

राष्ट्रीय स्तर पर कितने खाद्यान्न का उत्पादन करना चाहिए तथा कितनी कपास की मात्रा का उत्पादन करना चाहिए? ऐसी समस्याओं का समाधान उत्पाद-उत्पाद विश्लेषण की सहायता से किया जाना चाहिए। सरलता के द ष्टिकोण से, हम दो उत्पादों Y_1 तथा Y_2 पर ही विचार-विमर्श करेंगे, जिनका उत्पादन एक लागत X की सहायता से किया जा सकता है किसी भी समय में दो उद्यमियों में कोई भी निम्नलिखित सम्बन्ध हो सकता है।

1. संयुक्त उद्यमी (Joint Enterprise)
2. पूरक उद्यमी (Complementary Enterprise)
3. परिशिष्ट उद्यमी (Supplementary Enterprise)
4. प्रतियोगी उद्यमी (Competitive Enterprise)

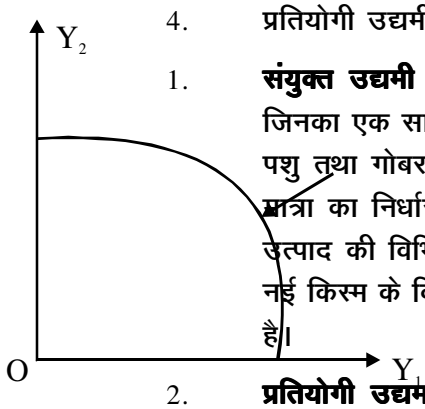

1. **संयुक्त उद्यमी (Joint Enterprise):** संयुक्त उद्यमी या संयुक्त उत्पाद वो होते हें जिनका एक साथ उत्पादन किया जाता है i.e., कपास और बिनौला, गेहूं तथा भूसा, पशु तथा गोबर, भेड़ का मांस और ऊन। एक उत्पाद की मांत्रा, दूसरे उत्पाद की मात्रा का निर्धारण करती है। दोनों ही उत्पादों को एक ही उत्पाद माना जाता है। उत्पाद की विभिन्न किस्मों का विकास अनुसंधान के साथ किया जा सकता है तथा नई किस्म के विकास होने के बाद, दोनों संयुक्त उत्पाद का अनुपात समान हो जाता है।

2. **प्रतियोगी उद्यम (Competitive Enterprise):** जब साधनों के लिए विभिन्न उद्यमों में प्रतियोगिता होती है फलस्वरूप इन उद्यमों को प्रतियोगी उद्यमी कहा जाता है। इसी परिस्थिति में अधिकतम लाभ तभी होगा जब कीमत अनुपात और प्रतिस्थापन्न अनुपात एक दूसरे के समान होते हैं।

अतः दो या अधिक उद्यमों का आपस में मिलना इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें आपस में किस तरह का सम्बन्ध है? अगर उनमें पूरक या परिशिष्ट सम्बन्ध होता है तो उद्यम का तब तक विस्तार करते रहना चाहिए जब तक आपस में प्रतियोगी न बन जाएँ। प्रतियोगी उद्यम में निर्णय इस प्रकार से लेना चाहिए कि कीमत अनुपात तथा प्रतिस्थापन अनुपात एक दूसरे के बराबर हो।

प्रतियोगी क्षेत्र

चित्र

3. **परिशिष्ट उद्यम (Supplementary Enterprise):** दो उद्यम, परिशिष्ट उद्यम तब होते हैं जब एक उद्यम के उत्पादन का स्तर, दूसरे उद्यम के उत्पादन के स्तर को प्रभावित नहीं करता, परन्तु फर्म की कुल आय में व द्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए मुर्गी उद्यम तथा फसल उत्पादन।

परिशिष्ट उद्यम विकसित अवस्था में भी प्रतियोगी हो जाता है तथा तब प्रतियोगी उद्यमी की तरह निर्णय लिया जाना चाहिए। परिशिष्ट उद्यम का तब तक विकास किया जाना चाहिए जब तक साधन उपलब्ध होते रहें।

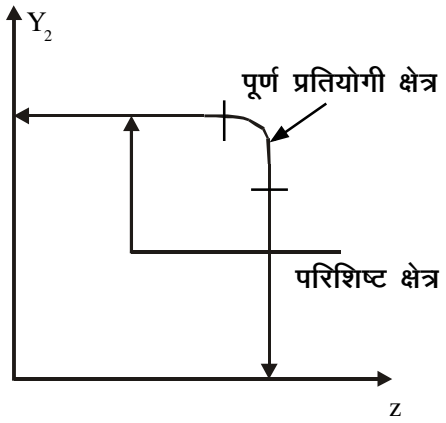

4. **पूरक उद्यम (Complementary Enterprise):**

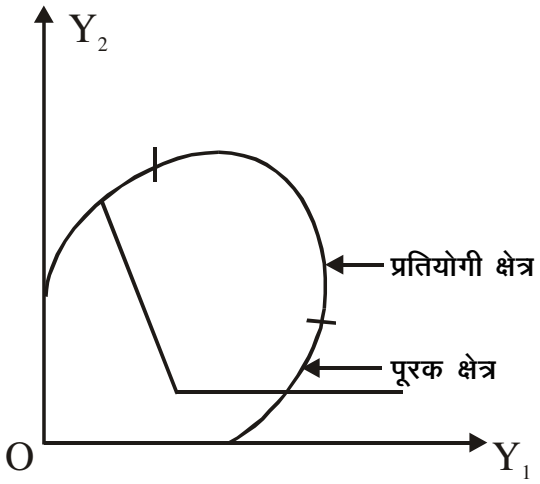

इस उद्यम में दो उद्यम एक दूसरे के विकास में सहायता करते हैं। एक उद्यम का विस्तार दूसरे उद्यम की सहायता करता है। इस उद्यम को पूरक उद्यम कहा जाता है डेयरी उद्यम तथा फसल उत्पादन एक-दूसरे के पूरक होते हैं। डेयरी उद्यम का व्यर्थ पदार्थ कमपोस्ट फसल उत्पादन के लिए लाभदायक है तथा फसल उत्पादन में जो चारा होता है वह डेयरी के लिए बहुत ही लाभदायक होता है। अतः दोनों ही उद्यमी एक-दूसरे के लिए लाभदायक है। प्रारम्भ में वो एक-दूसरे के पूरक हैं, परन्तु बाद में वो प्रतियोगी बन जाते हैं। जब वो पूरक होते हैं, उत्पादकों को कीमतों के बारे में चिन्ता करने की जरूरत नहीं होती तथा उन्हें उनका उत्पादन करते रहना

चाहिए। परन्तु जब वो प्रतियोगी बन जाते हैं तो उनसे सम्बन्धित निर्णय भी प्रतियोगी उद्यमी की तरह ही लिए जाने चाहिए।

उत्पादन सम्भावना वक्र

दिए हुए लागत से दोनों उत्पादों की कितनी मात्रा का उत्पादन करना चाहिए, इसका सूचक उत्पादन सम्भावना वक्र होती है। उत्पादन सम्भावना वक्र को सम-साधन वक्र भी कहा जाता है। Y_1 तथा Y_2 के विभिन्न संयोगों की मात्रा का उत्पादन करने के लिए जितने समान साधनों की मात्रा चाहिए, इसका निर्धारण इसी वक्र द्वारा किया जाता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र का रेखा चित्र

उत्पादन सम्भावना वक्र को, उत्पादन फलन से बनाया जा सकता है। इसकी निम्नलिखित उदाहरण की सहायता से व्याख्या की जा सकती है। खेतीहर के पास छः हेक्टेयर जमीन है तथा वह दो फसलों बाजरा (Y_1) तथा मक्का (Y_2) को उगाना चाहता है। अतः बाजरा के अन्तर्गत जो क्षेत्र होगा, वह मक्का के अन्तर्गत क्षेत्र पर निर्भर करेगा $Y_1 = f(Y_2)$ फसलों की पैदावार निम्नलिखित है।

तालिका 1: दो फसलों की पैदावार

आगत हैक्टेयर	Y_1 उत्पाद बाजरे की मात्रा (क्विंटल में)	Y_2 उत्पाद मक्के की मात्रा (क्विंटल में)
0	–	–
1	6	8
2	12	16
3	16.5	24
4	21	32
5	24	40
6	25	48

अब छः हेक्टेयर जमीन को खेतीहर दोनों फसलों में किस प्रकार बाँटे, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है? अगर खेतिहर 6 हैक्टेयर जमीन पर बाजरे को उगाता है, तो मक्के की फसल की खेती नहीं कर सकता। अगर वह 1 हैक्टेयर खेती में मक्का उगाता है तो उसे मक्के के आठ क्विंटल प्राप्त होते हैं। तथा उसके पास बाजरा उगाने के लिए सिर्फ 5 हेक्टेयर जमीन ही बचेगी तथा 24 क्विंटल बाजरा का उत्पादन होगा।

दो विभिन्न फसलों के अन्तर्गत जमीन वितरण के फलस्वरूप बाजरे तथा मक्की की विभिन्न मात्राएं तालिका 2 में दर्शायी गई है:

तालिका 2: फसलों की पैदावार

क्षेत्र (हेक्टेयर में) (मक्का)	मक्का (क्विंटल में)	क्षेत्र (हेक्टेयर में) (बाजरा)	बाजरा (क्विंटल में)
6	48	0	0
5	40	1	6
4	32	2	12
3	24	3	16.5
2	16	4	21
1	8	5	24
0	0	6	25

अगर तालिका के कालम दो तथा चार की संख्या को रेखाचित्र पर खींचे तो हमें एक वक्र प्राप्त होगी, जिसे हम उत्पादन सम्भावना वक्र कहते हैं। रेखाचित्र की सहायता से इसे चित्र 4 में दिखाया गया है।

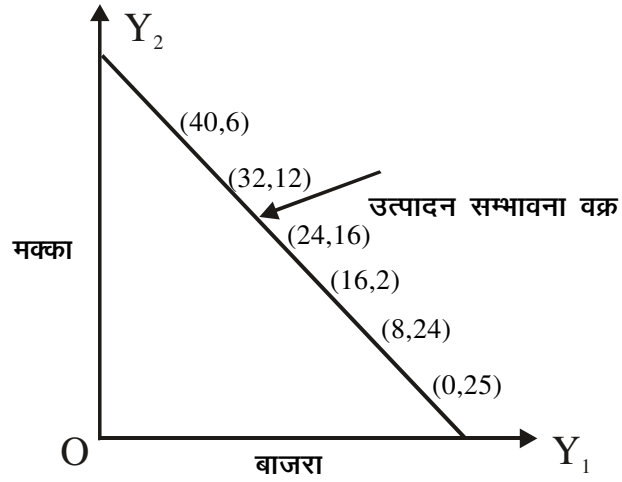

सम उत्पादन वक्रों की तरह, लागतों के विभिन्न स्तरों पर और अधिक उत्पादन सम्भावना वक्रों को दिखाया जा सकता है जैसा कि निम्नलिखित चित्र नं० 5 में दिखाया गया है।

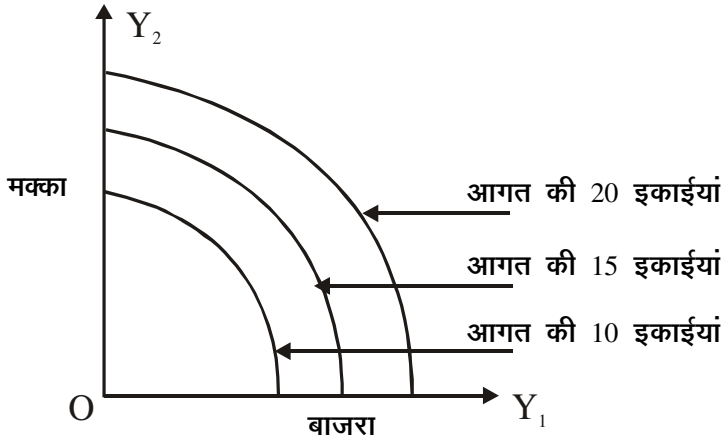

चित्र 5: विभिन्न लागतों के स्तर पर उत्पादन सम्भावना वक्र

सम आय रेखा या कीमत रेखा
(ISO Income or Price Line)

वह रेखा है जो दो वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों को दर्शाती है जिनसे समान आय प्राप्त होती है। इसकी निम्नलिखित उदाहरण की सहायता से व्याख्या की जा सकती है। मान लीजिए बाजरे की कीमत 100 रुपये प्रति क्विंटल तथा मक्के की कीमत 50 रुपये प्रति क्विंटल है। तो 1000 रुपये की आय को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब बाजरे के 10 क्विंटल मक्के के 20 क्विंटल का उत्पादन करे।

रेखाचित्र की सहायता से इसे चित्र 6 में दिखाया गया है।

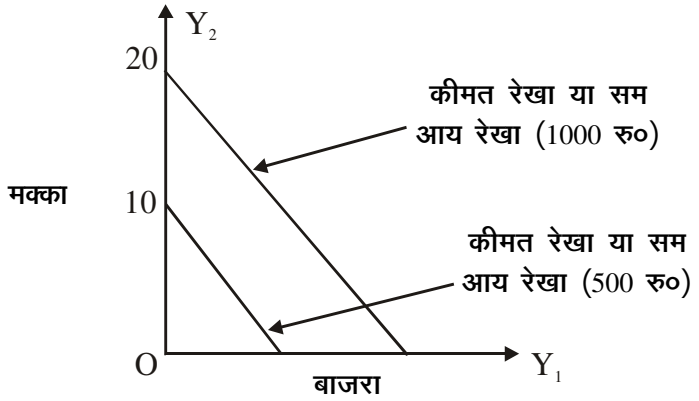

चित्र 6: कीमत रेखा

5000 रुपये की आय प्राप्त करने के लिए बाजरे के 5 क्विंटल या मक्के के 10 क्विंटल का उत्पादन आवश्यक करना चाहिए। अतः आय के विभिन्न स्तरों के लिए तथा उत्पादन की कीमत स्थिर रहने पर, सम आय रेखाएँ भी विभिन्न ही होंगी।

आय का अधिकतम होना
(Revenue Maximization)

अधिकतम आय को प्राप्त करने के लिए दोनों फसलों के बीच जमीन का बँटवारा वहाँ पर होना चाहिए जहाँ कीमत अनुपात $\left(\frac{Py_1}{Py_2}\right)$; प्रतिस्थापन्न अनुपात $\left(\frac{\Delta y_1}{\Delta y_2}\right)$ के समान होगा।

यह तालिका नं० 3 से और भी स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 3: अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए Y_1 तथा Y_2 के अन्तर्गत क्षेत्र

Y_2 Q	Y_1 Q	Y_2	ΔY	$\Delta Y_2 \Delta / Y_1$ 50 रु० प्रति क्विंटल	मक्के से प्रतिफल 100 रु० प्रति क्विंटल	बाजरे से प्रतिफल	कुल प्रतिफल
48	0	–	–	–	2400	0	2400
40	6	8	6	1.33	2000	600	2000
32	12	8	4	1.33	1600	1200	2800
24	16.5	8	4.5	1.8	1200	1650	2850
16	21	8	4	2.0	800	2100	2900
8	24	8	3	2.67	400	2400	2800
0	25	8	1	8.0	000	2500	2500

तालिका 3 से स्पष्ट है अगर खेतिहर मक्के के 16 क्विंटल तथा बाजरे के 21 क्विंटल का उत्पादन करता है तो उसे अधिकतम आय की प्राप्ति होगी।

अगर मक्के के 16 क्विंटल तथा बाजरे के 21 क्विंटल का उत्पादन करना है तो उसे मक्के की फसल के अन्तर्गत 2 हेक्टेयर जमीन तथा बाजरे की फसल के लिए 4 हैक्टेयर जमीन पर खेती करनी होगी अतः दो उत्पादों/उद्यमों के बीच आगत के वितरण की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

रेखाचित्र की सहायता से इस चित्र 7 में दर्शाया गया है।

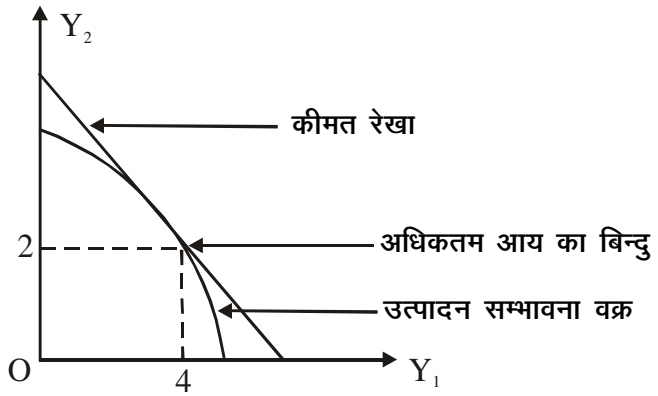

चित्र 7: अधिकतम आय का बिन्दु

विस्तार पथ
(Expansion Path)

अगर Y_1 तथा Y_2 उत्पादों की कीमतों को स्थिर मान लिया जाए तो कीमत रेखा की ढलान स्थिर होगी तथा खेतिहर को अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए AB रेखा के साथ चलना चाहिए जिसे **विस्तार पथ** कहा जाता है, अतः विस्तार पथ उन सभी बिन्दुओं के बिन्दु पथ को बतलाता है जो उत्पादन के विभिन्न स्तरों के अनुसार साधनों के न्यूनतम लागत संयोग को दर्शाता है।

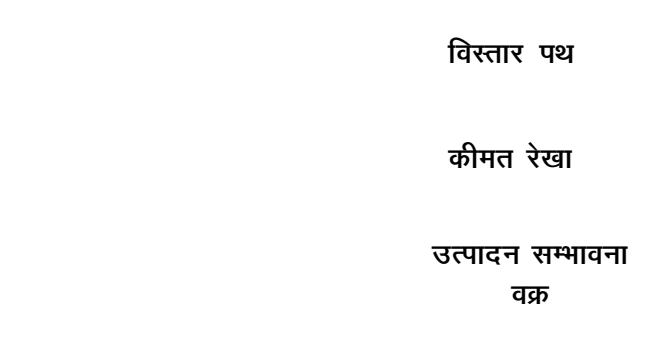

चित्र 8: विस्तार पथ

अध्याय-6
कृषि फार्म का संतुलन
(Equilibrium of an Agricultural Farm)

संतुलन की परिभाषा

समय की किसी अवधि में परिवर्तन के अभाव (absence of change) को अथवा विश्राम की स्थिति को संतुलन कहते हैं। यदि माँग की दशा या पूर्ति की दशा अथवा दोनों में परिवर्तन हो जाता है, तो बाजार पुराने संतुलन से नए संतुलन पर आ जाता है। माँग और पूर्ति की प्रत्येक क्षण की दशाओं के बीच सदा संतुलन स्थापित करने का काम बाजार का होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता में पूँजी वादी फर्म का संतुलन
(Equilibrium of a Capitalist Form in Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की मान्यताएँ

1. **फर्मों की पर्याप्त संख्या** - कृषक असंख्य होते हैं इसलिए कोई एक कृषक उत्पादन की मात्रा व फसल की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता।
2. **समरूप (homogeneous) उत्पाद** - सभी कृषकों द्वारा उत्पादित जिंस समरूप होती हैं इसलिए उनका मूल्य भी एक जैसा ही होता है।
3. **निर्बाध प्रवेश (free entry) व निर्बाध विकास (free exit)** - कृषि क्षेत्र में प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाले हर व्यक्ति को प्रवेश या निकास की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इससे उत्पादकों के बीच निर्बाध प्रतियागिता (free competition) होने लगती है।
4. सभी खरीद्दारों और विक्रेताओं को बाजार की परिस्थितियों के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए।
5. विभिन्न फसलों में उत्पादन के साधनों की पूर्ण गतिशीलता होनी चाहिए।
6. सभी उत्पादकों को इस संबंध में एक-दूसरे के साथ अपर्याप्त सहयोग और प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि परिवहन पर कोई लागत न आए।

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में संतुलन की शर्तें

किसी पूर्ण प्रतियोगितायुक्त उद्योग में संतुलन स्थापित करने के लिए निम्नलिखित दो अवस्थाएँ होती हैं-

1. प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म को संतुलन की स्थिति में होना चाहिए यह तभी हो सकता है जबकि उद्योग की प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ अर्जित कर रही हो, सीमांत आय और सीमांत लागत के बराबर होने पर अधिकतम लाभ की प्राप्ति होती है।

2. समग्र उद्योग को संतुलनावस्था में होना चाहिए। संतुलनावस्था उस समय होती है, जबकि फर्मों की न तो उद्योग में प्रवेश करने और न उसे छोड़ने की प्रव त्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न फर्मों के सभी उद्यमकर्ताओं की आय इतनी अधिक होनी चाहिए कि जो उन्हें उद्योग में रोकने के लिए पर्याप्त हो अर्थात् वे सामान्य लाभ (normal profit) का अर्जन कर रहे हों।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का संतुलन

चित्र 6.1 में गेहूँ के उत्पादन करनेवाले फर्मों की लागत और आय के वक्र दिखाए गए हैं। कीमत OP और मात्रा OQ पर फर्म का संतुलन हो जाता है। यह देखने में आता है कि औसत लागत, औसत आय या कीमत के बराबर हो जाती है और फर्म को सभी लागतों के सहित सामान्य लाभ प्राप्त होता है। यदि कीमत और सामान्य आय P_1Q_1 होती है तो फर्म को घाटा होता है। यदि औसत आय अथवा कीमत P_1P_2 है, तो औसत लागत और औसत आय X और Y पर बराबर होती है।

फर्म की औसत लागत X पर घट रही है अतः फर्म उत्पादन को Y बिंदु तब बढ़ाएगा। इस प्रकार फर्म असामान्य लाभ अर्जित करती है, और इसलिए वह संतुलन में नहीं होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में AR वक्र OX अक्ष के समानान्तर होता है तथा MR वक्र के समान होता है। सामान्य लाभ की संतुलन अवस्था में, AR=AC होता है। ऐसी अवस्था में फर्म OQ मात्रा में उत्पादन करती है तथा OP कीमत पर उसे बेचती है।

P_2R_2 कीमत पर फर्म असामान्य लाभों को अर्जित कर रही है, जो P_2 QST आयत के क्षेत्र के बराबर है। एकमात्र वह स्थिति, जहाँ पर फर्म संतुलनावस्था में हो सकती है और सामान्य लाभ मात्र अर्जित कर सकती है, तब उत्पन्न होती है, जबकि वह OQ उत्पादन को OP कीमत पर उत्पन्न करती है। यहां पर सीमांत आय, सीमांत लागत के बराबर होती है।

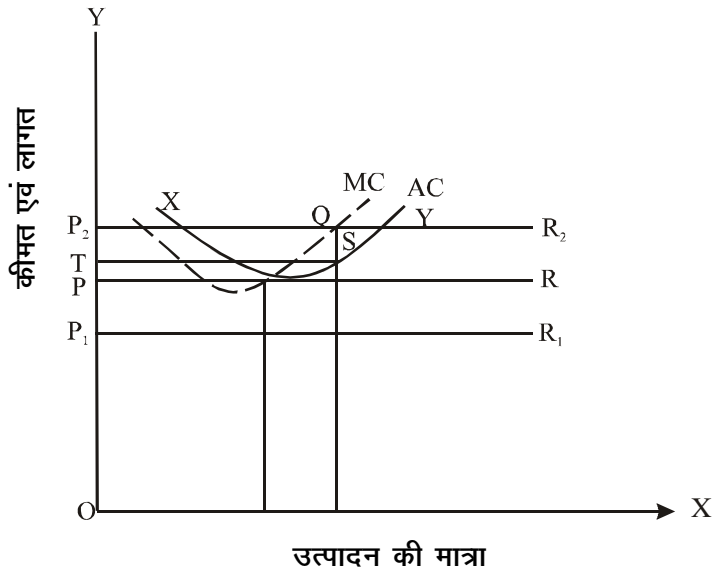

चित्र 6.1 : पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का संतुलन

अल्पकाल में उद्योग और फर्म का संतुलन

चित्र 6.2 में यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्येक फर्म कीमत P और P_1 पर क्रमशः सामान्य अधिलाभ (Super normal profit) का अर्जन करती है। कीमत P पर फर्म को PNR P_1 आयत के

बराबर अतिलाभ प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में एक फर्म तो संतुलन में है परन्तु उद्योग असंतुलन में क्योंकि फर्में आसामान्य लाभ कमा रही हैं।

कीमत

उत्पादन की मात्रा

चित्र 6.2 : अल्पकाल में फर्म का संतुलन

एक अकेली फर्म का संतुलन बिन्दु वहाँ होगा जहाँ MC वक्र, MR वक्र को नीचे से काटती है।

कीमत P_2 पर औसत आय रेखा P_2N_2 औसत लागत वक्र AC को स्पर्श करती है। यह स्थिति उद्योग में पूर्ण संतुलन की द्योतक है। कोई फर्म भी सामान्य अधिलाभ को अर्जित नहीं कर रही है। यदि कीमत OP_2 होगी, तो उद्योग से संबंधित सभी फर्में संतुलन में होंगी, और वे OQ_1 का उत्पादन कर रही होंगी।

अल्पकाल में उद्योग और फर्म के संतुलन की निम्नलिखित तीन विभिन्न स्थितियाँ हो सकती हैं:

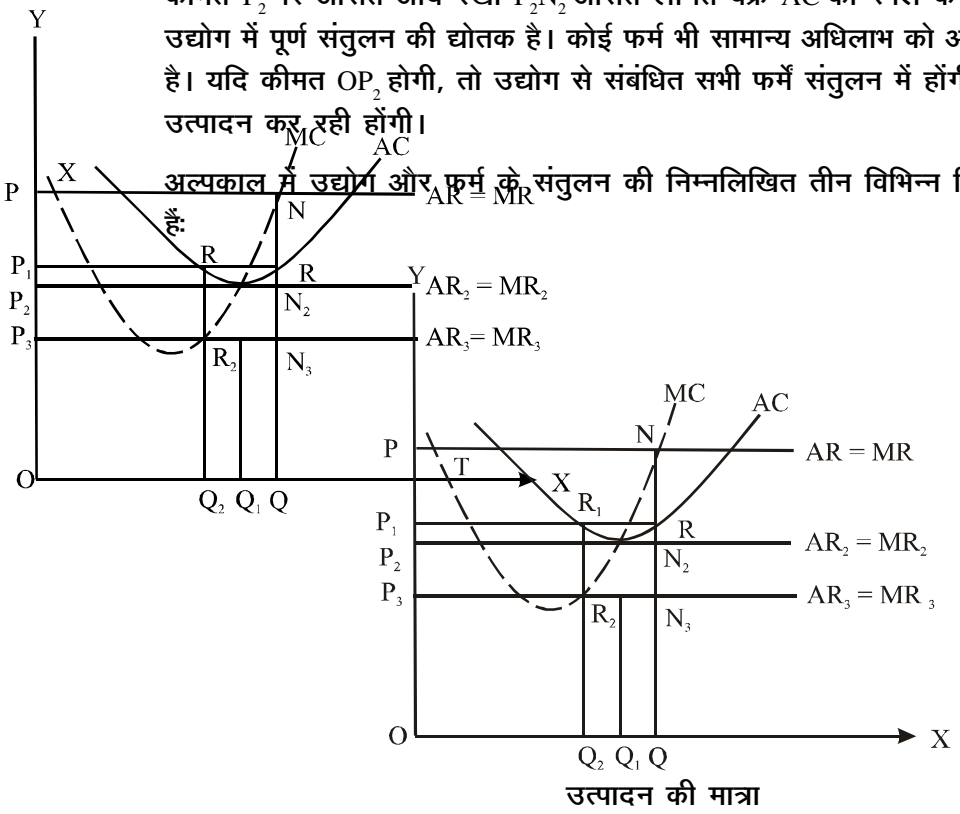

उत्पादन की मात्रा

चित्र 6.3 : अल्पकाल में उद्योग का संतुलन

1. जब उत्पादन के सभी कारक समरूप होते हैं, जिसका यह अर्थ होगा कि सभी फर्मों के लागत वक्र एक से होंगे।

2. सभी उद्योगकर्ता विषमरूप (heterogenous) होते हैं तथा अन्य सभी कारक समरूप होते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि लागतें उद्योगकर्ता की कुशलता के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगी।

3. जब सभी कारक विषमरूप होते हैं तो लागतें उद्योगकर्ता की कुशलता के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगी। अंतर केवल इतना होगा कि लागतों में अंतर अपेक्षाकृत अधिक होगा।

इन स्थितियों का विस्त त विवेचन आगे किया जा रहा है -

(क) **उत्पादन के सभी कारकों के समरूप होने पर** - जब उत्पादन के सभी कारक समरूप होते हैं तब घाटे में चलनेवाली किसी फर्म के लिए दीर्घावधि में चलाना असंभव है। परन्तु अल्पकाल में अगर फर्म को परिवर्तनशील लागतें भी मिलती रहती हैं तो वह कार्य करती हैं।

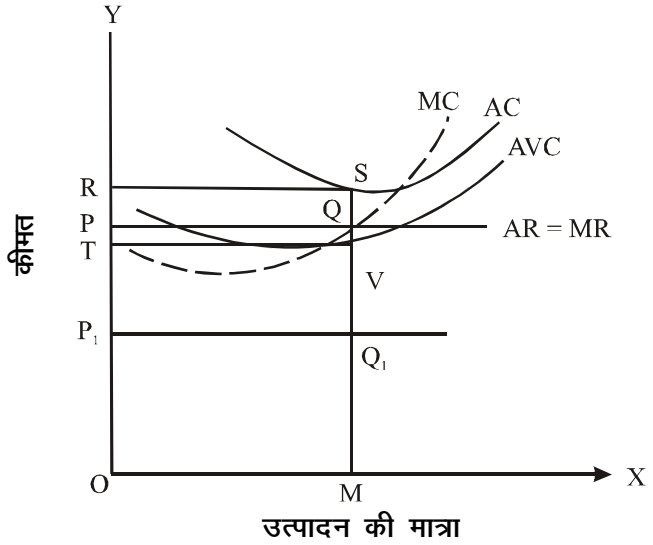

चित्र 6.4 : उत्पादन के सभी कारकों के समरूप होने पर अल्पकाल में उद्योगों और फर्म का संतुलन

चित्र 6.4 में यह दिखाया गया है कि कीमत औसत परिवर्ती लागत वक्र MV से QV अधिक है। PQVT आयत के बराबर आय नियत लागतों की पूर्ति के लिए उपलब्ध हो जाती है। फर्म PRSQ आयत के बराबर रुपए की हानि उठा रही है। यह उस हानि से कम है, जो उसे उस समय होती है जबकि उसने उत्पादन करना पूर्णतया बंद कर दिया होता। उस स्थिति में उसे RSVT रुपए की हानि होती। परन्तु यदि कीमत OM उत्पादन पर OP_1 तक घट जाए, तो व्यापार को पूर्णतया बंद करने से इंकार करने के कारण आयत P_1Q_1VT के बराबर हानि होगी। यह बहुत कम संभव है कि उद्योग अल्पकाल में पूर्ण संतुलनावस्था में आ सकेगा। यह ज्यादा संभव है कि उद्योग में लगी फर्मों की संख्या में परिवर्तन और पूर्ण संतुलन की स्थापना होने के पहले, एक दीर्घकालीन समायोजन (adjustment) हो सके यह चित्र 6.5 में दिखाया गया है।

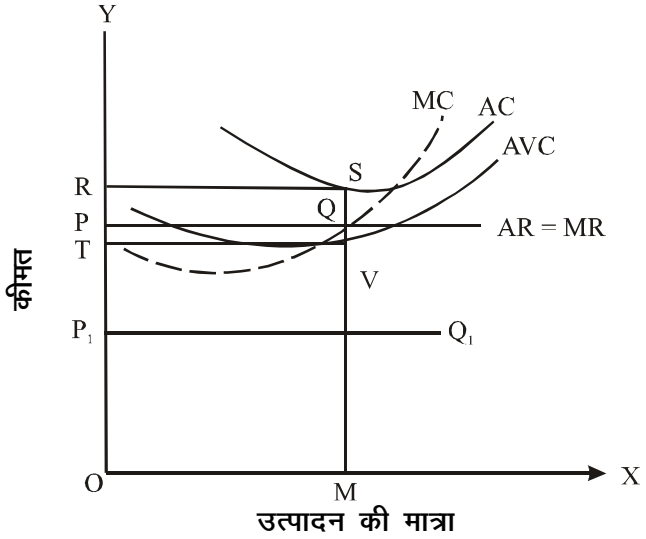

चित्र 6.5 : उत्पादन के सभी कारकों के समरूप होने पर अल्पकाल में उद्योग और फर्म का संतुलन

(ख) **उद्योगकर्ता के विषमरूप और अन्य सभी कारकों के समरूप होने पर** - यदि उद्योगकर्ता विषमरूप और अन्य कारक समरूप होते हैं तो फर्मों की लागतें विभिन्न हो सकती हैं, सभी कारकों की कीमतें सभी फार्मों के लिए वही होती है और उद्योगकर्ताओं के अलावा सभी कारक समरूप होते हैं।

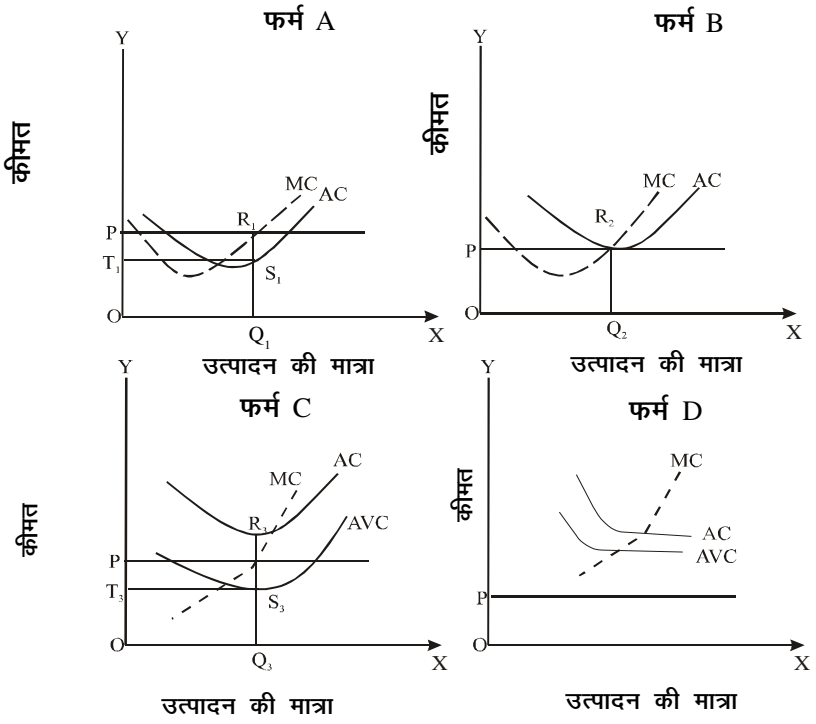

चित्र 6.6 : उद्योगकर्ता के विषमरूप और अन्य कारकों के समरूप होने पर अल्पकाल में फर्मों एवं उद्योग का संतुलन

चित्र 6.6 में फर्म A का उद्योगकर्ता सबसे अधिक निपुण है। यह फर्म सामान्य अधिलाभ को प्राप्त कर रही है। फर्म B उत्पादन कर रही है और केवल सामान्य लाभों को ही कमा रही है। फर्म C हानि उठा रही है, क्योंकि वह परिवर्ती लागतों को ही पूरा कर रही है। वह अल्पकाल में OQ_2 का उत्पादन करती है, और केवल परिवर्ती लागतों को ही सम्मिलित करके अपनी हानियों को कम-से-कम करने का प्रयास करती है। फर्म D परिवर्ती लागतों को पूरा नहीं कर पाती। उसके लिए यही अच्छा है कि उत्पादन बंद कर दे।

(ग) **सभी कारकों के विषमरूप होने पर:** यदि सभी कारक विषमरूप होते हैं, तो स्थिति उपर्युक्त दशाओं के समान होगी। विभिन्न फर्मों की लागतों के बीच अंतरों का अधिक होना स्वाभाविक है। कारक जितने अधिक कार्यक्षम होंगे लाभ भी उतना ही अधिक होगा। सामान्य निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक फर्म अल्पकाल में एक संतुलनावस्था पर पहुंचने में सफल होगी, जो उसके लिए अधिकतम लाभ की स्थिति होगी। परंतु यह विचार कि अल्पकाल में सम्पूर्ण उद्योग को संतुलनावस्था में रहना चाहिए, उपयुक्त नहीं है। अधिकाँश फर्में अल्पकाल में या तो सामान्य अधिलाभ या अपसामान्य (Sub-normal) लाभों को अर्जित करेगी। केवल दीर्घकाल में ही समग्र उद्योग में फर्मों की संख्या में व द्धि अथवा कमी होने के कारण संतुलनावस्था के स्थापित होने की संभावना होती है।

सामान्य लाभ (Normal Profit)

यदि किसी फर्म को उद्योग में रहना है, तो उसका इस संबंध में यह निर्णय केवल इतने पर ही निर्भर नहीं करेगा कि क्या वह औसत कुल लागत (average total cost) प्राप्त कर रही है, परंतु इस बात पर निर्भर होगा कि उसे कम-से-कम सामान्य लाभ ही मिल रहे हों। इस प्रकार, सामान्य लाभ औसत लागतों में सम्मिलित होते हैं।

फर्म और उद्योग का दीर्घकालीन संतुलन

इसका विवेचन करने के लिए हमें अल्पकाल में फर्म व उद्योग के संतुलन की तीन विभिन्न स्थितियों पर पुनः विचार करना होगा। दीर्घकाल में फर्में उद्योग में तभी प्रवेश करती हैं जबकि उद्योग के बाहर की फर्में यह सोचने लगती हैं कि उद्योग में प्रवेश करने से उन्हें सामान्य लाभ मिल सकेगा।

(क) **उत्पादन के सभी कारकों के समरूप होने पर** - प्रत्येक फर्म अपने उत्पादन को इस प्रकार समायोजित करती है कि उसकी सीमाँत आय और सीमाँत लागत समान हो जाए। प्रत्येक फर्म चित्र 6.7B में प्रदर्शित स्थिति में होगी, जिसमें औसत लागत (AC) और औसत आय (AR) परस्पर और कीमत में बराबर है। वह पूर्ण संतुलन की स्थिति है। सभी फर्में इस स्थिति पर पहुँच जाएँगी क्योंकि सभी वक्र समरूप हैं, चूँकि उद्योग में प्रवेश के लिए कोई बाधा नहीं होती है, और पूर्ण गतिशील फर्में उद्योग में तब तक प्रवेश करती है, जब तक कि सभी फर्में सामान्य लाभों का अर्जन करती हैं। जो फर्म सामान्य लाभों का अर्जन नहीं करतीं वे उद्योग से निकल जाती हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता में, सभी फर्मों के कारकों के समरूप होने पर प्रत्येक फर्म और समग्र उद्योग उस समय पूर्ण संतुलन में होगा जबकि MR = MC = AC = AR (कीमत)। पूर्ण संतुलन में प्रत्येक फर्म इष्टतम उत्पादन कर रही होती है जिसमें कि औसत कीमत

न्यूनतम होती है। यह केवल तभी संभव है, जबकि सभी कारक समरूप होते हैं।

(ख) **उद्योगकर्ता के विषमरूप, अन्य सभी कारकों के समरूप होने पर** - इस स्थिति में लागतों में भिन्नता होती है। फर्म A व B के लागत वक्रों को देखिए (चित्र 6.7)। A कुशल उद्योगकर्ता है और उसकी लागत B फर्म से कम है। परन्तु फर्म B उद्योग में रहने और सामान्य लाभों को अर्जित करने भर के लिए कुशल है, इसे एक सीमाँत फर्म (Margin firm) कहा जा सकता है। यह लाभदायकता (profitability) की सीमा पर है। कीमत में हुई हर गिरावट उसे अंत में उद्योग से निष्कासित कर सकती है, क्योकि फर्म A का उद्यमकर्ता अधिक कुशल है और वह दीर्घकाल में अधिलाभ PRST अर्जित कर रही है, अतः उसे आंतर सीमांत फर्म (intramarginal firm) कह सकते हैं। उसे दीर्घकाल में सामान्य लाभ अर्जित करने के लिए इस प्रकार बाध्य किया जा सकता है कि उस उद्योग में ऐसे अत्यधिक कुशल उत्पादकों का प्रवेश हो जो A के साथ B की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रतियोगिता कर सकते हों।

(ग) **सभी कारकों के विषम रूप होने पर** - सर्वाधिक क्षमतापूर्ण कारकों से युक्त फर्म सामान्य अधिलाभों को अर्जित कर सकेगी, जबकि सीमाँत फर्म केवल सामान्य लाभों को ही अर्जित कर रही है।

संपूर्ण विश्लेषण इस धारणा पर आधारित हैं कि सामान्य लाभ सभी उद्योगकर्ताओं के लिए समान होते हैं, परंतु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। इस चित्र 6.7 में दिखाया गया है।

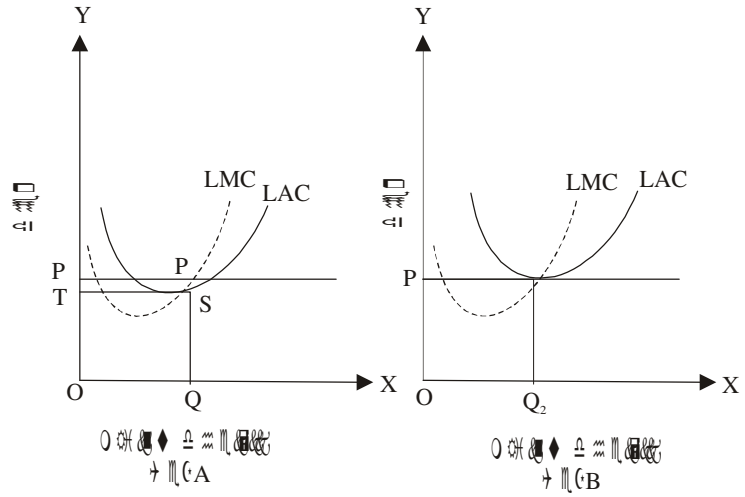

चित्र 6.7 : दीर्घकाल में फर्म एवं उद्योग का संतुलन

कृषि जिलों में बाजार के प्रकार

कृषि के अधिकाँश जिंसों के लेन-देन में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है लेकिन कुछ जिंसों का लेन-देन अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा इससे निर्धारित होती है कि उद्योग में कितनी फर्में हैं और उनका आकार कितना बड़ा है। एकाधिकार (monoply) अपूर्ण प्रतियोगिता की एक चरम अवस्था है। इसमें किसी विशेष उत्पादन का केवल एक ही विक्रेता होता है या किसी कच्चे माल का एक ही खरीददार होता है। एकाधिकार

(monopoly) और पूर्ण प्रतियोगिता के बीच बाजार के कई रूप होते हैं जैसे अल्पाधिकार (oligopoly), जिसमें थोड़े विक्रेता हों और अल्प विक्रेताधिकार (oligopsony) जिसमें थोड़े से क्रेता हो। यदि फर्मों की संख्या अधिक होती है तो इसे अल्पाधिकारी प्रतियोगिता कहते हैं।

कृषि जिंसों के विपणन में इस प्रकार के बाजार द ष्टिगोचर होते हैं, जैसे बीज बहुत किसान पैदा करते हैं लेकिन बीजों का विक्रय केवल थोड़ी-सी ही फर्में करती हैं। इसी प्रकार दूध का विक्रय बहुत किसान करते हैं इसलिए इसके विक्रय में पूर्ण प्रतियोगिता होती है, लेकिन खरीददार एक-दो बड़ी-बड़ी डेरियाँ ही होती हैं अतः दूध के क्रय में अल्पक्रेताधिकार (oligopsony) की स्थिति है। इसी प्रकार कृषि जिंसों का संसाधन (processing) उद्योगों, जैसे फलों या तरकारियों के संसाधन तथा अनाजों के संसाधन उद्योगों में अल्पाधिकारी प्रतियोगिता होती है।

यद्यपि कृषि जिंसों के विक्रय में एकाधिकार नहीं देखा जाता, लेकिन कृषि के कच्चे माल के क्रय या विक्रय में उत्पादकों के पारस्परिक समझौते से एकाधिकार की दशा हो जाती है जैसे किसानों की सहकारी समितियाँ, जो किसी स्थानीय तरकारी या फलों के संसाधन के लिए कच्चे माल का विक्रय करती हैं। ऐसा कोई भी जिंस या सेवा कार्य नहीं है जिसे किसी-न-किसी स्थानापन्न वस्तु से प्रतियोगिता न करनी पड़ती हो, इसलिए एकछत्र एकाधिकार व्यवहार में कम देखने को मिलता है। अतः एकाधिकार अपूर्ण प्रतियोगिता का एक चरम रूप है।

एकाधिकार के समक्ष दो प्रकार की समस्याएँ हैं - प्रथम कितना उत्पादन किया जाए, दूसरा किस मूल्य पर उत्पाद का विक्रय किया जाए। यद्यपि यह दोनों निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है, लेकिन बहुत अधिक कीमत होने पर उत्पाद बचा रह सकता है और बहुत कम कीमत होने पर उत्पाद कम हो सकता है। औसत आय वक्र कीमत और मात्रा के विभिन्न संयोग (combination) को दर्शाता है। एकाधिकारी या तो यह निर्णय करता है कि वह क्या कीमत रखे ताकि मात्रा का निर्णय स्वयं हो जाए या कितनी मात्रा बेचे जिससे कीमत का निर्णय हो जाए।

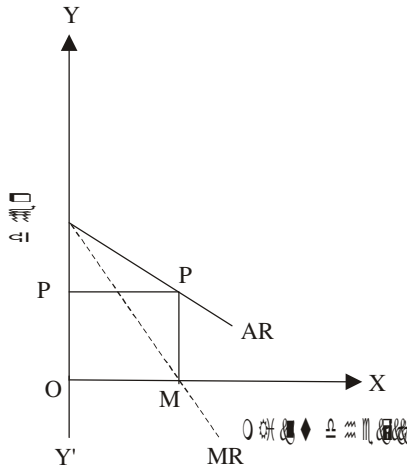

चित्र 6.8 : एकाधिकारी फर्म की सीमाँत आय

एकधिकारी फर्म की सीमाँत आय वक्र प्रारम्भ से अंत तक अधोमुखी होती है जैसा कि चित्र 6.8 में दिखाया गया है। यह एकाधिकार की चरम स्थिति प्रदर्शित करता है जिससे एकाधिकारी का लागत व्यय शून्य है, जैसे गंधक के जल का स्रोत। इस स्थिति में OM मात्रा का उत्पादन किया जाएगा। R बिन्दु पर औसत आय वक्र की लोच एक है, अतः OP कीमत पर विक्रय करने पर अधिकतम लाभ ही प्राप्ति होगी।

कोई भी एकाधिकारी अपने उत्पादन को किसी ऐसे स्तर तक नहीं रखेगा जहाँ उसके सीमाँत आय वक्र की लोच एक से कम हो। यदि एकाधिकारी इतना उत्पादन कर रहा है कि उसके उत्पाद के लिए माँग की लोच एक से कम है, तो उसे उत्पादन घटा देना चाहिए, जिससे वह अपेक्षाकृत अधिक लाभ का अर्जन कर सके।

एकाधिकार में संतुलन निर्धारण

एकाधिकार में भी पूर्ण प्रतियोगिता की तरह संतुलन की अवस्था में सीमाँत आय सीमाँत कीमत के बराबर (MR = MC) होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की सीमाँत लागत वक्र संतुलन निर्गत (equilibrium output) पर अथवा उसके समीप ऊपर की ओर उठता रहता है। परंतु अपूर्ण प्रतियोगिता में यह आवश्यक नहीं है। एकाधिकारी फर्म बढ़ती, घटती अथवा स्थिर सीमाँत लागतों के होते हुए भी संतुलन में कमी हो सकती है जैसा कि चित्र 6.9 A, B तथा C में दिखाया गया है।

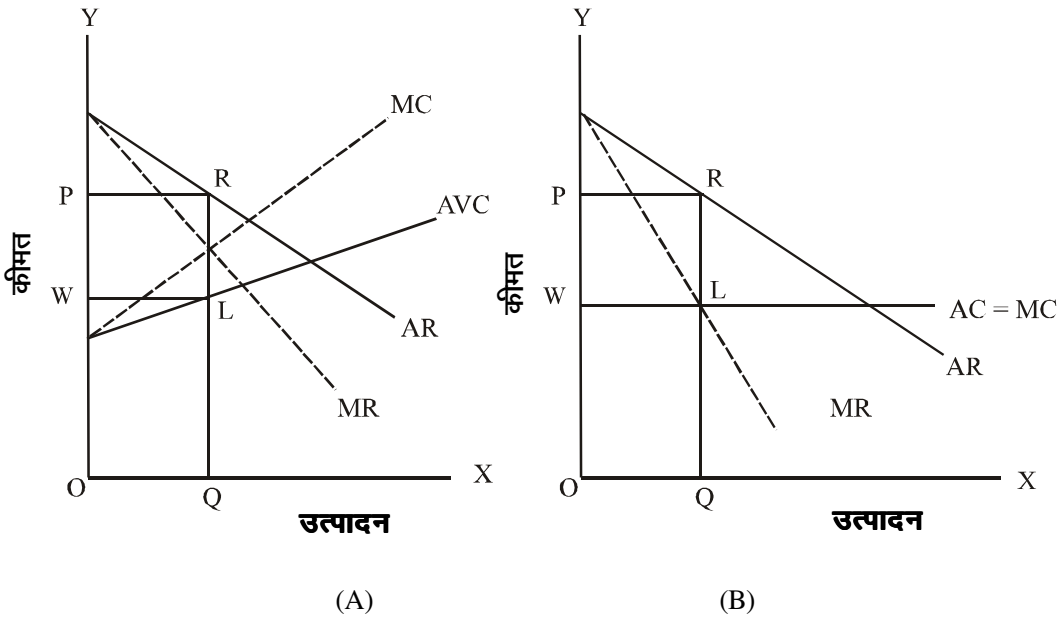

चित्र 6.9A : बढ़ती हुई सीमाँत लागत पर एकाधिकारी फर्म का संतुलन
(B) : स्थिर सीमाँत लागत पर एकाधिकारी फर्म का संतुलन

चित्र 6.9A में सीमाँत लागत बढ़ रही है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि एकाधिकारी संतुलन में होगा जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता में होता है। एकाधिकारी कीमत OP रखेगा और उत्पादन OQ करता है। एकाधिकारी लाभ PRLW है।

चित्र 6.9B में सीमाँत लागतें स्थिर और औसत लागतों के बराबर है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, यह दशा संतुलन के असंगत होती है, क्योंकि यदि कोई फर्म कुछ उत्पादन कर सकती है, तो पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादित मात्रा के लिए तब तक कोई सीमा नहीं हो सकती जब तक कि प्रतियोगिता अपूर्ण न हो जाए, परंतु एकाधिकारी संतुलन अवस्था प्राप्त कर लेता है। एकाधिकारी निर्गत OQ है, एकाधिकारी कीमत OP और एकाधिकारी लाभ PRLW है।

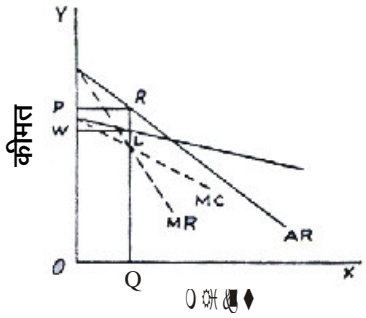

चित्र 6.9C : घटती हुई सीमाँत लागत पर एकाधिकारी फर्म का संतुलन

चित्र 6.9C में सीमाँत लागत गिर रही है और औसत लागत से कम है इस अवस्था में भी एकाधिकार संतुलन संभव है। एकाधिकारी निर्गत OQ है, एकाधिकारी कीमत OP और एकाधिकारी लाभ PRLW है। सीमाँत लागत वक्र सीमाँत आय वक्र को नीचे अथवा बाईं ओर से काटती है ऐसी स्थिति तब तक ही रहती है जब तक संतुलन बना रहता है।

यदि सीमाँत लागतें सीमाँत आय की अपेक्षा अधिक तेजी से घटती है तो संतुलन का होना असंभव हो जाता है।

द्वयाधिकार (duoploy) में संतुलन

किसी उद्योग में फर्मों की वह कम-से-कम संख्या - जिसके होने पर उद्योग पर उनका पूर्ण एकाधिकार नहीं बन जाता है - दो हैं। इसे द्वयाधिकारी (duopoly) कहते हैं। द्वयाधिकार के सिद्धाँतों को उस जगह भी लागू किया जा सकता है, जहाँ खरीददार दो होते हैं।

अल्पाधिकार के प्रकार

यह दो प्रकार का होता है (i) उत्पाद विभेदन रहित अल्पाधिकार (ii) उत्पाद विभेदनयुक्त द्वयाधिकार। इनकी विस्त त व्याख्या निम्नलिखित है-

उत्पाद विभेदन रहित अल्पाधिकार (oligopoly without product differentiation)

चूँकि उत्पादन विभेदन रहित द्वयाधिकार में, समरूप जिंसों के केवल दो उत्पादक होते हैं, इसलिए प्रथम उत्पादक के द्वारा कीमत तथा उत्पादन में किए गए परिवर्तनों का दूसरे पर निस्संदेह प्रभाव पड़ता है, फिर इस दूसरे उत्पादक की प्रतिक्रिया का प्रथम उत्पादक पर भी प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की श ंखला एकाधिकार अथवा पूर्ण प्रतियोगिता में नहीं पाई जाती है। द्वयाधिकार में दोनों फर्मों के वैयक्तिक उत्पादकों के आय और लागत वक्रों को उसके व्यक्तिगत कार्यों का परिणाम माना जाता है। इन वक्रों की सहायता से किसी उत्पादक के लाभ को अधिकतम सीमा तक पहुंचाने वाले (profit maximization) उत्पादन को बिना किसी कठिनाई के समझा जा सकता है।

दोनों ही फर्मों के लिए यह बुद्धिमत्तापूर्ण बात होगी कि वे उसी कीमत को निश्चित कर लें, जो उस समय ली गई होती, जबकि दोनों ही उत्पादों का उत्पादक एक ही एकाधिकारी होता है।

द्वयाधिकारियों को स्पष्टतः इससे कोई लाभ नहीं होगा कि वे अपनी कीमत को एकाधिकारी के द्वारा ली गई कीमत से भिन्न किसी कीमत पर निश्चित करें। द्वयाधिकारी के लिए यह सर्वाधिक हितकर होगा कि वह एक वास्तविक एकाधिकारी समझौता कर ले अथवा स्वतंत्र रूप से इस

प्रकार से व्यवहार करे जैसा कि वह अकेला होने पर करता।

यदि द्वयाधिकारी अपनी कीमत को इस एकाधिकारी स्तर से ऊँचा उठाएँगे, तो उन्हें आर्थिक हानि होगी। कीमत कम कर देने से भी, उन्हें लाभ नहीं होगा। यदि 'क' अपनी कीमत कम कर दे, तो 'ख' को भी वही करना पड़ेगा, अन्यथा वह सभी ग्राहकों को खो बैठेगा। इस प्रकार, बिना किसी उत्पाद विभेद के द्वयाधिकारी की समस्या का एक समाधान यह है कि यदि दोनों उत्पादक इस पूर्वधारणा के साथ कि बाजार दोनों में बराबर बँटा है, अधिकतम संभव प्रर्जन करना चाहते हैं, तो उन्हे वही कीमत (और उत्पादन) निश्चित करनी होगी, जो किसी एक एकाधिकारी के द्वारा निश्चित की गई होती। यह एक इष्टतम संतुलित समाधान है। हमने वस्तुतः यह पूर्वाधारणा कर ली है कि द्वयाधिकारियों की समस्या वैसी ही होती है जैसी कि एक अकेले एकाधिकारी की।

दो उत्पादकों की अपेक्षा, तीन उत्पादकों के बीच समझौता होना सामान्यतया अधिक कठिन होता है।

उत्पाद विभेदन युक्त अल्पाधिकार (oligopoly with product differentiation)

इन प्रकार के अल्पाधिकार में, केवल फर्मों की संख्या ही थोड़ी नहीं होती है, अपितु उनके उत्पादों में भी भेद होता है। चूंकि फर्मों के उत्पाद समरूप नहीं होते हैं, इसलिए एक एकाधिकारी की अवस्था की स्थापना संभवतः कठिन होगी।

उत्पाद-विभेदन युक्त द्वयाधिकार

दोनों उत्पादकों के लिए यह सदैव बेहतर होगा कि वे एक-दूसरे को क्षति पहुँचाकर कीमत संघर्ष न करें क्योंकि प्रत्येक उत्पादक के लिए एक ओर तो अपने सभी ग्राहकों को खोने तथा दूसरी ओर अपने प्रतिद्वंद्वी से तुरन्त प्रतिक्रिया प्राप्त करने का भय बने रहना स्वाभाविक ही है।

ऐसी स्थिति में साधारण एकाधिकार का समाधान अपेक्षाकृत कम संभव है, इसका कारण अनेक फर्मों का होना और उत्पाद विभेदन है; इनके कारण समाधान और जटिल हो जाता है।

हर फर्म में अपने ग्राहक और अपनी लोकप्रियता होती है। यह भी संभव है कि परस्पर एक घातक प्रतियोगिता (cut throat competition) हो, जिसका अंतिम समाधान एकाधिकारी प्रतियोगिता (monopolistic competition) के समाधान की तरह का हो।

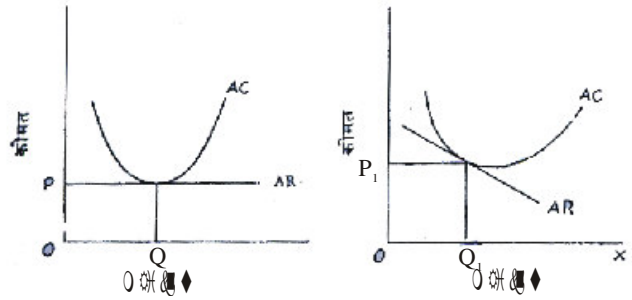

चित्र 6.10A : उत्पादन विभेदन रहित द्वयाधिकार में फर्म का संतुलन
(B) : उत्पादन विभेदन युक्त द्वयाधिकार में फर्म का संतुलन

चित्र 6.10A में केवल एक फर्म के संतुलन को दिखाया गया है। यह फर्म उत्पाद विभेदन रहित द्वयाधिकार की दशाओं के अन्तर्गत उत्पादन कर रही है। कीमत संघर्ष ने कीमत को OP तक

घटा दिया है। इस कीमत पर, फर्म OQ उत्पादन को बेच सकती है और ऐसा करके वह केवल सामान्य लाभ का अर्जन कर सकती है। यदि वह कीमतों को बढ़ा दें, तो उसको ग्राहकों से हाथ धोना पड़ेगा और यदि कीमत कम ली जाए, तो उसका व्यापार में अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाएगा।

चित्र 6.10B में उत्पाद-विभेदन युक्त उत्पादन को दिखाया गया है। कीमत संघर्ष के बाद संतुलन वैसे ही होते हैं, जैसा कि एकाधिकारी प्रतियोगिता में होता है। फर्म केवल सामान्य लाभों का अर्जन कर रही है, परंतु वह इष्टतम उत्पादन की अपेक्षा कम उत्पादन कर रही है।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि अंतिम कीमत एकाधिकार कीमत व घातक प्रतियोगिता के मध्य भी तय हो सकती है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता के अंतर्गत संतुलन निर्धारण

वास्तविक संसार में अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में बहुसंख्यक उत्पादक ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, जो उनके प्रतिद्वंदियों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं से अत्यधिक मिलती-जुलती है।

यह उत्पादक अपने प्रतिद्वंद्वी की क्रियाओं के बारे में सचेत रहता है। उसके उत्पादन संबंधी निर्णय न केवल उपभोक्ता की रुचियों और मन की मौजों के आधार पर वरन् प्रतिद्वंद्वी उत्पादकों के कीमत निर्गत (price output) संबंधी निर्णय के आधार पर भी निर्धारित होते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता में समरूप जिंस केवल एक ही होता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में जिंसों में अंतर होता है और वे उत्पाद विभेदन द्वारा परस्पर प्रतियोगिता करते हैं। अपूर्ण प्रतियोगी को अपने प्रतिद्वंद्वियों की कीमत-उत्पाद संबंधी नीतियों के बारे में सावधान रहना पड़ता है।

खुदकाश्त व हिस्सेदार काश्तकार का संतुलन (Equilibrium of a peasant family form and share tenant form)

जब कोई किसान अपने खेत पर स्वयं कृषि उत्पादन करे तो उसे खुदकाश्त बोला जाता है। अनेकों कारणों से कई बार मालिक अपने खेत पर स्वयं कृषि नहीं कर पाते। इसलिए वे अपनी भूमि को किसी खास समय अवधि के लिए किसी और को काश्त करने के लिए दे देते हैं। इसके एवज में मालिक सम्बन्धित किसान से कुल किराया वसूल करते हैं। अगर यह किराया कुल कृषि उपज के एक हिस्से के तौर पर लिया जाए तो इसे हिस्सेदारी काश्तकारी कहा जाता है। इसके अलावा अगर यह किराया एक तय कीमत के तौर पर वसूला जाए तो इसे स्थिर लगान काश्त (Fined rent tenancy) बोला जाता है।

एडम स्मिथ ने हिस्सेदारी काश्तकारी को दास प्रथा से बेहतर कृषि व्यवस्था माना है। उनके अनुसार कि किसी भी गुलाम की उत्पादन बढ़ाने में कोई रुचि नहीं होती क्योंकि कृषि उपज में उसका कोई हिस्सा नहीं होता। उसे तो मालिक की तरफ से जिन्दा रहने लायक खाना भर मिलता है। इसके विपरीत हिस्सेदार काश्तकार का कृषि उपज के अन्दर एक हिस्सा तय होता है। कृषि उत्पादन में व द्धि का एक हिस्सा हिस्सेदार काश्तकार को मिलता है। ये उत्पादन में ज्यादा-से-ज्यादा व द्धि करना चाहेंगे। लेकिन स्मिथ ने आगे यह भी कहा कि हिस्सेदार काश्तकार जमीन में सुधार के अन्दर कोई रुचि नहीं दिखाएँगे। क्योंकि इस जमीन पर उनका कोई मालिकाना हक नहीं है तथा मालिक इस जमीन के टुकड़े को कुछ समय बाद किसी और को काश्त करने के लिए दे सकता है। एडम स्मिथ ने भूमि मालिक के हिस्से की तुलना कर (Tax) से की है तथा इसे कृषि के दीर्घकालीन विकास में बड़ा बाधा माना है। इसलिए स्मिथ ने यह सुझाव दिया कि अगर जमीन को पट्टे पर दिया जाना है तो ये दीर्घकालीन अवधि के लिए स्थिर लगान (Long term fined rent) के आधार पर दी जानी चाहिए। इससे कृषि में

दीर्घकालीन विकास सम्भव हो सकेगा।

एल्फ्रैड मार्शल ने खुदकाश्त खेती (self owned peasant farming) तथा हिस्सेदारी काश्तकारी (Share cropping farming) की विवेचना अपनी पुस्तक "Principles of Economics" के Foot note में विस्तार से लिखा है। मार्शल का यह मानना है कि कोई भी हिस्सेदार काश्तकार उत्पादन को उसी स्तर तक बढ़ाएगा जब तक इस उपज से मिलने वाला हिस्सा उसकी मजदूरी से ज्यादा के बराबर रहता है। अगर यह हिस्सा उसकी मजदूरी से कम रह जाता है तो यह उत्पादन में व द्धि करना समाप्त कर देगा। इसके विपरीत खुदकाश्त किसान (Peasnt) उत्पादन में व द्धि जारी रखेगा क्योंकि कुल उत्पादन तो मजदूरी दर से ज्यादा होता है। उपर्युक्त व्याख्या को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से समझाया जा सकता है।

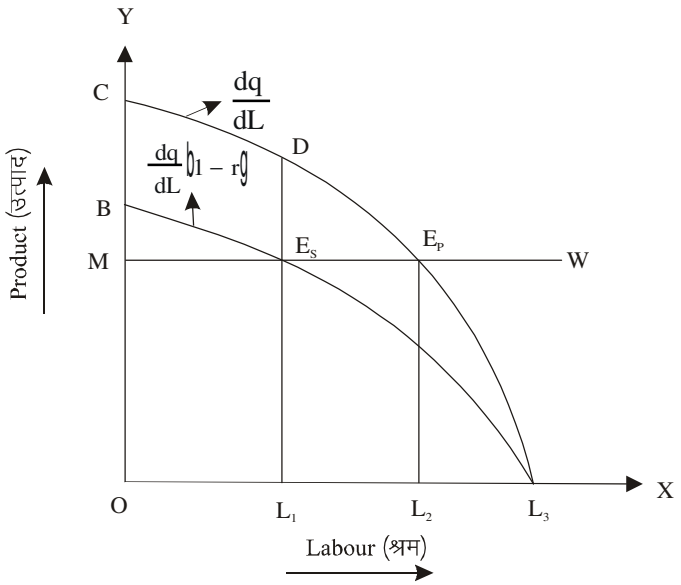

रेखाचित्र में OX अक्ष पर श्रम की मात्रा तथा OY अक्ष पर उत्पाद की मात्रा ली गयी है MW कृषि अर्थव्यवस्था में मजदूरी की दर है। CE_PL_3 किसान का सीमान्त उत्पाद वक्र है तथा यह $\frac{dq}{dL}$ के बराबर होता है। r शब्द का प्रयोग Rent के लिए किया गया है। Rent कृषि मालिक का कुल उपज में हिस्सा होता है। हिस्सेदार काश्तकार का उपज में हिस्सा $\frac{dQ}{dL}(1-r)$ रह जाता है। BE_SL_3 वक्र हिस्सेदार का सीमान्त उत्पाद वक्र है।

रेखाचित्र से स्पष्ट है कि E_S बिन्दु पर काश्तकार का सीमान्त उत्पाद वक्र MW अर्थात् मजदूरी वक्र को काटता है। यह बिन्दु (E_S) काश्तकार का संतुलन बिन्दु (Equilibrium of share corpper) है। E_S बिन्दु पर हिस्सेदार काश्तकार O_1, श्रम का प्रयोग करता है। O_1, श्रम के स्तर पर कुल सीमान्त उत्पाद L,D है परन्तु हिस्सेदार काश्तकार अगर O_1, से ज्यादा मात्रा में श्रम का प्रयोग करता है तो उसका सीमान्त उत्पाद बाजार में प्रचलित दर से कम हो जाता है। स्पष्ट है कि हिस्सेदार काश्तकार इस श्रम को खेत पर लगाने की अपेक्षा मजदूरी पर लगाना ज्यादा उचित समझेगा।

इसके विपरीत अगर कृषि खुदकाश्त (Peasant farm) की जाती है तो किसान को सीमान्त उत्पाद वक्र CE_PL_3, होता है। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि कृषक (Peasant) का सीमान्त उत्पाद वक्र $CEpL_3$, MW को E_P बिन्दु पर काटता है। जाहिर है कि कृषक ज्यादा मात्रा में श्रम OL_3 का प्रयोग करता है तथा ज्यादा उत्पादन COL_3E_P करता है। जबकि हिस्सेदार कम श्रम (O_1) का

प्रयोग करके कम उत्पादन (CO_1D) करता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि कृषक फार्म (Peasant farm) पर $D_1L_2E_P$ ज्यादा उत्पादन होता है। DE_SE_P अर्थव्यवस्था के लिए आर्थिक अपव्यय (Economic waste) है।

अतः यह कहा जा सकता है कि हिस्सेदारी काश्तकारी बेशक मजबूरी में करनी पड़े, यह खुदकाश्त या कृषक फार्म से कम फायदेमंद होती है। इसमें कृषि की क्षमता का पूरा दोहन नहीं किया जाता। हिस्सेदार फार्म पर कृषक फार्म की अपेक्षा कम श्रम का प्रयोग तथा कम उत्पादन किया जाता है।

अध्याय-7
फार्म प्रबन्ध का विश्लेषण
(Analysis of Farm Management)

परिभाषा

फार्म-प्रबन्ध, फार्म एवं प्रबन्ध दो शब्दों से बना है। अतः फार्म-प्रबन्ध को परिभाषित करने से पूर्व फार्म एवं प्रबन्ध शब्दों को परिभाषित करना आवश्यक है।

फार्मः फार्म वह क्षेत्र अथवा भूमि का खण्ड है जो फसल उत्पादन अथवा पशुपालन के लिए उपयोग में लाया जाता है, जिस पर एक कृषक अथवा अनेक कृषकों का सम्मिलित रूप से स्वामित्व होता है और जिसकी सीमा निश्चित होती है। 'फार्म' शब्द की परिभाषाएँ निम्न हैं-

एडम्सः वैधानिक रूप से फार्म से तात्पर्य उस भूमि के क्षेत्र से हे जिसका स्वामित्व एक व्यक्ति के पास होता है और भूमि का वह क्षेत्र, फसलें उगाने या चारागाह के रूप में काम में लिया जाता है। इसके अन्तर्गत कई एकड़ क्षेत्र के एक या अनेक खेत भी हो सकते हैं।

एडम्स द्वारा फार्म की दी गई यह परिभाषा सभी रूपों (क्षेत्र, स्वामित्व एवं उपयोग) में पूर्ण होने के कारण वैधानिक परिभाषा के रूप में स्वीकार की जाती है।

जॉनसनः फार्म से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर या तो कुछ एकड़ क्षेत्र में फसलें उगाई जाती है या कुछ पशु पाले जाते हैं। यह आवचश्यक नहीं है कि उस भूमि पर फसल उत्पादन अथवा पशुपालन करने वाला कृषक की श्रेणी में आता हो।

प्रबन्धः प्रबन्ध से तात्पर्य किसी भी कार्य को करने अथवा प्रबन्ध करने की कला से है। प्रबन्ध की आवश्यकता सभी उद्योगों में समान रूप से होती है।

फार्म प्रबन्ध की परिभाषा

फार्म प्रबन्ध कृषि अर्थशास्त्र का वह भाग है, जिसमें उत्पादन के दुर्लभ साधनों से अधिकतम उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधि का अध्ययन किया जाता है।

ब्रैडफोर्ड एवं जॉनसनः फार्म-प्रबन्ध, निम्न कार्यों के करने का विज्ञान है जिसमें, अवलोकन, विश्लेषण, निर्णय लेना, लिए गए निर्णयों को कार्यान्वित करना एवं निर्णयों के परिणामों का दायित्व वहन करना आदि को शामिल किया गया है।

ब्लैकः ''फार्म-प्रबन्ध में संगठन, संचालन, क्रय-विक्रय एवं वित्तीय व्यवस्था सम्मिलित होती है।''

एडम्सः ''फार्म-प्रबन्ध का तात्पर्य विषय के रूप में, व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक अन्वेषणों के परिणामों के ज्ञान को कृषि में निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उपयोग करना है तथा कार्यविधि के रूप में, फार्म-प्रबन्ध से तात्पर्य अधिकतम सम्भावित लाभ की प्राप्ति के लिए फार्म उद्यमों के चुनाव, संगठन तथा संचालन में आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय लेने से है।''

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में शब्दों की विभिन्नता है, परन्तु फिर भी इनमें काफी समानता पाई जाती है अतः फार्म-प्रबन्ध के अध्ययन में फार्म पर उपलब्ध सीमित साधनों का उच्चतम उपयोग करके फार्म से अधिकतम लाभ की निरन्तर प्राप्ति पर ध्यान केन्द्रित किया है।

फार्म प्रबन्ध के उद्देश्य

फार्म प्रबन्ध के अध्ययन का मुख्य लक्ष्य, कृषकों के अधिकतम लाभ प्राप्त कराना है। फार्म से निरन्तर अधिकतम लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य के लिए फार्म-प्रबन्ध में निम्नाँकित अध्ययन किया जाता है-

(i) कृषि-क्षेत्र में उत्पादन के साधन एवं प्राप्त उत्पाद में पारस्परिक सम्बन्ध एवं विभिन्न उत्पाद-साधनों की अपेक्षित कार्यक्षमता बनाए रखने का अध्ययन।

(ii) फार्म के लिए फसल-उत्पादन एवं पशुपालन की उत्तम विधि का चुनाव।

(iii) विभिन्न उद्यमों की प्रति इकाई उत्पादन लागत का अध्ययन।

(iv) विभिन्न उद्यमों से प्राप्त लाभ का तुलनात्मक अध्ययन।

(v) उत्पादन-साधनों एवं भूमि उपयोग का मूल्याँकन।

(vi) फार्म-व्यवसाय की कार्य-क्षमता में व द्धि के उपाय।

(vii) जोत के आकार से भूमि उपयोग, फसल-क्रम योजना व पूँजी-निवेश का सम्बन्ध।

(viii) तकनीकी ज्ञान का फार्म व्यवसाय एवं उत्पादन पर प्रभाव।

फार्म-प्रबन्ध के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त अध्ययन कृषकों को निम्न निर्णय लेने में सहायता देते हैः-

(i) सम्पूर्ण फार्म-व्यवसाय से अधिकतम शुद्ध लाभ कैसे प्राप्त करें?

(ii) फार्म पर अधिकतम उत्पादन कैसे प्राप्त करें?

(iii) प्राप्त उत्पादन की अधिकतम कीमत कैसे प्राप्त करें?

(iv) प्रति हेक्टेयर/क्विन्टल खाद्यान्न-उत्पादन की लागत कैसे कम करें?

यद्यपि अधिकतम लाभ की प्राप्ति कृषकों का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है परन्तु फिर भी कृषकों का अन्तिम उद्देश्य रहन-सहन के स्तर में व द्धि और परिवार के सदस्यों को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान कराना होता है।

फार्म प्रबन्ध एवं कृषि-अर्थशास्त्र में सम्बन्ध

कृषि अर्थशास्त्र, कृषि विज्ञान का वह भाग है जिसमें कृषक द्वारा धन प्राप्ति एवं धन खर्च सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। फार्म प्रबन्ध, कृषि अर्थशास्त्र का वह भाग है जिसमें अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लक्ष्य से सम्बन्धित फार्म प्रबन्ध के ज्ञान को शामिल किया जाता है।

फार्म-प्रबन्ध एवं कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन में निम्न अन्तर पाए जाते हैं -

1. कृषि-अर्थशास्त्र, कृषि-विज्ञान की एक शाखा है जबकि फार्म-प्रबन्ध, कृषि-अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं जैसे उत्पादन-अर्थशास्त्र, कृषि विपणन, कृषि-वित्त, ग्रामीण अर्थशास्त्र

के समान एक शाखा है।

2. फार्म-प्रबन्ध के अध्ययन की इकाई एक फार्म होती है जबकि कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाई कृषक समूह अथवा कृषक समाज होता है। कृषि-अर्थशास्त्र फसल-उत्पादन, पशुपालन, कृषि की उन्नत विधियों के ज्ञान के आधार पर देश या क्षेत्र के कृषकों के हितों की सामूहिक रूप से व्याख्या करता है। फार्म-प्रबन्ध एक ही फार्म या कृषक के लिए उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति की व्याख्या करता है।

3. फार्म-प्रबन्ध का उद्देश्य कृषक को अपने फार्म से अधिकतम निरन्तर लाभ की राशि प्राप्त कराना है जबकि कृषि-अर्थशास्त्र का उद्देश्य क्षेत्र के कृषकों को अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कराते हुए उनके रहन-सहन के स्तर में सुधार एवं कल्याण की मनोकामना करना है।

4. अध्ययन की द ष्टि से कृषि-अर्थशास्त्र समष्टिमूलक तथा फार्म-प्रबन्ध व्यष्टिमूलक होता है।

फार्म प्रबन्ध का क्षेत्र

फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र विस्त त होता है जिसमें निम्नलिखित को शामिल किया जाता है-

1. फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र व्यष्टिमूलक (Micro economic) होता है इसलिए फार्म पर लिए जानेवाले विभिन्न निर्णय जैसे फसलों का चुनाव, उर्वरकों का उपयोग, कृषि यन्त्रों का उपयोग आदि क्रियाएं फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र में सम्मिलित होता है।

2. फार्म-योजना का कार्य फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र में शामिल होता है। फार्म पर विभिन्न कृषि-कार्यों को करने की फार्म-योजना बनाई जाती है तथा फार्म पर किए जानेवाले सभी कार्यक्रमों की सूची तैयार की जाती है, जिससे सभी कार्य फार्म पर समय एवं बिना किसी कठिनाई के हो जाते हैं। फार्म-योजना बनाने का ज्ञान फार्म-प्रबन्ध विषय से प्राप्त होता है।

3. फार्म-प्रबन्ध में अनुसंधान, प्रशिक्षण एवं प्रसार तीनों क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। कृषकों की विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अनुसन्धान से सम्बन्धित आवश्यक आँकड़े सर्वेक्षण-विधि द्वारा एकत्रित किए जाते हैं। जिनके विश्लेषण से प्राप्त अनुसन्धान परिणाम प्रशिक्षण की सहायता से प्रसार-कार्यकर्त्ताओं तक पहुँचाए जाते हैं। प्रसार-कार्यकर्त्ता प्राप्त ज्ञान को प्रसार-विधियों के माध्यम से कृषकों तक पहुंचाते हैं। अतः अनुसंधान, प्रशिक्षण एवं प्रसार तीनों ही फार्म-प्रबन्ध के क्षेत्र में आते हैं।

अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि फार्म-प्रबन्ध का क्षेत्र काफी व्यापक होता है।

उत्पादन-फलन द ष्टिकोण/प्रतिफल का सिद्धान्त
(The Production Function approach)

फार्म से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए कृषकों के फार्म-प्रबन्ध के सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान होना अति आवश्यक है। फार्म प्रबन्ध के सिद्धान्तों को ज्ञान कृषकों को फार्म पर विभिन्न कृषि कार्यों को करने के सम्बन्ध में निर्णय लेने में सहायता करता है।

1. प्रतिफल का सिद्धान्त

प्रतिफल का सिद्धान्त दो प्रकार का होता है-

परिवर्तनशील अनुपात का सिद्धान्त

परिवर्तनशील अनुपात के सिद्धान्त में उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न उत्पादन साधनों में से एक या एक से अधिक साधनों की मात्रा में परिवर्तन होता है, जबकि उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य सभी साधनों की मात्रा स्थिर रहती है। जैसे उर्वरक की मात्रा में परिवर्तन होता है तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य साधन-भूमि का क्षेत्र, सिंचाई की संख्या, श्रम आदि की मात्रा स्थिर रहती है, अर्थात् इन साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

उत्पादन-साधनों का परिवर्तनशील अनुपात के सिद्धान्त में प्रतिफल तीन दर से प्राप्त होता है-

(अ) घटती दर प्रतिफल

(ब) समान दर का प्रतिफल, एवं

(स) बढ़ती दर का प्रतिफल

प्रतिफल के सिद्धान्त की विस्त त व्याख्या करने से पूर्व, सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए निम्न शब्दों एवं उनमें आपस में पाए जानेवाले सम्बन्धों की व्याख्या करना आवश्यक है।

कुल उत्पादः उत्पादन-साधन की विभिन्न मात्रा का उपयोग करने से जो उत्पाद की मात्रा प्राप्त होती है, उसे कुल उत्पाद (Total Product) कहते हैं। उत्पादन-साधन की विभिन्न मात्राओं के उपयोग से प्राप्त कुल उत्पादन की मात्रा भी विभिन्न होती है।

औसत उत्पादः औसत उत्पाद (Average Product) से तात्पर्य उत्पादन-साधन की औसत उत्पादकता से है। औसत उत्पाद, कुल उत्पाद एवं प्रयुक्त उत्पादन-साधन की मात्रा का अनुपात होता है। उत्पादन साधन की विभिन्न मात्राओं के उपयोग से प्राप्त होनेवाले कुल उत्पाद की मात्रा में उत्पाद-साधन की मात्रा का भाग देने पर प्राप्त प्रतिफल औसत उत्पाद कहलाता है।

$$\text{औसत उत्पाद} = \frac{\text{कुल उत्पाद की मात्रा } (Y_i)}{\text{उत्पादन- साधन की कुल मात्रा } (X_i)}$$

सीमान्त उत्पादः एक इकाई अतिरिक्त उत्पादन-साधन की मात्रा के उपयोग से जो उत्पाद की मात्रा में अतिरिक्त व द्धि होती है, उसे सीमान्त उत्पाद (Marginal Product) कहते हैं। परिवर्तनशील उत्पादन-साधन के किसी भी स्तर के लिए सीमान्त-उत्पाद, कुल उत्पाद की व द्धि की मात्रा में, उत्पादन-साधन में की गई व द्धि की मात्रा का भाग देकर ज्ञात किया जाता है। सीमान्त उत्पाद ज्ञात करने का सूत्र निम्न होता हैः-

सीमान्त-उत्पाद =

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि सीमान्त एवं औसत उत्पाद, कुल उत्पाद की मात्रा से ज्ञात किए जाते हैं। उत्पादन-साधन के विभिन्न मात्रा में उपयोग करने से प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा से औसत व सीमान्त-उत्पाद ज्ञात करने की विधि सारणी मे प्रदर्शित की गई है।

सारणी 7.1: कुल उत्पाद की मात्रा से सीमान्त एवं औसत उत्पाद ज्ञात करना

उत्पादन-साधन (उर्वरक) की इकाइयाँ (X)	प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा (Y)	औसत-उत्पाद	सीमान्त उत्पाद	अन्य
0	0	0	3	बढ़ती दर
1	3	3	4	से उत्पादन
2	7	3.50	5	में व द्धि
3	12	4.00	6	
4	18	4.50		समान-दर से
5	24	4.80	6	उत्पादन में व द्धि
			5	
6	29	4.83	3	घटती दर
7	32	4.57	1	से उत्पादन
8	33	4.12	0	में व द्धि
9	33	3.66		
10	32	3.20	-1	
				कुल उत्पादन
11	30	2.72	-2	में कमी

उपर्युक्त उदाहरण में एक उत्पादन-साधन (उर्वरक) की मात्रा में परिवर्तन होने से प्राप्त कुल उत्पाद, औसत उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद की मात्राएँ प्रदर्शित की गई हैं। इसमें यह मान्यता है कि उत्पादन व द्धि के लिए आवश्यक अन्य सभी साधनों की मात्राओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

सारणी 7.1 के आधार पर कुल उत्पाद, औसत उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद वक्र रेखाएँ चित्र में प्रदर्शित की गई है।

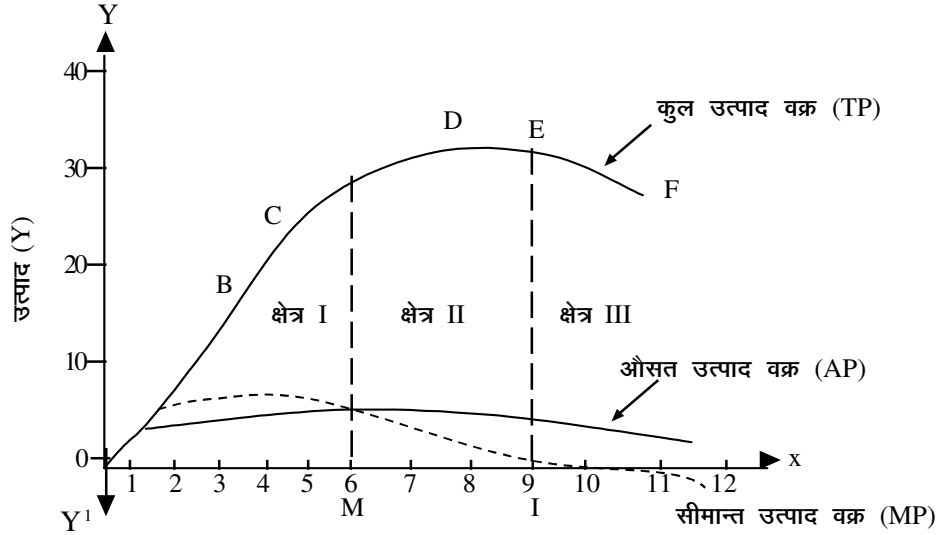

चित्र 7.1: कुल उत्पाद, सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पाद में सम्बन्ध एवं उत्पादन फलन के विभिन्न क्षेत्र

कुल उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद में सम्बन्धः सारणी 1 एवं चित्र 1 के आधार पर कुल उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद में निम्न सम्बन्ध पाए जाते हैं-

(i) कुल उत्पाद में व द्धि की अवस्था में (A से D बिन्दु के मध्य) सीमान्त उत्पाद धनात्मक, कुल उत्पाद में कमी की अवस्था में (E से F बिन्दु के मध्य) सीमान्त उत्पाद ऋणात्मक एवं कुल उत्पाद की मात्रा में परिवर्तन नहीं होने की अवस्था में (E बिन्दु पर) सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य होती है।

(ii) सीमान्त उत्पाद में व द्धि की अवस्था में कुल उत्पाद में बढ़ती दर से व द्धि (A से B बिन्दु के मध्य), सीमान्त उत्पाद की मात्रा के समान रहने पर कुल उत्पाद में समान-दर से व द्धि (B से C बिन्दु के मध्य), सीमान्त उत्पाद में कमी होने की अवस्था में कुल उत्पाद में घटती दर से व द्धि (C से E बिन्दु के मध्य) एवं सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य होने पर कुल उत्पाद स्थिर एवं सर्वाधिक (E बिन्दु पर) होता है। इस स्तर पर कुल उत्पाद वक्र रेखा सबसे अधिक ऊँचाई पर होती है।

सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पाद में सम्बन्ध

सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पाद में निम्नॉकित सम्बन्ध पाए जाते हैं-

(i) सीमान्त उत्पाद की मात्रा में व द्धि होने पर औसत उत्पाद में व द्धि होती है। सीमान्त उत्पाद वक्र रेखा (A से G बिन्दु तक) के औसत उत्पाद वक्र रेखा से ऊपर होने की अवस्था में औसत उत्पाद वक्र-रेखा ऊपर की ओर बढ़ती जाती है। अर्थात् जब तक सीमान्त औसत उत्पाद से अधिक होता है, औसत उत्पाद बढ़ता रहता है।

(ii) सीमान्त उत्पाद के औसत उत्पाद से कम होने अथवा सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा के औसत उत्पाद वक्र-रेखा के नीचे आने पर (G से I एवं उसके आगे तक) औसत उत्पाद कम होता है। अर्थात् जब तक सीमान्त उत्पाद की मात्रा औसत उत्पाद की मात्रा से कम होती है, औसत उत्पाद कम होता रहता है।

(iii) सीमान्त उत्पाद के औसत उत्पाद के समान होने के बिन्दु (G) पर औसत उत्पाद सर्वाधिक होता है। इसी बिन्दु से सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा औसत उत्पाद वक्र-रेखा से नीचे की ओर हो जाती है। सीमान्त उत्पाद वक्र-रेखा, औसत उत्पाद वक्र-रेखा को उसके अधिकतम बिन्दु (G) पर ऊपर से काटती है।

उत्पाद फलन के क्षेत्रः उत्पाद-फलन को उत्पाद-साधनों के इष्टतम उपयोग के निर्णय के आधार पर निम्न तीन क्षेत्रों/भागों में विभक्त किया जाता है।

(i) **क्षेत्र I:** उत्पादन की शुरुआत से उस स्तर तक जहाँ औसत उत्पाद वक्र उच्चतम बिन्दु पर होता है उत्पादन का पहला क्षेत्र (या पहली अवस्था) कहलाता है, रेखाचित्र 7.1 में A से H पहले क्षेत्र का दर्शाता है। ज्ञात रहे H बिन्दु पर MP वक्र, AP वक्र को ऊपर से काटता है।

उत्पादन-फलन का यह क्षेत्र विवेकशून्य क्षेत्र (Irrational zone) कहलाता है, क्योंकि इस क्षेत्र में उत्पादन करने पर उत्पादन-साधन की मात्रा के बढ़ाने से प्राप्त लाभ की मात्रा भी बढ़ती जाती है। कृषकों का उत्पादन करने का उद्देश्य लाभ कमाना ही नहीं होता, बल्कि लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त करना होता है। इस क्षेत्र में औसत उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद की उत्पाद की मात्रा में निरन्तर व द्धि होती है जिसके कारण

उत्पादन-साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई पहले से अधिक लाभ प्रदान करता है। अतः इस क्षेत्र में उत्पादन करने का निर्णय लेना उचित नहीं होता है।

(ii) **क्षेत्र II:** रेखाचित्र 7.1 में H बिन्दु से I बिन्दु तक उत्पादन का दूसरा क्षेत्र कहलाता है। I बिन्दु पर TP अधिकतम होता है तथा MP शून्य होता है।

उत्पादन-फलन का यह क्षेत्र विवेकसंगत क्षेत्र (Rational zone) कहलाता है, क्योंकि इस क्षेत्र में कृषकों को उत्पादन करने के निर्णयों से सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है इस क्षेत्र मे कृषकों द्वारा अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए अनुकूलतम उत्पादन-साधन की मात्रा ज्ञात करने की विधि का विवेचन आगे किया गया है।

(iii) **क्षेत्र III:** उत्पादन-फलन का त तीय क्षेत्र उस बिन्दु (उत्पादन-साधन के I बिन्दु अथवा 9 इकाई के आगे) से प्रारम्भ होता है जहाँ से सीमान्त उत्पाद की मात्रा शून्य से कम हो जाती है। इस पूरे क्षेत्र में सीमान्त उत्पाद की मात्रा ऋणात्मक होती है जिसके कारण कृषकों को प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा उत्पादन-साधन की मात्रा में व द्धि करने के साथ-साथ निरन्तर कम होती जाती है। उत्पादन-फलन का यह भी विवेकशून्य क्षेत्र (Irrigation Zone) कहलाता है।

कृषकों को उत्पादन-साधन यदि बिना किसी लागत के भी प्राप्त होता है तब भी इस क्षेत्र में उत्पादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस क्षेत्र में उत्पादन करने से प्राप्त लाभ की राशि कम होती जाती है।

परिवर्तनशील अनुपात के सिद्धान्त में प्रतिफल की दर

परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त में प्रतिफल तीन दर से होता है जिनका विस्त त विवेचन नीचे दिया गया है-

(i) **घटते प्रतिफल का सिद्धान्तः** जब कृषक अपने कुछ साधन स्थिर (जमीन) रख कर अन्य साधनों (खाद, पानी, श्रम आदि) की मात्रा में व द्धि करता हो तथा ऐसी स्थिति में उसे उत्पादन में व द्धि अपेक्षाकृत कम दर से प्राप्त होती हो तो उसे घटते प्रतिफल का सिद्धान्त कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में, परिवर्तनशील साधनों की विभिन्न इकाइयों में जो उत्पादन-व द्धि घटती दर से होती है, उसे घटते प्रतिफल का सिद्धान्त कहते हैं। प्रो० मार्शल ने घटते प्रतिफल के सिद्धान्त को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है-

''यदि साथ-साथ कृषि कला में उन्नति नहीं होती है तो भूमि पर नियोजित श्रम एवं पूँजी की मात्रा में व द्धि करने से सामान्यतः कुल उत्पाद में अनुपात से कम व द्धि होती है।''

कृषि के क्षेत्र में प्रत्येक उत्पादन-साधन के उपयोग के उदाहरण में घटते प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई कुल उत्पाद की मात्रा में 25 इकाई व द्धि करती है तो उत्पादन-साधन की दूसरी इकाई कुल उत्पाद में पहले से कम अर्थात् 20 इकाई की व द्धि करेगी। इसी प्रकार उत्पादन-साधन की तीसरी इकाई उत्पादन में 15 इकाई एवं चौथी उत्पादन-साधन की इकाई कुल उत्पाद की मात्रा में 10 इकाई व द्धि करती है। चित्र 7.2 उत्पादन का घटते प्रतिफल-सिद्धान्त प्रदर्शित करता है।

घटते प्रतिफल के सिद्धान्त में प्राप्त कुछ उत्पाद वक्र-रेखा मूल-बिन्दु से नतोदर (Concave to the Origin) होती है। घटते प्रतिफल की अवस्था में निम्न सम्बन्ध पाए जाते हैं-

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} > \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} > \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} > \ldots\ldots > \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

चूंकि $\Delta_1 X = \Delta_2 X = \Delta_3 X \ldots . \Delta_n X$, अतः ΔY की मात्रा निरन्तर कम होती जाती है जिससे $\Delta Y/\Delta X$ का अनुपात उत्पादन-साधन की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ कम होता जाता है।

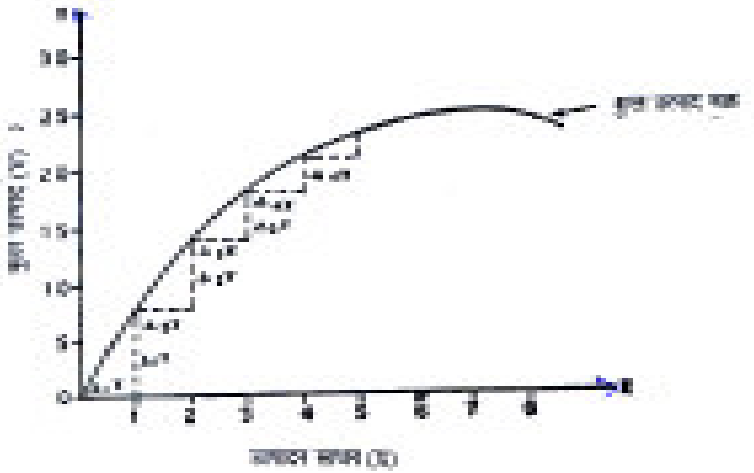

चित्र 7.2: प्रतिफल की अवस्था में कुल उत्पाद-वक्र

घटते प्रतिफल का नियम निम्न परस्थितियों में लागू नहीं हो पाता-

(i) परिवर्तनशील साधनो के निम्न स्तर पर।

(ii) उत्पादन तकनीक में बेहतरी होने पर।

(iii) कृषक की दक्षता बढ़ने पर।

कृषि के क्षेत्र में घटते प्रतिफल सिद्धान्त लागू होने के कारण कृषकों के सामने समस्या होती है कि फार्म पर उपलब्ध स्थिर साधनों के साथ परिवर्तनशील साधन-श्रम, पूँजी, उर्वरक आदि उत्पादन-साधनों की कितनी मात्रा उपयोग में लेनी चाहिए अथवा उत्पादन का कौन-सा स्तर प्राप्त करना चाहिए जिससे प्रति हैक्टर भूमि या पशु सम्भावित लाभ की राशि अधिकतम प्राप्त हो सके? उपर्युक्त निर्णयों में कृषकों का उद्देश्य स्थिर उत्पादन-साधनों से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करना होता है। फार्म-प्रबन्ध विज्ञान उपर्युक्त निर्णय लेने में सहायक होता है। फार्म-प्रबन्ध विज्ञान का उद्देश्य उत्पादन की अधिकतम भौतिक मात्रा प्राप्त करना न होकर, अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करना होता है। कृषकों द्वारा उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर परिवर्तनशील साधनों की काम में ली गई मात्रा, उनकी लागत व उनसे प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद के मूल्य के आधार पर ज्ञात किया जाता है।

घटते प्रतिफल की अवस्था में निर्णय लेने का नियमः घटते प्रतिफल की अवस्था में परिवर्तनशील साधन को इस मात्रा में प्रयोग किया जाना चाहिए कि इसकी MC

तथा MR एक दूसरे के बराबर हो जाएँ। इस स्तर पर प्राप्त उत्पादन की मात्रा कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करती है। उत्पादन की मात्रा अथवा परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की मात्रा में इस स्तर से आगे व द्धि करने के प्रयास करने पर कृषकों को प्राप्त होनेवाले कुल लाभ की राशि में कमी होती है।

घटते प्रतिफल की अवस्था में परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की मात्रा का अनुकूलतम लाभ प्रदान करनेवाला स्तर निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जाता है:-

$\frac{\text{उत्पाद की अतिरिक्त मात्रा}}{\text{उत्पादन- साधन की अतिरिक्त मात्रा}}$ का अनुपात

के अनुपात के बराबर होना चाहिए।

अर्थात् $\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{P_X}{P_Y}$

$= \Delta Y.P_Y = \Delta X.P_X$

जहां ΔY = उत्पाद की मात्रा में परिवर्तन

ΔX = उत्पादन-साधन की मात्रा में परिवर्तन

P_X = उत्पादन-साधन की प्रति इकाई कीमत

P_Y = उत्पाद की प्रति इकाई कीमत

$\Delta Y.P_Y$ = अतिरिक्त/सीमान्त आय

$\Delta X.P_X$ = अतिरिक्त/सीमान्त लागत

$\frac{\text{उत्पादन- साधन की प्रति इकाई कीमत}}{\text{उत्पादन की प्रति इकाई कीमत}}$

(ii) **सीमान्त प्रतिफल का सिद्धान्त:** समान प्रतिफल के अन्तर्गत परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की प्रत्येक इकाई का जब स्थिर साधनों के साथ उपयोग किया जाता है तो उससे प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमशः समान होती है, अर्थात् परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की प्रत्येक इकाई, उत्पाद के उत्पादन में समान मात्रा में व द्धि करती है। कृषि क्षेत्र में समान प्रतिफल का सिद्धान्त बहुत ही कम पाया जाता है। प्रतिफल का सिद्धान्त कृषि क्षेत्र में निम्न अवस्था में पाया जा सकता है-

जब उत्पादन में एक या एक से अधिक साधन स्थिर हों, लेकिन उनकी क्षमता का पूर्णरूप से उपयोग नहीं किया गया हो, अर्थात् उनकी क्षमता का अधिशेष मात्रा में हो। समान प्रतिफल के सिद्धान्त का वक्र सीधी रेखा के रूप में होता है तथा वक्र पर ढाल सभी स्थानों पर समान होता है। समान प्रतिफल की अवस्था में निम्न सम्बन्ध पाया जाता है।

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} = \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} = \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X} \ldots\ldots\ldots\ldots = \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

समान प्रतिफल की अवस्था में निर्णय लेने का नियम: समान प्रतिफल की अवस्था में यदि उत्पादन-साधन की प्रथम इकाई का उपयोग लाभप्रद है तो आगे की सभी इकाइयाँ लाभप्रद होगी। अतः जब तक समान दर से उत्पादन में व द्धि होती रहती है, उत्पादन-साधन की इकाइयों में व द्धि करते रहना चाहिए। यदि उत्पादन साधन की प्रथम इकाई लाभप्रद नहीं है तो आगे की कोई भी इकाई लाभप्रद नहीं होती है।

अतः ऐसी अवस्था में उत्पादन-साधन की किसी भी इकाई का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

समान प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्रः समान प्रतिफल की अवस्था में प्राप्त कुल उत्पाद वक्र सीधी रेखा होती है जो चित्र 7.3 में प्रदर्शित है।

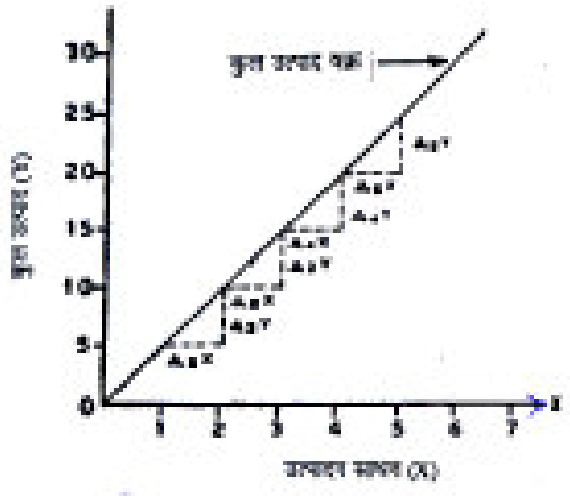

चित्र 7.3: समान प्रतिफल की अवस्था में कुल उत्पाद वक्र

(iii) **बढ़ते प्रतिफल का सिद्धान्तः** जब परिवर्तनशील साधन की हर अगली इकाई में व द्धि से उत्पादन में उससे ज्यादा अनुपात में व द्धि हो तो उसे बढ़ते प्रतिफल का सिद्धान्त कहा जाता है। कृषि क्षेत्र में बढ़ते प्रतिफल का सिद्धान्त बहुत कम पाया जाता है। कृषि क्षेत्र में सम्भवतः निम्न अवस्थाओं में बढ़ते प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है-

(अ) जब स्थिर उत्पादन-साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं हो रहा है अर्थात् उनमें उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता होती है।

(ब) जब प्रारम्भ में परिवर्तनशील उत्पादन-साधन की उपयोग की गई इकाई की मात्रा बहुत कम होती है।

बढ़ते प्रतिफल की अवस्था में प्राप्त कुल उत्पाद वक्र का ढाल उद्‌गम से उत्तल (Convex to the Origin) होता है तथा प्राप्त सम्बन्ध निम्न प्रकार का होता है

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} < \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} < \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} < \ldots\ldots\ldots\ldots < \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

अर्थात् उत्पादन साधन की इकाइयों में व द्धि के साथ-साथ $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ का अनुपात क्रमशः बढ़ता जाता है।

बढ़ते प्रतिफल की अवस्था में निर्णय लेने का नियमः बढ़ते प्रतिफल की अवस्था में भी निर्णय का नियम हासमान प्रतिफल के सिद्धान्त के समान ही होता है। अर्थात् जब तक उत्पाद व उत्पादन साधन की सीमान्त-दर का अनुपात उनकी विपरीत कीमतों के अनुपात से अधिक है तब तक उत्पादन-साधन की मात्रा में व द्धि करते रहना चाहिए।

बढ़ते प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्रः बढ़ते प्रतिफल की अवस्था में प्राप्त कुल उत्पाद वक्र चित्र 7.4 में प्रदर्शित किया गया है।

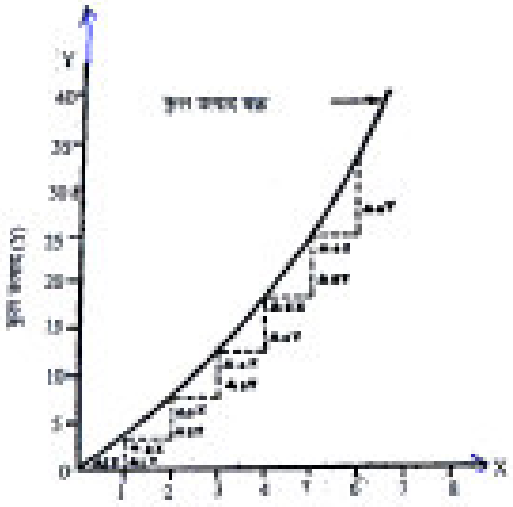

उत्पाद साधन (X)

चित्र 7.4 बढ़ते प्रतिफल की अवस्था में कुल उत्पाद वक्र

पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त

जब उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन किया जाए तो ऐसी स्थिति में उत्पादन में होनेवाले परिवर्तनों का अध्ययन पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त कहलाता है।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में उत्पादन-व द्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा में व द्धि की दर समान अथवा विभिन्न अनुपातों में हो सकती है। यदि उत्पादन व द्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा में समान अनुपात में व द्धि की जाती है तो उसे शुद्ध पैमाने का सम्बन्ध (Pure scale relationship) कहते हैं। जैसे यदि उत्पादन साधन X_1 की मात्रा में 100% व द्धि की जाती है तो उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य सभी उत्पादन साधनों की मात्रा में भी 100% व द्धि की जाती है अतः जब सभी उत्पादन साधनों की मात्रा में समान अनुपात में व द्धि की जाती है तो उन्हें एक समुच्चय उत्पादन साधन के रूप में मानकर विश्लेषण किया जाता है। यदि विभिन्न उत्पादन साधनों की व द्धि की दर विभिन्न होती है तो उसे पैमाने का परिवर्तनीय अनुपात का सम्बन्ध (Variable proportion scale relationship) कहते हैं। जैसे उत्पादन साधन X_1 की मात्रा में 100% व द्धि, उत्पादन-साधन X_2 की मात्रा में 50% व द्धि, उत्पादन-साधन X_3 की मात्रा में 40% व द्धि, उत्पादन-साधन X_4 की मात्रा में 25% व द्धि आदि।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी उत्पादन-साधनों की मात्रा में समान अनुपात में व द्धि करने की अवस्था में उत्पादन में व द्धि समान, बढ़ती एवं घटती दर से हो सकती है, जिसके कारण पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में भी उत्पादन-व द्धि की निम्न तीन दरें होती हैं -

(i) **पैमाने के समान प्रतिफल का सिद्धान्तः** इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधनों में एक इकाई मात्रा में क्रमिक व द्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमशः समान रहती है।

(ii) **पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का सिद्धान्तः** इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधनों में एक इकाई मात्रा में क्रमिक व द्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमशः पहले की अपेक्षा अधिक होती जाती है।

(iii) **पैमाने के घटते प्रतिफल का सिद्धान्तः** इसके अन्तर्गत उत्पादन-साधनों में एक इकाई मात्रा से क्रमिक व द्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमशः पहले की अपेक्षा कम होती जाती है।

परिवर्तनशील अनुपात प्रतिफल सिद्धान्त एवं पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में अन्तर

परिवर्तनशील अनुपात प्रतिफल सिद्धान्त एवं पैमाने के सिद्धान्त में निम्न अन्तर होते हैं-

(i) परिवर्तनशील अनुपात प्रतिफल सिद्धान्त में उत्पादन के लिए आवश्यक सभी उत्पादन साधनों में परिवर्तन नहीं होता है। इसके अन्तर्गत उत्पादन के कुछ साधन स्थिर होते हैं और एक या अनेक साधनों की मात्रा में परिवर्तन होता है। जैसे उर्वरक की मात्रा में परिवर्तन होता है तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य सभी साधन स्थिर मात्रा में होते हैं। पैमाने के प्रतिफल में उत्पादन के लिए आवश्यक सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् कोई भी उत्पादन-साधन स्थिर मात्रा में नहीं होता है।

(ii) परिवर्तनशील अनुपात के प्रतिफल का सिद्धान्त साधारणतया एक उत्पादन-साधन की अनुकूलतम मात्रा अथवा परिवर्तनशील उत्पादन साधन से अनुकूलतम उत्पादन-मात्रा ज्ञात करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जबकि पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त का उपयोग फार्म पर अधिकतम लाभ प्रदान करनेवाले फार्म के आकार अथवा सभी उत्पादन साधनों का अनुकूलतम उपयोग करनेवाले फार्म के आकार को ज्ञात करने में किया जाता है।

फार्म की कार्यकुशलता का माप
(Measures of Form Efficiency)

किसान का उद्देश्य शुद्ध लाभ को अधिकतम करना होता है। यह उद्देश्य केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उत्पादन के सभी साधनों का कार्य कुशलतापूर्वक से प्रयोग किया गया हो। फार्म की कार्यकुशलता के माप की उत्पत्ति भी इसलिए की जाती है ताकि यह ज्ञात हो सके कि विभिन्न उत्पादन के साधनों का प्रयोग किस प्रकार किया गया है? एक उत्पादन की विधि ा दूसरी उत्पादन की विधि की तुलना में भी अधिक कार्यकुशल कही जाएगी जब एक मूल्यवान आगत के प्रयोग करने के फलस्वरूप अधिक मूल्यवान उत्पाद की उपज अधिक मात्रा में प्राप्त होती है।

जिन आगतों का अधिक कार्यकुशलता से प्रयोग नहीं किया जाता उनका भी अधिक कार्यकुशलता से प्रयोग करने से अधिकतम लाभ की मात्रा को प्राप्त किया जा सके। फार्म की कार्यकुशलता के निम्नलिखित माप होते हैं-

1. भूमि या उत्पादन कार्यकुशलता माप
2. श्रम कार्यकुशलता माप
3. पूँजी कार्यकुशलता माप

4. फार्म आय या लाभ कार्यकुशलता माप

1. **भूमि या उत्पादन कार्यकुशलता मापः** यह जानने के लिए आवश्यक हो जाता है कि क्या भूमि कार्यकुशलतापूर्वक प्रयोग में लाई जाती है या नहीं?

इस तथ्य को जानने के लिए निम्नलिखित माप का प्रयोग किया जा सकता हैः

(अ) **फसल की गहनताः** इस माप का काफी अधिक प्रयोग किया जाता हैं यह माप इस तथ्य का अध्ययन करता है कि वे एक दिए हुए वर्ष में भूमि का फसलों के उद्देश्यों के लिए कितना प्रयोग किया गया है? इसे निम्नलिखित तरीके से व्यक्त किया जाता है -

$$\text{फसल की गहनता} = \frac{\text{फसल के अधिक क्षेत्र}}{\text{कुल जोता गया क्षेत्र}} \times 100$$

जितनी फसल की गहनता अधिक होगी, उतनी ही अच्छी स्थिति होगी। अगर फसल की गहनता दो सौ (200) के समान होती है, इसका ये अभिप्राय है कि एक फसल में दो फसलें उगाई गई है।

(ब) **प्रति एकड़ उपजः** यह भी उत्पादन कार्यकुशलता का एक माप होता है। अगर एक विशेष भूमि पर प्रति एकड़ उपज अधिक होती है, वह भूमि कम उपज देनेवाली भूमि की तुलना में अधिक कार्यकुशल होती है। एक स्थान की औसत उपज को भी प्रति एकड़ उपज निकालते समय ध्यान में रखा जाता है।

उदाहरण के लिएः एक फार्म (y) की प्रति धान की उपज 35 क्विंटल प्रति हेक्टेयर है तथा स्थान की औसतन उपज 25 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है, जो फार्म (y) की उत्पान क्षमता

$$= \frac{35 \times 100}{25} = 140\%$$

(स) **फसल की उपज का सूचकांकः** यह सूचकांक किसी स्थान में सभी फसलों की उपज तथा इस स्थान की इन्हीं फसलों की औसतन उपजों की तुलना के समान होता है।

तालिका 1: फसल की उपज का सूचकांक

फसल	क्विंटलों में प्रति हेक्टेयर उपज		फसल के अधिक क्षेत्र	फार्म की उपज स्थानीय उपज के प्रतिशत के रूप में	प्रतिशत की एकड़ के साथ गुणा
	स्थानीय	फार्म y			
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)*	(6)*
धान	25	35	2	140	280
सब्जियां	10	15	1	150	150
कुल योग			3		430

$$*\text{कालम } 5 = \frac{\text{कालम.3}}{\text{कालम.2}} \times \frac{100}{1}$$

*कालम 6 = कालम.5 × कालम.4

फसल की उपज का सूचकांक = $\frac{430}{3}$ = 143%

2. **श्रम कार्यकुशलता मापः** इससे अभिप्राय किसी फार्म पर समय की प्रति यूनिट में प्रति मनुष्य द्वारा चुनी गई उत्पादक कार्य की मात्रा से होता है अगर श्रमिक अधिक कार्यकुशलतापूर्वक होते हैं तो फार्म का व्यवसाय अधिक लाभप्रद हो सकता है श्रम की कार्यकुशलता निम्नलिखित तत्त्वों पर निर्भर करती हैः

(अ) श्रमिक की शारीरिक स्थितिः एक अच्छे स्वास्थ्य वाला श्रमिक, बेकार स्वास्थ्य वाले श्रमिक की तुलना में अधिक योगदान दे सकता है।

(ब) एक श्रमिक किसी कार्य को कितनी रुचि से करता है अगर एक किसी कार्य में अधिक रुचि लेता है तो उसकी कुशलता अधिक होगी, वर्ना उसके द्वारा पूरे किए गए कार्य में अधिक त्रुटियाँ होगी।

(स) मौसम सम्बन्धित परिस्थितियाँ जिनमें एक श्रमिक कार्य करता है।

श्रम सम्बन्धित कार्यकुशलता का माप निम्नलिखित हैः

(अ) **एक दिन में एक ही परिवार के श्रमिक के प्रतिफलः** अगर एक दिन में एक परिवार के श्रमिक के प्रतिफल को ज्ञात करना है तो निम्नलिखित फार्मूला दिया गया हैः

$$= \frac{\text{परिवार के श्रम की आय}}{\text{परिवार के श्रम की कार्य के दिन}}$$

(ब) **प्रति श्रमिक प्रतिफलः** उत्पादन-आगत की लागत

=

(स) संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में, जहाँ श्रम का एक सीमित साधन होता है, श्रम की कार्यकुशलता निम्नलिखित तत्त्वों से निर्णय लिया जाता है।

(i) प्रति श्रमिक, फसल के हेक्टेयर की संख्या।

(ii) प्रति मनुष्य, गायों की संख्या या प्रति मनुष्य दूध की मात्रा जितनी उत्पादित या बेची गई है।

(iii) प्रति मनुष्य, अण्डे देनेवाली मुर्गी की संख्या।

(iv) प्रति मनुष्य, फल की फसल की हेक्टेयर की संख्या।

श्रम की कार्यकुशलता में व द्धि करने के उपाय

1. फार्म मैनेजर को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन उपकरणों तथा औजारों का प्रयोग करना है, उनकी अच्छी दशा होनी चाहिए।

2. फार्म मैनेजर, श्रमिकों को उनकी रुचियों के अनुसार कार्य देना चाहिए।

3. जहाँ प्रक्षिशित श्रमिकों की आवश्यकता होती है, श्रमिकों को प्रशिक्षण अवश्य देना चाहिए।

4. श्रम की कला कौशल, श्रम की क्षमता, ईमानदारी, स्थायी कार्य की अवधि आदि को ध्यान में रखकर भुगतान करना चाहिए।

5. श्रमिकों के बच्चों, घर की सुविधाएँ, दवाइयों की सुविधाएँ, शैक्षणिक सुविधाएँ तथा श्रमिकों को मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध करवानी चाहिए।

3. **पूँजी की कार्यकुशलता माप:** पूँजी की कार्यकुशलता माप को जानने के लिए भी निम्नलिखित उपाय होते हैं:-

(अ) **अतिरिक्त खर्चे:** इसमें स्थिर लागतें, घिसावट, वार्षिक बीमा प्रीमियम, कुल निवेश, भूमि, आय, पानी के कर, अतिरिक्त करों पर ब्याज को शामिल किया जाता है।

$$\text{अतिरिक्त खर्चे का अनुपात} = \frac{\text{प्रतिवर्ष कुल स्थिर लागत}}{\text{सकल आय}}$$

इस अनुपात को उत्पादन में व द्धि करके कम किया जा सकता है। यह अनुपात जितना कम होगा, उतना ही स्थिर पूँजी का अधिक कार्यकुशल प्रयोग होगा।

(ब) **क्रियाशील अनुपात:** क्रियाशील अनुपात से अभिप्राय उन क्रियाशील खर्चों से है जो कृषि उत्पादन को प्राप्त करने के लिए किए जाते हैं।

$$\text{क्रियाशील अनुपात} = \frac{\text{कुल क्रियाशील लागत}}{\text{कुल पूर्ण सम्पत्ति}} \times \frac{100}{10}$$

यह अनुपात जितना कम होता है, उतनी ही विशेष पूँजी की कार्यकुशलता अधिक होगी।

(स) **सकल आय की प्रति इकाई पूँजी:** सकल आय की एक इकाई 100 रुपये के बराबर हो सकती है।

$$= \frac{\text{कुल निवेशित पूंजी}}{\text{सकल आय}}$$

यह अनुपात जितना कम होगा उतनी ही पूँजी की अधिक कार्यकुशलता होगी। कार्यकुशल आय के उत्पादन के लिए कम पूँजी की आवश्यकता होगी।

(द) **पूँजी की बिक्री की दर:** यह धारणा केवल कृषि में ही प्रयोग में लाई जाती अपितु औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रयोग की जाती है।

पूँजी की बिक्री की दर =

बिक्री की दर जितनी अधिक होगी, उतना ही फार्म व्यवसाय के लिए अच्छा होगा।

4. **फार्म की आय या लाभ कार्यकुशलता मापः** इस माप को निम्नलिखित तरीकों से व्यक्त/प्रस्तुत किया जाता है।

(i) **फार्म की शुद्ध नकद आयः** उत्पादन से कुल नकद प्राप्तियाँ-कुल नकदी क्रियाशील खर्चे

(ii) **शुद्ध फार्म आयः** शुद्ध नकदी आय + माल सूची में परिवर्तन

(iii) **फार्म की आयः** शुद्ध फार्म आय + घर में प्रयोग की गई फार्म के उत्पादन का मूल्य

(iv) **पारिवारिक श्रम आयः** फार्म अन्य-फार्म पूँजी पर दिया गया ब्याज

(v) **प्रबन्ध का प्रतिफलः** पारिवारिक श्रम की आय-पारिवारिक श्रम का अनुमानित मूल्य

उत्पादन के किसी विशेष साधन की कार्यकुशलता जानने के लिए उपरोक्त माप का प्रयोग किया जा सकता है। फार्म की आय में व द्धि, उत्पादन के विभिन्न साधनों की संगठित कार्यकुशलपूर्वक प्रयोग से की जा सकती है।

अध्याय-8
फार्म बजट व लागत धारणाएँ
(Concept of Cost and Farm Budget)

फार्म बजट की परिभाषा

फार्म बजट, फार्म-योजना के विश्लेषण की विधि है, जिसके अन्तर्गत फार्म-योजना की सभी क्रियाओं को मुद्रा के रूप में परिवर्तित किया जाता है। फार्म-बजट, फार्म-योजना से प्राप्त होने वाली कुल आय, लागत एवं लाभ ज्ञात करने की विधि है। फार्म-बजट से कृषकों को ज्ञात हो जाता है कि फार्म पर कौन सी फसल को अपनाने से, उत्पादन की कौन सी विधि अपनाने से एवं उत्पादन साधन की कितनी मात्रा के प्रयोग से लाभ अधिक होता है। फार्म-बजट, फार्म-योजना के अनुसार भविष्य में मुद्रा व्यय करने एवं प्राप्त होनेवाली आय की योजना को सूचित करता है।

फार्म बजट की आवश्यकता

कृषि पहले की तरह अब जीवन निर्वाह का साधन नहीं रह गई है। इसने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है और किसी भी व्यवसाय की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए एक कार्य योजना बनाई जाए तथा हर क्रिया का लेखा-जोखा रखा जाए। इसी आधार पर हम कृषि व्यवसाय में लागत में कमी व उत्पादन में व द्धि करके अधिकतम मुनाफा कमा सकेंगे। इसलिए फार्म बजट बनाना जरूरी हो जाता है।

फार्म बजट बनाना वर्तमान में कृषि के क्षेत्र में तकनीकी ज्ञान के प्रसार एवं कृषकों द्वारा तकनीकी ज्ञान के अधिक उपयोग के कारण भी आवश्यक हो गई है। तकनीकी ज्ञान के उपयोग से फार्म-व्यवसाय की आय एवं लागत पर प्रभाव पड़ता है। अतः तकनीकी ज्ञान के प्रसार की अवस्था में फार्म से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषकों द्वारा फार्म-योजना एवं बजट बनाना आवश्यक होता है।

मौसम व कीमतों की अनिश्चितता की स्थिति में भी फार्म-योजना का बनाना आवश्यक होता है। एक बार की तैयार की हुई फार्म-योजना, मौसम एवं कीमतों की अनिश्चितता की अवस्था में आगामी वर्षों में लागू नहीं हो सकती। अमुक फसल जो वर्तमान कीमतों के स्तर पर लाभप्रद है, वह उत्पाद या उत्पादन-साधनों की कीमतों में परिवर्तन के कारण भविष्य में कम लाभप्रद या नुकसानदेह भी हो सकती है। अतः प्रत्येक मौसम व वर्षा में फार्म-योजना बनाना व उसका पुनरावलोकन करना आवश्यक होता हैं

उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त, कृषकों के पास व्यवसाय में निवेश करने के लिए अधिक पूँजी होने, कृषक द्वारा अधिक भूमि पट्टेदारी पर लेने अथवा पुरानी फार्म-योजना में परिवर्तन करने

की इच्छा होने पर भी फार्म-योजना का बनाना आवश्यक है।

फार्म बजट के प्रकार

फार्म बजट दो प्रकार के होते हैं। जो कि निम्नलिखित हैं-

1. सम्पूर्ण फार्म बजट
2. आंशिक फार्म बजट

इनकी विस्त त व्याख्या इस प्रकार है-

1. **सम्पूर्ण फार्म बजट** - जब सम्पूर्ण फार्म के लिए एक या ज्यादा वर्ष के लिए योजना तैयार की जाती है तो उसे सम्पूर्ण फार्म बजट कहा जाता है। इसकी आवश्यकता निम्न परिस्थितियों में महसूस की जाती है-
   - I. जब कृषक फार्म पर सिंचाई के पानी की मात्रा में व द्धि करता है, जैसे फार्म पर नए कुओं का निर्माण, पुराने कुओं को गहरा करना, नलकूप लगाना आदि।
   - II. जब कृषक फार्म पर लिए जानेवाले उद्यमों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना चाहता है, जैसे खाद्यान्न के स्थान पर सब्जी, फल, पशुपालन आदि का चुनाव।
   - III. जब कृषक कृषि के लिए अतिरिक्त भूमि क्रय करता है या बटाई पर लेता है।
   - IV. जब कृषक फार्म पर शक्ति के साधन में परिवर्तन करता है, जैसे बैलों के स्थान पर ट्रैक्टर का प्रयोग।
2. **आंशिक फार्म-बजट** - आंशिक फार्म बजट के अन्तर्गत पूरे फार्म की फार्म-योजना न बनाकर, फार्म पर किसी एक उद्यम अथवा उसकी उत्पादन विधि अथवा उत्पादन-साधनों की मात्रा का प्रयोग करने से जो परिवर्तन आता है, उसकी योजना बनाई जाती है। आंशिक फार्म-बजट से ज्ञात होता है कि कौन सी फसल, उत्पादन-विधि या उत्पादन-साधन की कितनी मात्रा का उपयोग कृषकों के लिए लाभकर होगा। आंशिक फार्म-बजट निम्न परिस्थितियों में बनाना आवश्यक होता है:
   - I. देशी किस्म के बीजों के स्थान पर संकर या बोने किस्म के बीजों का उपयोग।
   - II. देर से पकनेवाली किस्म के स्थान पर जल्दी पकनेवाली किस्म का चुनाव।
   - III. दूध उत्पादन के लिए फार्म पर गाय के स्थान पर भैंस पालना।
   - IV. सिंचाई के डीजल पम्प के स्थान पर विद्युत पम्प का उपयोग अथवा रहट के स्थान पर पम्पिंग सेट का उपयोग करना।
   - V. निराई के लिए श्रमिकों के स्थान पर खरपतवारनाशी दवाईयों का उपयोग करना।
   - VI. फसल की कटाई के लिए श्रमिकों के स्थान पर रीपर का उपयोग।
   - VII. फसलों के गायटा के लिए बैलों के स्थान पर थ्रैसर का उपयोग।
   - VIII. नत्रजन उर्वरक की पूर्ति के लिए यूरिया के स्थान पर कैल्शियम अमोनियम

नाइट्रेट या अन्य नत्रजन उर्वरक का प्रयोग।

निम्न उदाहरण आंशिक बजट बनाने की विधि प्रदर्शित करता है-

कई जगहों पर कृषक खेत की जुताई बैलों द्वारा देशी हल की सहायता से करते हैं। कृषक खेत की जुताई ट्रैक्टर की सहायता से भी कर सकते हैं। ट्रैक्टर द्वारा खेत की जुताई के समय पर तथा उचित गहराई तक की जाने के कारण गेहूँ का उत्पादन बैलों द्वारा जुताई किए जाने की अपेक्षा 0.25 क्विंटल प्रति हेक्टेयर अधिक होता है। भूमि की जुताई की दोनों विधियों की आर्थिक द ष्टि से तुलना आंशिक बजट बना करके की जा सकती है।

सारणी 8.1

खेत की जुताई करने के लिए बैलों के श्रम एवं ट्रैक्टर के उपयोग का आंशिक बजट

व्यय	आय
(अ) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति हेक्टर लागत में व द्धि ट्रैक्टर द्वारा एक हैक्टर क्षेत्र में जुताई किए जाने की लागत रु.460.00	(अ) ट्रैक्टर द्वारा एक हैक्टर क्षेत्र में एक जुताई किए जाने पर प्रति हैक्टर लागत में कमी (i) मानव श्रम में कमी 20 घंटे @ रु.12.50 प्रति घंटे = रु. 500.00 (ii) बैलो के श्रम की बचत 20 घंटे @ रु.13.75 प्रति घंटे = रु. 275.00
(ब) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने पर प्रति हेक्टर उत्पादन/आय में कमी-शून्य	(ब) ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति हैक्टर उत्पादन/आय में व द्धि 0.25 क्विं. गेहूं @ रु.610/ क्विं. = रु. 152.50
टैक्ट्रर के उपयोग से होनेवाली प्रति हैक्टर अतिरिक्त लागत एवं आय में कमी की कुल राशि = रु. 460.00	ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने पर प्रति हैक्टर लागत में कमी तथा आय में व द्धि = रु. 927.50
ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से प्रति हैक्टर आय में शुद्ध अन्तर (लाभ) = रु. 467.50	

सारणी 8.1 में दिए गए आंशिक बजट से स्पष्ट है कि बैलों द्वारा जुताई करने के स्थान पर ट्रैक्टर द्वारा जुताई करने से कृषकों की आय में 467.50 रु. प्रति हैक्टर की अतिरिक्त व द्धि होती है।

फार्म बजट बनाना
(Preparing Farm Budget)

फार्म-बजट बनाते समय कृषक अथवा विशेषज्ञ को निम्न बातों का ज्ञान होना आवश्यक है-

(i) **उद्देश्य** - फार्म-योजना बनाने के उद्देश्य विभिन्न कृषकों के लिए विभिन्न होते हैं। कुछ कृषकों का फार्म-योजना बनाने में उद्देश्य अधिक आय की राशि प्राप्त करना होता है जबकि दूसरे कृषकों का उद्देश्य कम पूँजी-निवेश करना अथवा कम जोखिम

वहन करना होता है। उपर्युक्त सभी उद्देश्यों को एक ही फार्म-योजना में शामिल कर पाना सम्भव नहीं होता है।

(ii) **उपलब्ध उत्पादन-साधनों की मात्रा** - विभिन्न कृषकों के पास उपलब्ध उत्पादन-साधन- भूमि, सिंचाई की सुविधा, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध क्षमता में विभिन्नता के कारण, प्रत्येक कृषक के लिए प थक् रूप से फार्म-योजना बनानी होती है।

(iii) **तकनीकी ज्ञान का स्तर** - कृषकों में कृषि से संबंधित तकनीकी ज्ञान के उपयोग स्तर में परस्पर विभिन्नता पाई जाती है जिसके कारण कुछ कृषक नई विधियों अथवा उद्यमों को फार्म पर अपनाने को तत्पर होते हैं, जबकि अन्य कृषक ज्ञान के अभाव में उन्हें फार्म पर अपनाना नहीं चाहते हैं।

(iv) फार्म-प्रबन्ध क्षमता एवं जोखिम-वहन शक्ति का ज्ञान।

(v) **योजना-क्षितिजों (Planning-horizons) की विभिन्नता का ज्ञान** - कुछ कृषक दीर्घकाल को अधिक महत्त्व देते हैं तो कुछ आकस्मिक लाभ पाना चाहते हैं। जमींदार व काश्तकार की सोच में फर्क होने के कारण प थक् फार्म योजना तैयार की जाती है।

(vi) उत्पादन-साधनों एवं प्रचलित बाजार कीमतों का ज्ञान।

फार्म-बजट बनाने की विधि

फार्म-बजट बनाने में कृषक अथवा विशेषज्ञ को निम्न सूची के अनुसार कार्य करना होता है-

(1) **फार्म पर उपलब्ध उत्पादन साधनों की सूची तैयार करना** - कृषक के पास उपलब्ध साधन उसके द्वारा बनाई जानेवाली योजना का आधार बनते हैं। यही इस योजना की सीमाओं को भी तय करते हैं। इसमें कृषक के पास उपलब्ध जमीन, श्रम, पूँजी, सिंचाई व यंत्र आदि की मात्रा शामिल होती हैं।

उत्पादन-साधनों की सूची के आधार पर फार्म की भावी योजना तैयार की जाती है। निर्मित योजना की सफलता के लिए फार्म पर आवश्यक मात्रा में उत्पादन-साधनों का होना आवश्यक है। उत्पादन-साधनों के अभाव में फार्म पर निर्मित योजना कार्यान्वित नहीं हो सकती है। फार्म पर उत्पादन के सभी साधन आवश्यक मात्रा में उपलब्ध होने की अवस्था में ही कृषक फार्म-योजना को कार्यान्वित करके लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त कर सकते हैं। फार्म पर सभी उत्पादन-साधनों का बाहुल्य होते हुए भी फार्म-योजना से प्राप्त होनेवाले लाभ की राशि, फार्म पर सीमित उत्पादन-साधन की उपलब्ध मात्रा पर निर्भर करती है।

(2) **फार्म की वर्तमान योजना का अध्ययन एवं विश्लेषण करना** - नई योजना बनाने से पहले पुरानी योजना पर बारीकी से नजर डालनी चाहिए। फार्म की पुरानी फार्म-योजना के अध्ययन एवं विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य फार्म पर पाई जानेवाली कमियों को ज्ञात करना है, जिनके कारण कृषक को वर्तमान में अनुकूलतम लाभ की राशि प्राप्त नहीं हो रही है। फार्म की भावी योजना बनाते समय इन कमियों को दूर करने की कोशिश की जाती है, जिससे कृषक निर्मित भावी फार्म-योजना से अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कर सके।

(3) **फसलों का चुनाव एवं उनके बजट तैयार करना** - नई योजना तैयार करने में सर्वप्रथम फसलों का चुनाव करना होता है। फार्म पर विभिन्न उद्यमों का चुनाव निम्न कारकों पर निर्भर करता है-

(i) क्षेत्र की जलवायु एवं मिट्टी की किस्म।

(ii) विभिन्न उद्यमों के उत्पादन में कृषक का अनुभव एवं दक्षता।

(iii) कृषक परिवार के लिए खाद्यान्न, तिलहनें, दालें, सब्जी की आवश्यक मात्रा।

(iv) पशुओं के लिए चारे की आवश्यक मात्रा।

(v) विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक उत्पादन-साधनों, जैसे-सिंचाई के लिए पानी, पूँजी, श्रम आदि की मात्रा का ज्ञान।

(vi) क्षेत्र विशेष में उद्यमों के उत्पादन पर सरकारी प्रतिबंध।

(vii) विभिन्न उद्यमों से प्राप्त होनेवाले प्रति हैक्टर आकलित लाभ की राशि।

(viii) भूमि की उर्वरा-शक्ति को बनाए रखनेवाले उद्यमों का ज्ञान।

(ix) उद्यमों की विपणन सम्भावना एवं फार्म की बाजार से दूरी।

(x) विभिन्न उद्यमों के चुनाव में सामाजिक एवं धार्मिक बन्धन।

फसलों का चयन करने के बाद प्रत्येक फसल के लिए बजट तैयार किया जाता है। इस प्रक्रिया में सभी प्रकार की लागतों (आंतरिक व बाहरी) व आय में अन्तर को ज्ञात किया जाता है।

फसलों के बजट द्वारा विभिन्न फसलों की प्रति क्विंटल उत्पादन-लागत भी ज्ञात की जा सकती है। विभिन्न फसलों की प्रति क्विंटल उत्पादन-लागत के आँकड़ों के आधार पर सरकार बफर स्टॉक निर्माण हेतु उनकी वसूली कीमत निर्धारित करती है। मुख्य उत्पाद की प्रति क्विंटल उत्पादन-लागत निम्न दो विधियों से ज्ञात की जाती है-

(i) **उपोत्पाद को सम्मिलित नहीं करते हुए** - इस विधि में उपोत्पाद पर हुई लागत व उससे प्राप्त आय को मुख्य उत्पाद के साथ सम्मिलित नहीं किया जाता है। मुख्य उत्पादन की प्रति क्विंटल उत्पादन-लागत ज्ञात करने का सूत्र निम्न है-

$$\text{उत्पादन की प्रति क्विंटल उत्पादन लागत} = \frac{\text{प्रति हैक्टर कुल क ित लागत}}{\text{मुख्य उत्पाद की प्रति हैक्टर प्राप्त मात्रा (क्विंटल में)}}$$

(ii) **उपोत्पाद को सम्मिलित करते हुए** - इस विधि में उपोत्पाद से प्राप्त आय को प्रति हैक्टर कुल की गई लागत में से घटाने पर प्राप्त शेष लागत में कुल उत्पाद की मात्रा का भाग दिया जाता है। सूत्र के अनुसार-

$$\text{उत्पादन की प्रति क्विंटल उत्पादन लागत} = \frac{\text{प्रति हैक्टर कुल क ितलागत उत्पादोत्पत से प्राप्त आय}}{\text{मुख्य उत्पाद की प्रति हैक्टर प्राप्त मात्रा (क्विंटल)}}$$

फसलों के बजट बनाने का प्रोफार्मा आगे दिया जा रहा है। फसलों के समान ही पशुओं के बजट तैयार किए जाते हैं।

फसलों के बजट बनाने का प्रोफार्मा

फसल का नाम ..... किस्म ..... वर्ष ..... क्षेत्र .....

	विवरण	मात्रा (प्रति हैक्टर)	कीमत (रु. प्रति इकाई)	कुल मूल्य (रुपयों में)
1.	कुल कृषित लागत			
	(i) भूमि की तैयारी			
	(ii) बुवाई से पूर्व सिंचाई			
	(iii) खाद एवं उर्वरक की लागत			
	गोबर की खाद			
	नत्रजन उर्वरक			
	फासफोरस उर्वरक			
	पोटाश उर्वरक			
	(iv) बीज एवं बीज उपचार			
	(v) सिंचाई			
	(vi) अन्तःकृषि कार्य, जैसे-निराई, गुड़ाई आदि			
	(vii) कीटनाशक दवाइयों का उपयोग			
	(viii) कटाई, गायदा एवं औसाई			
	(ix) विद्युत, डीजल तेल का उपयोग			
	(x) श्रम की आवश्यकता			
	(xi) विविध लागत			
	(xii) कार्यशील पूँजी का फसल के उत्पादन के औसत समय से आधे समय का ब्याज			
	कुल कृषित लागत			
2.	कुल आय			
	(i) मुख्य उत्पाद			
	(ii) उपोत्पाद			
	कुल आय			
3.	शुद्ध लाभ/स्थाई फार्म उत्पादन-साधनों का प्रतिफल			
4.	प्रति क्विंटल उत्पादन लागत			

लागत की धारणाएँ
(Cost Concepts)

विभिन्न फार्म-प्रबन्ध अध्ययनों में उत्पादन की लागत ज्ञात करने में निम्न चार लागत धारणाएँ

प्रयोग की गई हैं। इन्हीं लागतों के आधार पर विभिन्न उत्पादक कारकों को प्राप्त होनेवाली आय की परिकल्पना की गई है। इन लागतों की संक्षिप्त व्याख्या निम्न हैः

1. **लागत अ$_1$ (Cost A$_1$)** – इस लागत में वे सभी खर्चे सम्मिलित होते हैं जो कृषक द्वारा नगद या वस्तु के रूप में भुगतान किए जाते हैं। इसमें सम्मिलित लागत के अवयव निम्न हैं-

   (i) स्थाई एवं अस्थाई श्रमिकों की लागत।

   (ii) स्वयं एवं किराए पर लिए गए बैलों के श्रम की लागत।

   (iii) स्वयं एवं किराए पर ली गई मशीनों की लागत।

   (iv) उर्वरक की लागत।

   (v) खाद की लागत (स्वयं एवं क्रय किए गए)

   (vi) बीज की लागत (फार्म पर उत्पादित एवं क्रय किए गए)।

   (vii) कीटनाशी दवाईयों की लागत।

   (viii) सिंचाई की लागत।

   (ix) नहर के पानी पर दी गई लागत राशि।

   (x) भू-राजस्व, अभिभार एवं अन्य भुगतान किए गए करों की राशि।

   (xi) फार्म-भवन, मशीनों, सिंचाई साधनों एवं फार्म औजारों की घिसावट की लागत।

   (xii) अन्य लागत जैसे- छोटे औजारों के रख-रखाव की लागत एवं अन्य कार्यों की लागत।

   (xiii) कार्यशील पूँजी का ब्याज।

2. **लागत 'अ$_2$' (Cost A$_2$)** – लागत 'अ$_1$' में बटाई पर ली गई भूमि की देय लगान राशि सम्मिलित करने पर जो लागत आती है, वह लागत 'अ$_2$' कहलाती है। दूसरे शब्दों में एक आसामी कृषक (Tenant farmer) द्वारा दिए गए सभी व्यय लागत 'अ$_2$' कहलाती है।

   लागत अ$_2$ = लागत अ$_1$ + बटाई पर ली गई भूमि की देय लगान की राशि।

3. **लागत 'ब' (Cost B)** – लागत 'अ$_2$' में स्वयं की भूमि की आरोप्य लगान राशि (Imputed rental value) एवं स्वयं की स्थाई निवेश पूँजी (भूमि के अतिरिक्त) का ब्याज सम्मिलित करने से प्राप्त लागत को लागत 'ब' कहते हैं।

   लागत ब = लागत 'अ$_2$' + स्वयं की भूमि की आरोप्य लगान राशि + स्वयं की स्थाई निवेश पूँजी (भूमि के अतिरिक्त) का ब्याज।

4. **लागत 'स' (Cost C)** – लागत 'ब' में पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि (Imputed value of family labour) सम्मिलित करने पर प्राप्त राशि 'स' कहलाती है। यह लागत फार्म पर होनेवाली कुल लागत भी कहलाती है।

   लागत 'स' = लागत 'ब' + पारिवारिक श्रम की आरोप्य राशि।

अध्याय-9
कृषि में पूर्ति की अनुक्रिया तथा उत्पादकता का वाद-विवाद
(Supply Response and Productivity Debate in Agriculture)

संसार के बहुत से क्षेत्रों में, कृषि उत्पादन एक निजी व्यवसाय होता है। कृषि द्वारा उत्पादित पदार्थों की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए कृषि विकास को प्रोत्साहित करनेवाले प्रयास बाजार की शक्तियों के द्वारा ही कार्य करते हैं। गतिहीन कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए "कीमत नीति" एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। इस संदर्भ में प्रो० शूलट्ज कहते हैं, "क्योंकि बहुत सारे किसानों के बीच तथा बाकी की अर्थव्यवस्था में उत्पादन क्रियाओं को संगठित तथा सम्पूर्ण करने के अभी तक कोई जानी-मानी विधि नहीं है (केवल कीमत प्रणाली को छोड़ कर)। अतः कीमतों के एक कार्यकुशल प्रणाली की अति अत्यधिक आवश्यकता होनी चाहिए।"

कृषि उत्पादन की मात्रा में वह परिवर्तन जो कि किसानों द्वारा कृषि उपजों की कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप लाया जाता है उसे 'पूर्ति अनुक्रिया' कहते हैं। अतः बाजार कीमत में वह परिवर्तन जो कि कृषि फसलों में प्रति एकड़ उत्पादन के तथ्य का फलन होता है उसे 'फसल एकड़ अनुक्रिया' कहते हैं।

कीमतों में परिवर्तन के कारण किसानों की अनुक्रिया निम्नलिखित प्रकार की हो सकती है।

1. प्रत्यक्ष धनात्मक कीमत अनुक्रिया
2. अमहत्त्वपूर्ण कीमत अनुक्रिया

इस परिकल्पना के आधार पर अगर किसानों को अधिकतम शुद्ध आय के उद्देश्य को प्राप्त करना है तो कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप धनात्मक अनुक्रिया का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। शूलटज के अनुसार "जिस दर पर किसान परम्परागत खेती में स्थापित होते हैं तथा उत्पादन के नए साधन को अपनाते हैं, वह इसके लाभ (जो कि जोखिम तथा अनिश्चितता पर आधारित होता है) पर निर्भर करता है। तथा इस अनुक्रिया की स्थिति बिल्कुल वैसी ही होती है जैसे कि आधुनिक खेती अपनाने पर होती है। यह मत कि गरीब देशों में किसान या तो कीमतों में परिवर्तनों के प्रति उदासीन और हठी होते हैं - यह स्पष्ट झूठ है तथा इस मत पर आधारित नुकसान दायक कीमतों की नीतियाँ हमेशा ही कृषि की कार्यकुशलता को दुर्बल/कम करती हैं।

अल्पविकसित देशों में पूर्ति की अनुक्रिया के अध्ययन हेतु कई अध्ययन किए जा चुके हैं प्रो. दान्तावाला, शुलटज, फालकोन तथा राज कृष्ण ने कीमत तथा अन्य प्रोत्साहित करनेवाले तत्त्वों का कुल उत्पादन पर धनात्मक अनुक्रिया का समर्थन किया है इसके विपरीत अन्य अर्थशास्त्रियों

जैसे कि ओलसोन, खटखारे आदि के अनुसार पूर्ति की कीमत लोच, अल्पविकसित कृषि में शून्य/ऋणात्मक होती है।

कीमतों में परिवर्तन के कारण, किसानों के व्यवहार में जो परिवर्तन आता है, सामान्यतया तथ्यों पर आधारित अध्ययनों की सहायता ली जाती है। वे तथ्यों पर आधारित अध्ययन जो कीमतों में परिवर्तन की पूर्ति अनुक्रिया को मापते हैं, उनमें दो निम्नलिखित द ष्टिकोणों को शामिल किया गया है-

1. रचित विधि द ष्टिकोण
2. समय आधारित आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण

1. **रचित निधि द ष्टिकोणः** यह द ष्टिकोण उत्पादन फलन तथा व्यक्तिगत व्यवहार से सम्बन्धित उपलब्ध आंकड़ों तथा सूचनाओं के आधार पर पूर्ति फलनों का निर्धारण करती है।

2. **समय आधारित आँकड़ों की सांख्यिकीय विश्लेषणः** इस द ष्टिकोण के तीन ग्रुपों (कीमतों में परिवर्तन के कारण किसानों की अनुक्रिया को मापने की उपकरणों तथा तकनीकियों पर आधारित बंटवारा किया जा सकता है।

   कई अर्थशास्त्री जार्ज, मजूमदार तथा गुप्ता आदि ने ग्राफ तथा सारणी विश्लेषण का प्रयोग किया है। दूसरे ग्रुप में Regression या सहसम्बन्ध के गुणांक का प्रयोग किया है। इसमें रोबर्ट, सुब्राता तथा जोन आदि शामिल हैं।

   तीसरे ग्रुप में अनेक Regression को शामिल किया गया है इनमें मुख्य राव, हरडर और राजकृष्ण आदि शामिल हैं।

अल्पविकसित देशों में कृषि पदार्थों की पूर्ति अनुक्रिया को प्रभावित करनेवाले तत्त्व

कृषि पदार्थों की पूर्ति अनुक्रिया को प्रभावित करनेवाले बहुत से तत्त्व होते हैं यद्यपि उनमें से कीमत सिर्फ एक ही तत्त्व है। वो तत्त्व इस प्रकार से है। सिंचाई की सुविधाएँ, फसलों का हेर फेर, वर्षा, मौसम की दशाएँ, कीटनाशक तथा उर्वरकों की उपलब्धता बीज तथा अन्य बहुत सारे तत्त्व ऐसे होते हैं - जो कि किसान के इस निर्णय को प्रभावित करते हैं कि किस विशेष फसल को कितने क्षेत्र में बँटवारा करना है।

यह सामान्यतः मान लिया गया है कि कृषि उत्पादक आर्थिक तौर पर विचारवान होते हैं तथा वो कीमतों में परिवर्तन की धनात्मक अनुक्रिया करते हैं। जो कथन/प्रस्ताव विकसित देश जैसे U.S.A. तथा अन्य पश्चिमी देशों में सत्य होता है वो अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के कृषि क्षेत्र में आसानी से स्वीकृत नहीं किया जाता।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में, उत्पादन प्रेरित कीमत समर्थन नीति के फलस्वरूप कृषि खाद्य पदार्थों के उत्पादन में आवश्यक रूप से व द्धि नहीं होती तथा सामान्यतः इसके विपरीत की स्थिति भी हो सकती है। अल्पविकसित देशों में, कृषि व्यवसाय को एक व्यवसाय के नाते नहीं स्वीकार किया जाता बल्कि जिन्दगी का एक हिस्सा ही माना जाता है। अल्पविकसित देशों में किसानों की पूर्ति की अनुक्रिया को प्रभावित करनेवाले बहुत से कारक होते हैं; जो इस प्रकार से हैं:

1. **जोत का आकारः** जिन किसानों के पास जोत का छोटा आकार होता है वो उसमें से अधिक हिस्सा खाद्य पदार्थों को पैदा करनेवाले फसलों को आबंटित करते हैं ताकि उनके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके।

   बड़े किसान और छोटे किसान में वास्तविक अन्तर, इस बात पर निर्भर नहीं करता क्योंकि उन्हें बाजारी शक्तियों की जानकारी नहीं होती या अज्ञानता होती है। बल्कि पराजय/आघात की प्रव त्ति के कारण होता है।

   एक बड़ा किसान, अपनी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद, उसकी भूमि के विभिन्न प्रयोगों से मिलनेवाली आय में अन्तर के फलस्वरूप जोखिम को सहन कर सकता है। परन्तु छोटे किसान की स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है एक किसान जितना छोटा होगा, अपनी कुल जमीन में से जमीन के अधिक अनुपात को खाद्य पदार्थों के उत्पादन के लिए प्रयोग करेगा तथा खाद्य पदार्थों के उत्पादन से व्यावसायिक फसलों के उत्पादन में परिवर्तन (खिसकाव) करने का अधिक जोखिम उठाना पड़ता है।

2. **उत्पादकता में अन्तरः** कई बार उत्पादकता में इतना अधिक अन्तर होता है कि कीमतों में कम परिवर्तन का प्रभाव बिलकुल नगण्य/न के बराबर होता है। कई वस्तुओं के लिए सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन बहुत ही अधिक होने चाहिए ताकि जो फसलें प्रतियोगिता में होती हैं उनकी सापेक्षिक लाभ की मात्रा को कम किया जा सके।

3. **कीमत स्थिरताः** कीमत स्थिरता भी, कौन सी फसल कितने क्षेत्र में उठाई जानी है- इस बात को प्रभावित करती है एक विचारवान किसान, कम आय (परन्तु स्थिर) को प्राप्त करना पसन्द करेगा न कि उन फसलों को उगाना पसन्द करेगा जिनकी कीमतों में अस्थिरता अधिक हो। किसान का केवल अधिकतम लाभ को प्राप्त करना केवल एक ही उद्देश्य नहीं होता - किसान का अपना अस्तित्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण हेाता है।

4. **मौसन की स्थितियाँः** किसानों की पूर्ति की अनुक्रिया में मौसम विशेषकर वर्षा एक महत्त्वपूर्ण कारक होता है। अनिश्चित वर्षा की स्थिति में किसान कम आय देनेवाली फसलों को उगाना पसन्द करेंगे अगर ये फसलें सूखे की स्थिति का सामना करने में समर्थ होती हैं। इसके विपरीत, जिन किसानों के पास पानी की यकीनी/निश्चित सुविधा होती है वो कीमतों में परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पादन से सम्बन्धित आयोजन में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

5. **फसलों का हेर-फेरः** कई बार फसलों का हेर-फेर भी किसान की, कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप साधनों के आबंटन की स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। कीमतों में परिवर्तन को ध्यान में न रखकर भी, किसान भूमि की उपजाऊ-शक्ति/आवश्यक रासायनिक घटकों को बनाए रखने के लिए भी फसलों का हेर-फेर कर देता है।

फार्म आकार, उत्पादन तथा उत्पादकता का वाद-विवाद
(Farm Size, Production and Productivity Debate)

अर्थशास्त्रियों में फार्म आकार, उत्पादन तथा उत्पादकता एक विवादास्पद विषय है; इसके विचार विमर्श में मुख्य/केन्द्रबिन्दु फार्म के एक उपर्युक्त आकार के निर्धारण करने से है क्योंकि जैसे कि उद्योगों में काम करनेवाली इकाई का आकार, अल्प/आगम का स्तर निर्धारित करता है। उद्योगों में हमारे पास एक उत्पादन का ऐसा इष्टतम आकार होता है, जिस पर उत्पादन की

प्रति इकाई लागत न्यूनतम होती है। बिल्कुल इसी प्रकार, हमारे पास कृषि में भी एक ऐसी ही काम करनेवाली इकाई होती है जो दी हुई परिस्थितियों में किसानों को सबसे अधिक पैदावार देती है।

बड़े और छोटे फार्म के कामों में सम्बन्धित वाद-विवाद काफी समय से चर्चित रहा है कुछ अर्थशास्त्री साधनों के इष्टतम प्रयोग के लिए बड़े पैमाने की खेती, किसानों को एक न्यूनतम सन्तुष्टि प्रदान करनेवाला आय का स्तर तथा उपभोक्ताओं को उचित दामों पर खाद्यान्नों की उपलब्धता के तर्क का समर्थन करते हैं।

परन्तु कुछ अर्थशास्त्री छोटे पैमाने पर खेती को सामाजिक न्याय के द ष्टिकोण से जोरदार समर्थन करते हैं। कृषि में निर्धनता का फार्म के आकार से बहुत ही नजदीकी तथा गहरा सम्बन्ध होता है अस्सी प्रतिशत से भी अधिक फार्म परिवारों के पास छोटे तथा अनुपयुक्त आकार के फार्म होते हैं। क्योंकि, आय, फार्म के आधार पर निर्भर होती है अतः विकासशील देशों में, फार्म के छोटे आकार भी किसानों की निर्धनता के लिए, मुख्यतः जिम्मेदार तत्त्व होते हैं। अतः उत्पादन के स्तर, किसानों की आय अर्जित करने की क्षमता तथा फार्म इकाई की कार्यकुशलता को निर्धारित करने का काम करनेवाली इकाई का आकार ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है।

फार्म आकार तथा उत्पादकता का वाद-विवाद

फार्म आकार तथा उत्पादकता से सम्बन्धित अर्थशास्त्रियों के विचार एकदम स्पष्ट नहीं हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार फार्म के आधार तथा उत्पादकता में विपरीत सम्बन्ध है (जैसे-जैसे फार्म का आकार बढ़ता जाता है, उत्पादकता घटती जाती है) तथा कुछ के अनुसार दोनों तत्त्वों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं होता।

जबकि कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार दोनों तत्त्वों में धनात्मक सम्बन्ध होता है (जैसे-जैसे फार्म का आकार बढ़ता जाता है, उत्पादकता में भी व द्धि होती जाती है) कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार "उत्पादकता फार्म के विभिन्न आकारों के प्रति तटस्थ होती है।" कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार फार्म के एक विशिष्ट आकार तक ही, उत्पादकता से विपरीत सम्बन्ध होता है तथा फार्म के सभी आकारों तक उत्पादकता का विपरीत सम्बन्ध नहीं होता।

ए.के.सेन के अनुसार, भारत में फार्म के आकार तथा उत्पादकता में विपरीत सम्बन्ध होता है उदाहरणार्थ जैसे-जैसे फार्म के आकार में व द्धि होती है, उत्पादकता घटती जाती है। सेन के अनुसार "छोटे फार्म पर उत्पादकता अधिक होती है न कि बड़े फार्म पर"

अन्य अर्थशास्त्रियों, ए०एम० खुसरो, सी०एच० हनुमन्तराव आदि के अनुसार, विश्व में बहुत सी अल्पविकसित देशों में "जैसे जैसे फार्म का आकार घटता जाता है प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ती जाती है। खुसरो भी "जैसे जैसे फार्म का आकार घटता जाता है प्रति ऐकड़ी उत्पादकता बढ़ती जाती है।" खुसरो के अनुसार भी "जैसे-जैसे एक फार्म का आकार बढ़ता जाता है प्रति एकड़ सकल उत्पादकता घटती जाती है।"

सेन ने फार्म के आधार तथा उत्पादकता के विपरीत सम्बन्ध को एक रेखाचित्र की सहायता से व्याख्या की है-

चित्र में LP वक्र, श्रम की इकाई एकड़, भूमि की दी हुई मात्रा तथा श्रम की शुद्ध सीमान्त उत्पादकता की अनुसूची को प्रस्तुत करती है। अगर खेती, परिवार के श्रम पर आधारित है तथा यदि परिवार में प्रति एकड़ श्रम भी पूर्ति OP के समान या इससे अधिक होती है, तो अनुमानित OP श्रम की मात्रा का प्रयोग किया जाएगा (यदि श्रम के और अतिरिक्त रोजगार के अवसर

उपलब्ध नहीं होते हैं। अगर श्रम की मजदूरी दर OQ है श्रम पर आधारित फार्म की पूर्ति OC होगी।

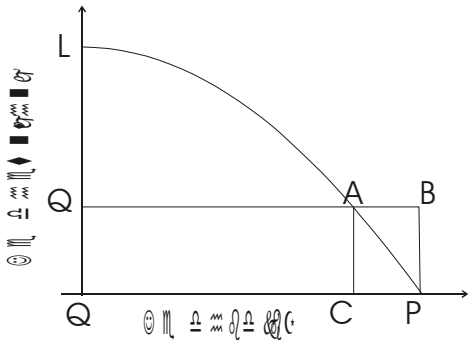

यह श्रम आगत का वह स्तर है जिस पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता तथा श्रम की मजदूरी एक दूसरे के समान होती है। परिणामस्वरूप हम कह सकते हैं कि छोटे फार्म पर भूमि-श्रम का अनुपात, बड़े फार्म की तुलना में अधिक होता है। छोटे फार्म तथा श्रमिकों की अधिक गहनता, बड़े फार्म की तुलना में उत्पादकता को अधिक बढ़ाती है।

खुसरो, जगदीश भगवती तथा हनुमन्तराव के अनुसार, बड़े फार्म की तुलना में छोटे फार्म की उत्पादकता अधिक होती है क्योकि जैसे-जैसे फार्म का विस्तार होता जाता है, तटस्थ तथा बेकार भूमि का अनुपात कुल भूमि की तुलना में बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप प्रति एकड़ उत्पादकता तथा फार्म की आय में कमी होती जाती है। इसलिए, छोटे किसान उनके आगतों का अधिक गहनता से प्रयोग करते हैं तथा अधिक तथा कार्यकुशल प्रबन्ध उपलब्ध करवाते हैं।

सेन की व्याख्या कुछ मान्यताओं पर आधारित है। सेन के अनुसार, परिवार के श्रमिकों को और बाहरी रोजगार के अवसर नहीं है तथा उनकी अवसर लागत भी शून्य होती है। अगर वर्तमान मजदूरी दर पर बाहरी रोजगार के अवसर मौजूद होते हैं तो परिवार के सदस्य केवल वहीं तक श्रम का प्रयोग करेंगे जहाँ पर वर्तमान मजदूरी दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। अगर अर्थव्यवस्था में व्यापक स्तर पर बेरोजगारी होती है तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य होगी तथा किसान अपने श्रमिक को तब तक रोजगार प्रदान करता रहेगा तब तक श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता शून्य के बराबर नहीं हो जाती। क्योंकि सामान्य बेरोजगारी उतनी सीमा तक नहीं होती जिसके फलस्वरूप सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जाती है। क्योकि सेन के अनुसार, रोजगार के और क्षेत्रों में अवसरों की सम्भावनाएँ मौजूद होती हैं। इसके परिणामस्वरूप सीमान्त अवसर लागत कभी भी शून्य नहीं होती, परन्तु सदैव ही इकाई से कम होती है इस प्रक्रिया के फलस्वरूप बड़े फार्म पर प्रति एकड़ उत्पादकता, छोटे फार्म की प्रति एकड़ उत्पादकता से कम होगी। बड़े फार्म उस बिन्दु के बाद श्रमिक को रोजगार नहीं देंगे, जहाँ श्रम की सीमान्त उत्पादकता मजदूरी दर के बराबर होगी। इसके विपरीत, छोटे फार्म श्रमिक को वहाँ तक रोजगार प्रदान करते रहेंगे जहाँ पर श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता उनकी अवसर लागत के बराबर होगी।

प्रो. खुसरो ने सेन की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की हैं-

1. परिवार के श्रमिकों की रोजगार के बाहरी अवसरों की उपलब्धता न होने की मान्यता सही नहीं है।

2. सेन की व्याख्या केवल वहीं तक सही है जब हम छोटे फार्म की उत्पादकता की तुलना करते हैं। उदाहरण के लिए एक परिवार के श्रमिकों द्वारा संचालित तीन एकड़ का फार्म तथा दस एकड़ मजदूरी पर आधारित फार्म।

3. सेन के अनुसार परिवार के श्रम तथा भाड़े के श्रमिक में एकरूपता पाई जाती है। यह सही नहीं है क्योंकि भारतीय कृषि में परिवार का श्रमिक भाड़े के श्रमिक की

तुलना में अधिक तथा अच्छा कार्य करता है। फलस्वरूप परिवार श्रमिक द्वारा उत्पादित उत्पादन भाड़े के श्रमिकों द्वारा उत्पादित उत्पादन से अधिक होता है।

उपरोक्त विचारधारा की कई अर्थशास्त्रियों ने आलोचना की है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार, फार्म के आकार तथा उत्पादकता में विपरीत सम्बन्ध कुछ ही क्षेत्रों में ही लागू हो सकता है परन्तु एक सार्वभौमिक घटना नहीं होती। अगर आधुनिक तकनीकी का प्रयोग किया जाए तो यह निश्चित स्पष्ट तौर से नहीं कहा जा सकता कि फार्म के आकार में व द्धि करने से आवश्यक तौर पर ही प्रति एकड़ उत्पादकता कम होगी। उनके अनुसार जैसे ही तकनीकी में परविर्तन होता है, बड़े जमींदार किसान भूमि को अधिक गहन प्रयोग करने तथा आधुनिक आगतों का अधिक प्रयोग करते हैं ताकि नई तकनीकी प्रयोग करने से अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

अन्त में इस विचारधारा की आलोचना तथा समर्थन में तर्कों-वितर्कों का विश्लेषण करने के बाद निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है-

1. फार्म आकार तथा उत्पादकता में विपरीत सम्बन्ध देश के किसी हिस्सों में किसी समय प्रचलित हो सकता है परन्तु सभी जगह सभी समय में लागू नहीं हो सकता।
2. यद्यपि यह उपरोक्त विपरीत सम्बन्ध लागू भी होता है, ये केवल किसी निश्चित सीमाओं में ही लागू होता है परन्तु दूसरी परिस्थितियों में लागू नहीं होता, और लगभग सभी स्थितियों में केवल छोटे ही फार्म पर लागू होता है।
3. इस विपरीत सम्बन्ध की अस्वीकृति की तुलना में अक्सर पुष्टि की जाती है; परन्तु इन्हीं तथ्यों पर आधारित सामान्यीकरण को पूरी भारतीय अर्थव्यवस्था पर लागू करना एक गलती के समान होगी।

फार्म आकार तथा उत्पादकता का विपरीत सम्बन्ध केवल एक शैक्षिक विचार-विमर्श ही नहीं, परन्तु आर्थिक नीति के द ष्टिकोण से आधारभूत महत्त्वपूर्ण है। फार्म आकार तथा उत्पादकता, कई मुद्दे उठाती है। परन्तु महत्त्वपूर्ण मुद्दों में से, (1) छोटे परिवार पर आधारित फार्म (2) बड़े पैमाने पर भाड़े के मजदूरों पर आधारित पूंजीवाद फार्म III सहकारिता संगठन पर आधारित बड़े फार्म, का चान या चुनाव करना मजदूर श्रम पर आधारित पूंजीवादी संगठन में सकल उत्पाद होगा तथा किसान परिवार व्यवस्था के अंतर्गत परिवार श्रम पर आधारित संगठन अधिक उपयुक्त है। सामान्य तौर पर यह स्वीकार किया गया है कि बड़े फार्मो की तुलना में आर्थिक आकार के छोटे फार्म अधिक कार्यकुशल होते हैं। अगर बड़े फार्म को प्रोत्साहित किया जाता है तो छोटे फार्म, इनकी प्रतियोगिता की तुलना में कमजोर पड़ जाएँगे तथा छोटे किसानों में व्यथित की भावना उत्पन्न कर देंगे तथा परिणामस्वरूप इस दुःखद स्थिति में अपनी जमीन को भी बेच सकते हैं। और अतः देश में भूमिहीन श्रमिक की संख्या में और व द्धि हो जाएगी।

अध्याय-10
भूमि सुधार
(Land Reforms)

भूमिका

अल्पविकसित देशों में कृषि क्षेत्र का विकास मुख्यतः संस्थागत तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। इस अध्याय में हम कृषि विकास के संस्थागत पहलू का विस्तार से अध्ययन करेंगे, जिन्हें भूमि सुधार के नाम से जाना जाता है।

सभी देशों में कृषि क्षेत्र में उत्पादन के सामन्ती सम्बन्ध (Feudal Relations of Production) आर्थिक विकास में बाधक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि यूरोप में औद्योगिक क्राँति के दौरान भूमि सुधारों के द्वारा सामन्ती व्यवस्था को समान्त कर दिया गया था। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, ताईवान और मैक्सिको में भी भूमि सुधारों के द्वारा आर्थिक विकास के लिए रास्ता खोला गया है। भारत में कृषि विकास की द ष्टि से जमींदारी प्रथा काफी दोषपूर्ण सिद्ध हुई। इसमें काश्तकार की इतनी अधिक दुर्दशा हुई कि उसके लिए भूमि पर स्थाई विकासकर उत्पादकता बढ़ा पाना असम्भव था।

भूमि-सुधार पर चर्चा करने से पहले आजादी से पहले के भू-धारण प्रणालियों पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है जो कि निम्नलिखित हैं:

1. **जमींदारी प्रथा-** इस देश में जमींदारी प्रथा का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में हुआ था। इससे पहले भूमि पर किसानों का स्वामित्त्व था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल कार्नवालिस ने आय बढ़ाने के उद्देश्य से इस देश में स्थाई बन्दोबस्त किया जिसके आधार पर जमींदारों को जहाँ एक ओर लगान एकत्रित करने का उत्तरदायित्त्व सौंपा गया वहीं उन्हें अपने अपने क्षेत्रों का मालिक भी बना दिया गया। प्रारम्भ में जमींदारों को किसानों से एकत्रित लगान का 10/11 भाग राज्य को देना होता था और शेष 1/11 भाग वे अपने पास रखते थे। अंग्रेज शासकों का जमींदारी प्रथा के विषय में विश्वास था कि इससे जमींदारों का भूमि में हित उत्पन्न हो जाने के कारण कृषि विकास होगा। उनका विचार था कि इससे जमींदारों को खेती में निवेश करने के लिए प्रेरणा मिलेगी। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। जमींदारों के व्यवहार में केवल एक ही दिलचस्पी थी कि वे अपने विलासी जीवन के लिए किसानों से अधिक लगान वसूल करना चाहते थे।

   जमींदारी प्रथा का भारतीय खेती के विकास पर जबरदस्त विपरीत प्रभाव पड़ा क्योंकि यह प्रणाली शोषण पर आधारित थी। इसमें जमींदारों को किसानों से मनमाना लगान वसूल करने का एकाधिकार था। लगान की यह राशि हर्षदेव मालवीय के अनुसार, 34 से 75 फीसदी तक थी। राष्ट्रीय आय का इतना बड़ा भाग अनुत्पादक वर्ग के

द्वारा हथिया लेना अन्यायपूर्ण होने के साथ-साथ पूँजी निर्माण व आर्थिक निवेश के लिए घातक था।

2. **रैयतवाड़ी व्यवस्था-** रैयतवाड़ी व्यवस्था दक्षिणी तमिलनाडु, महाराष्ट्र, बरार, पूर्व पंजाब, असम तथा कुर्ग में लागू की गई थी। इस व्यवस्था में रैयत अथवा काश्तकार ही भूमि का स्वामी होता था और उसके तथा राज्य के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता था। रैयत को भूमि बेचने, हस्ताँतरण करने, गिरवी रखने, शिकमी देने तथा उपहार में देने का अधिकार प्राप्त था। जब तक वह बन्दोबस्त के समय निर्धारित मालगुजारी देता रहता था, उस समय तक उसे बेदखल नहीं किया जा सकता था। जमींदारी व्यवस्था में ये अधिकार काश्तकारों को प्राप्त नहीं थे।

3. **महालवाड़ी व्यवस्था-** महालवाड़ी व्यवस्था विलियम बैंटिक द्वारा आगरा व अवध में लागू की गई। बाद में इसे मध्य प्रदेश और पंजाब में भी लागू किया गया। महालवाड़ी व्यवस्था में मालगुजारी की द ष्टि से सम्पूर्ण गाँव इकाई होता था। बन्दोबस्त द्वारा गाँव के लिए निर्धारित मालगुजारी को राजकोष में जमा करने का दायित्त्व गाँव के मुखिया का होता था। मुखिया गाँव के सभी भूमिधारियों से लगान वसूल करता था। काँग्रेस भूमि सुधार समिति के अनुसार इस व्यवस्था में भूसम्पत्ति का स्वामित्त्व सामूहिक तथा सामाजिक था। महालवाड़ी प्रथा में बन्दोबस्त की अवधि, मालगुजारी का निर्धारण इत्यादि भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग था।

ब्रिटिश शासकों के लालच ने दूसरी और तीसरी व्यवस्था में भी किसानों को आर्थिक व शारीरिक दोनों ही द ष्टियों से बरबाद कर दिया और उनकी स्थिति लगभग वही हो गई जो जमींदारी व्यवस्था में काश्तकारों की हो गई थी।

भूमि सुधारों के उद्देश्य
(Objectives of Land Reforms)

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जमींदारी व्यवस्था शोषण पर आधारित व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में एक 'परजीवी वर्ग' पैदा कर दिया जो दूसरों की मेहनत पर पलता था। इतना ही नहीं। अपने आर्थिक व सामाजिक प्रभुत्त्व के कारण यह परजीवी वर्ग वास्तविक काश्तकारों से उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा छीन लेता था। रैयतवाड़ी व महालवाड़ी व्यवस्था में भी इसी प्रकार के दोष उत्पन्न हो गए थे। इसलिए स्वतन्त्रता के बाद भूमि सुधारों को लागू करते समय निम्न उद्देश्य सामने रखे गएः (i) पुराने भूमि सम्बन्धों को समाप्त करना तथा एक ऐसी नई व्यवस्था को जन्म देना जिसमें भूमि पर खेती करनेवाले ही उसके वास्तविक स्वामी हों; (ii) भूमि व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले सभी प्रकार के शोषण व सामाजिक अन्याय को समाप्त करना, काश्तकारों की स्थिति मजबूत बनाना तथा ग्रामीण जनसंख्या के सभी वर्गो को समान अधिकार व समान अवसर प्रदान करना। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निम्न कदम उठाए गएः

1. मध्यस्थों का उन्मूलन
2. काश्तकारी सुधार
3. कृषि का पुनर्गठन

इस अध्याय में हम मध्यस्थों के उन्मूलन पर विस्तार से चर्चा करेंगे। काश्तकारी सुधारों व भूमि सुधारों का मूल्याँकन इससे अगले अध्याय में किया जाएगा।

मध्यस्थों का उन्मूलन
(Abolition of Intermediaries)

स्वतन्त्रता से पहले भी इस बात को स्वीकार किया जाता था कि भारत में आर्थिक गतिहीनता का प्रमुख कारण कृषि क्षेत्र में गतिहीनता है और इस क्षेत्र में गतिहीनता का मुख्य कारण शोषणकारी भूमि सम्बन्ध हैं। शोषण का मुख्य अस्त्र जमींदार था जिसे विदेशी सरकार का सहयोग व समर्थन प्राप्त था। इस कारण जमींदारी उन्मूलन या मध्यस्थों के उन्मूलन को स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भूमि सुधार नीति का मुख्य आधार बनाया गया।

स्वतन्त्रता के समय देश का 57 प्रतिशत क्षेत्र जमींदारी व्यवस्था के अधीन था। कुछ राज्यों में जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए कानून 1951 से पहले ही बना दिए गए। परन्तु उन पर पालन व उनसे सम्बन्धित कार्य पहली पंचवर्षीय योजना में ही किया गया। उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश जैसे अस्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में काम ज्यादा मुश्किल नहीं था क्योंकि भूमि रिकार्ड तथा प्रशासनिक मशीनरी पहले से ही मौजूद थी। परन्तु बिहार, उड़ीसा व पश्चिमी बंगाल जैसे स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में तथा राजस्थान व सौराष्ट्र जैसे जमींदारी वाले क्षेत्रों में भूमि रिकार्ड नहीं थे और न ही प्रशासनिक मशीनरी थी। फिर भी सरकारी दस्तावेजों में यह दावा किया गया कि पहली योजना के अन्त तक, कुछेक छोटे-छोटे क्षेत्रों को छोड़कर, मध्यस्थों को पूरी तरह उन्मूलन किया जा चुका था। ऐसा अनुमान लगाना गया है कि मध्यस्थों से 17.30 करोड़ एकड़ जमीन ली गई और इसके परिणामस्वरूप 2 करोड़ काश्तकारों को लाभ हुआ।

जमींदारी उन्मूलन का आलोचनात्मक मूल्याँकन
(Critical Assessment of Zamindari Abolition)

जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम बनाने में राज्य सरकारों की कार्यवाही धीमी थी। कानून बन जाने के बाद जमींदारों ने कानूनी अड़चनें खड़ी कर, कानून में कमियों का फायदा उठा व सरकार से असहयोग का रास्ता अपनाकर इन सुधारों की धार को कुन्द करने का प्रयास किया।

इस प्रकार कानूनों को पूरी तरह लागू करने में काफी समय लग गया। इतना ही नहीं। जो कानून बनाए गए इनमें भी कई दोष थे और जमींदारों ने इनका भरपूर फायदा उठाया। संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण दोष खुद-काश्त (personal cultivation) की परिभाषा थी। खुद-काश्त की परिभाषा में जमींदारों द्वारा तथा उनके परिवार के सदस्यों द्वारा खुद देख-रेख (personal supervision) को भी शामिल कर लिया गया। अर्थात् यदि जमींदार या उसके परिवार का कोई सदस्य केवल देखरेख करता है तो भी इसे खुद-काश्त मान लिया गया।

हालांकि सरकारी दस्तावेजों में यह दावा किया गया कि जमींदारी का पूर्णतया उन्मूलन किया जा चुका है तथापि सत्य यह है कि जमींदारों ने केवल अपना रूप बदल लिया है। उन्होंने खुद काश्त की आड़ में भूमि के बहुत बड़े क्षेत्र पर से काश्तकारों को बेदखल कर दिया है और इस भूमि पर वे अब कृषि मजदूरों की सहायता से खेती करते हैं। उनका नाम अब बड़े किसान (big landowners) है और वे शक्तिशाली व प्रभुत्त्वशाली ग्रामीण पूँजीपति हैं। जिन राज्यों में जमींदारों के लिए उच्चतम भूमि सीमा निश्चित की भी गई है, उनमें सीमा इतनी अधिक रखी गई है कि जमींदारों के प्रभुत्त्व में कमी नहीं आई है। उच्चतम सीमा कानूनों में व्याप्त कमियों के कारण जमींदार भूमि का बहुत बड़ा अंश परिवार के अन्य सदस्यों को हस्ताँतरित करने में सफल हो गए हैं और इस प्रकार कानून से बच निकले हैं। उदाहरण के लिए डेनियल थार्नर ने सुधार बाद के बिहार में पाया कि 500, 700 तथा यहाँ तक कि 1,000 एकड़ की कृषि जोतें मौजूद हैं तथा भूमिपति, दखलकारी रैयत, गैर-दखलकारी रैयत, उपरैयत, बटाईदार इत्यादि का पुराना ढाँचा

ज्यों-का-त्यों बरकरार है। इस प्रकार बिहार में बड़े भूस्वामियों का प्रभुत्त्व पूर्ववत् बना रहा तथा पट्टे पर खेती कराना तथा बेदखली जैसी प्रव त्तियाँ बनी रहीं।

इस सबके बावजूद जमींदारी उन्मूलन के मामले में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इस सन्दर्भ में केरल तथा पश्चिम बंगाल की साम्यवादी सरकारों द्वारा किए गए प्रयास प्रशँसनीय हैं। केरल में सरकार ने (1959 में) सत्ता हाथ में आते ही 48 घँटे के अन्दर बेदखली को गैर कानूनी घोषित कर दिया था। इसके अलावा बँटाईदारों को भूमि प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। जमींदार खुद-काश्त के लिए 10 एकड़ से अधिक भूमि अपने पास नहीं रख सकता था। बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार द्वारा किए गए भूमि सुधारों की विशेषता यह थी कि वहाँ बेदखली पर प्रतिबंध लगा दिया गया। सरकार ने बेनामी भूमि का पता लगाया और उसे खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों में बाँटा। 1967 में ही 23.8 लाख एकड़ भूमि इस प्रकार बाँटी गई।

भूमि सुधार के अन्य पहलू काश्तकारी सुधार, कृषि का पुनर्गठन व भूमि सुधार का मूल्याँकन अग्रलिखित है।

काश्तकारी सुधार व कृषि का पुनर्गठन

काश्तकारी सुधार

भूमिका

जब मालिक खुद-काश्त न करके किसी दूसरे से काश्त करवाए और इसके बदले काश्तकार से लगान हासिल करे तो इसे काश्तकारी व्यवस्था कहा जाता है। भारत में तीन प्रकार की काश्तकारी थी-

1. दखलदारी काश्तकारी
2. ऐच्छिक काश्तकारी
3. उपकाश्तकारी

इन तीनों में आखिरी दो में किसान का शोषण ज्यादा होता था। इसका नतीजा यह हुआ कि इन किसानों में न तो काम करने की इच्छा बची तथा न ही क्षमता। इससे खेती के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इसलिए इनके संरक्षण के लिए कानून बनाना आवश्यक हो गया।

नेशनल सेम्पिल सर्वे (आठवाँ दौर) ने 1954-54 में ऐच्छिक काश्तकारी व उपकाश्तकारी के अनुमान प्रस्तुत किए थे। इन अनुमानों के अनुसार पूरे भारत में लगभग 21 प्रतिशत भूमि पट्टे पर दी गई थी। परन्तु भारत में जमींदार तथा धनी भूमिधर कानूनी व्यवस्था से बचने के लिए काश्तकारों को अपनी भूमि मौखिक काश्तकारी पर देता है। मौखिक काश्तकारी पर दी जाने वाली भूमि का कुल कृषित भूमि के साथ क्या अनुपात है, इस सम्बन्ध में प्रामाणिक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन जो भी फुटकर तथ्य सामने आए हैं, उनसे लगता है कि उस समय 35-40 प्रतिशत कृषि भूमि मौखिक काश्तकारी के अधीन अवश्य रही होगी। 'हरित क्राँति' से पहले के.एन. राज के अनुसार भारत में भूमि का लगभग 50 प्रतिशत भाग किसी-न-किसी रूप में काश्तकारी के अन्तर्गत था।

भारत में काश्तकारी सुधारों के अन्तर्गत निम्नलिखित कदम उठाए गए हैं-

1. काश्त अधिकार की सुरक्षा

2. लगान का नियमन

3. काश्तकारों को भूमि पर मालिकाना अधिकार देना

इनकी विस्तार से व्याख्या निम्नलिखित है-

1. **काश्त अधिकार की सुरक्षा (Security of Tenure):** काश्तकारों की भूमि से बेदखली रोकने के लिए अधिकतर राज्यों में कानून बनाए गए हैं। इन कानूनों के तीन मुख्य उद्देश्य हैं: (1) बेदखली न हो (और अगर हो तो केवल कानून की धाराओं के अंतर्गत हो), (2) यदि भूस्वामी को भूमि लौटाई जाती है तो केवल खुद-काश्त के लिए ही लौटाई जाए, तथा (3) भूमि स्वामी को लौटाने की स्थिति में भी काश्तकार के पास कुछ भूमि छोड़ दी जाए।

   देश के सभी काश्त सम्बन्धी कानून में उन लोगों को काश्तकार माना गया है जो लगान के बदले किसी अन्य व्यक्ति की भूमि पर खेती करते हैं। परन्तु कुछ राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश तथ पश्चिमी बंगाल में बँटाईदारों (share croppers) को काश्तकार नहीं माना गया है। इस प्रकार काश्त अधिकार की सुरक्षा से सम्बन्धित कानूनों से इन्हें कोई लाभ नहीं मिल पाया है। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, सभी राज्यों में (उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल को छोड़कर) भूस्वामियों को खुद-काश्त के लिए भूमि कुछ हद तक खाली कराने के अधिकार दिए गए हैं। कुछ राज्यों में भूस्वामियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे ठीक उच्चतम सीमा (ceiling limit) तक भूमि खुद-काश्त के लिए वापिस ले सकते हैं। अन्य राज्यों में यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि भूस्वामी भूमि वापस लेता है तो काश्तकार के पास कुछ न्यूनतम भूमि-क्षेत्र अवश्य रहने दे। उदाहरण के लिए केरल, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उड़ीसा तथा तमिलनाडु में इस प्रकार की व्यवस्था है कि काश्त-अधीन भूमि का आधार हिस्सा काश्तकार के पास रहने दिया जाए।

   भूस्वामियों को खुद-काश्त के लिए जमीन वापस लेने का अधिकार देने से तथा खुद-काश्त की दोषपूर्ण परिभाषा अपनाने से, काश्तकारों की स्थिति काफी खराब हो गई। भूस्वामी खुद-काश्त की आड़ में किसी भी काश्तकार को भूमि से बेदखल कर सकता था (और जैसा कि हमने पहले कहा है, खुद-काश्त में खुद-देखरेख को भी शामिल कर लिया गया था)। यही कारण है कि चौथी पंचवर्षीय योजना में यह सिफारिश की गई है कि सभी काश्त-अधीन भूमि को स्थाई रूप से काश्त-अधीन घोषित कर दिया जाए (केवल कुछेक अपवादों को छोड़कर) और गलत ढंग से बेदखली होने पर भूस्वामियों के विरुद्ध कार्रवाई की जाए।

   काश्तकारों द्वारा अपनी भूमि का जमींदारों को ऐच्छिक समर्पण (जो असलियत में ऐच्छिक न होकर जमींदारों के दबाव में किया गया होता था) भी भूमि सुधारों के रास्ते में एक बड़ी रुकावट बना। हालाँकि गुजरात हिमाचल प्रदेश, उड़ीसा, केरल, कर्नाटक व पश्चिमी बंगाल की सरकारों ने इसे रोकने के लिए कुछ कानूनी प्रावधान जरूर बनाए।

   काश्त-अधिकार की सुरक्षा से संबंधित कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू तभी किया जा सकता है यदि सही व नवीनतम भूमि रिकार्ड उपलब्ध हों। कोई भी व्यक्ति काश्तकार होने का दावा तभी पेश कर सकता है यदि उसका नाम काश्तकार के रूप

में भूमि रिकार्ड में दर्ज हो। परन्तु ऐसा देखा गया है कि कई राज्यों में या तो काश्तकारी सम्बन्धी रिकार्ड उपलब्ध ही नहीं हैं या फिर बहुत पुराने व अपूर्ण हैं। गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश में रिकार्डों को हर वर्ष संशोधित करने की व्यवस्था है। परन्तु बहुत से काश्तकार इस डर से अपना नाम दाखिल नहीं कराते कि कहीं उन्हें जमीन से बेदखल न कर दिया जाए। अन्य राज्यों जैसे आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल में भूमि रिकार्डों में संशोधन की व्यवस्था नहीं है और इन्हें काफी समय के अंतराल बाद संशोधित किया जाता है। इस प्रकार भूमि रिकार्ड न तो सही होते हैं और न ही नवीनतम। सातवीं और आठवीं योजनाओं में भूमि रिकार्डों को संशोधित व व्यवस्थित करने के लिए कदम उठाए गए हैं।

2. **लगान का नियमन (Regulation of Rent):** आजादी से पहले लगान की मात्रा 35 प्रतिशत से लेकर 80 प्रतिशत तक होती थी। इसने काश्तकारों की और इस प्रकार भारतीय खेती की कमर तोड़ कर रख दी। इसलिए आजादी के बाद पहली पंचवर्षीय योजना में लगान की मात्रा कुल उपज के 1/5 से 1/4 हिस्से तक रखने की सिफारिश की गई। पंजाब, हरियाणा, जम्मू व कश्मीर, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर सब राज्यों में इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया गया है। पंजाब तथा हरियाणा में अधिकतम लगान एक-तिहाई है। तमिलनाडु में सिंचित क्षेत्रों के लिए लगान 40 प्रतिशत व अन्य क्षेत्रों के लिए 33.33 से 35 प्रतिशत के बीच है। जम्मू व कश्मीर में काश्तकारों को दो भागों में बाँट दिया गया है- (i) वे काश्तकार जिनके पास 12.5 एकड़ से कम भूमि है, तथा (ii) वे काश्तकार जिनके पास 12.5 एकड़ से अधिक भूमि है। पहले वर्ग वाले काश्तकारों के लिए अधिकतम लगान 50 प्रतिशत तथा दूसरे वर्ग के काश्तकारों के लिए 1/4 से 1/3 के बीच निर्धारित किया गया है। आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में सिंचित भूमि के लिए लगान 30 प्रतिशत तथा असिंचित भूमि के लिए 25 प्रतिशत रखा गया है।

परन्तु लगान नियमन सम्बन्धी कानूनों को कठोरता से लागू नहीं किया जा सका और उनका अकसर अतिक्रमण हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि भूस्वामियों का ग्रामीण व्यवस्था पर पूरा नियंत्रण है और वे अपनी मजबूत आर्थिक व सामाजिक स्थिति के बल बूते पर काश्तकारों से कहीं अधिक लगान वसूल कर सकने की स्थिति में हैं। उदाहरण के लिए जहाँ बिहार में अधिकतम लगान की सीमा 25 प्रतिशत निर्धारित की गई है वहाँ वस्तुतः 50 प्रतिशत तक है। पश्चिम बंगाल में भी अधिकतम लगान 25 प्रतिशत निर्धारित किया गया है परन्तु काश्तकार 50 प्रतिशत तक लगान देने को मजबूर हैं। इसका मुख्य कारण भूस्वामियों की मजबूत आर्थिक व सामाजिक स्थिति है। काश्तकारों को पता है कि यदि उन्होंने भूस्वामियों द्वारा माँगी गई रकम देने में आनाकानी की तो उन्हें तरह-तरह से तंग किया जाएगा। यह भी हो सकता है कि उन्हें भूमि से ही हटा दिया जाए। काश्तकारों की स्थिति इसलिए और भी कमजोर हो जाती है क्योंकि अधिकतर काश्तकारी मौखिक (oral) हैं अर्थात भूमि रिकार्डों में चर्चा नहीं है।

3. **काश्तकारों को मालिकाना अधिकार (Security of Tenure):** भूमि सुधारों का एक महत्त्वपूर्ण सुझाव काश्तकारों को मालिकाना हक देने का है लेकिन इस दिशा में ज्यादातर राज्यों से उत्साहजनक परिणाम नहीं आए हैं। अन्य राज्यों की तुलना में,

पश्चिम बंगाल, कर्नाटक तथा केरल को अधिक सफलता मिली है। पश्चिम बंगाल में 14 लाख तथा केरल में 24 लाख काश्तकारों को मालिकाना अधिकार दिए गए हैं। परन्तु कुल मिलाकर प्रगति अत्यन्त असन्तोषजनक है। छठी योजना में यह सिफारिश की गई थी कि 1981-82 तक काश्तकारों को मालिकाना अधिकार देने के लिए सभी राज्यों में कानून बनाए जाएँगे। परन्तु ऐसा अभी तक नहीं किया जा सका है।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि काश्तकारों को भू-स्वामित्त्व अधिकार देने से विभिन्न राज्यों में 124.20 लाख काश्तकारों को लगभग 63.20 लाख हेक्टेयर भूमि प्राप्त हुई है। काफी समय तक बहुत से काश्तकारों ने अपनी काश्त-अधीन भूमि को खरीदने के लिए कोई कदम नहीं उठाए। इसके मुख्यरूप से दो कारण थेः (1) बहुत से काश्तकारों के पास भूमि खरीदने के लिए धन की व्यवस्था नहीं थी; तथा (2) बहुत से काश्तकारों ने भूमि खरीदने की "अनिच्छा" व्यक्त की। दूसरा कारण अपेक्षाकृत बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है क्योंकि किसी भी राज्य ने एकमुश्त रकम नहीं माँगी थी। वस्तुतः कीमत को एक लम्बे समय में और किश्तों में चुकाना था।

दूसरा कारण जो काश्तकारी की अनिच्छा से संबंधित है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। कई बार भूस्वामियों ने काश्तकारों पर जोर डाला कि वह यह कह दें कि उनकी भूमि खरीदने में दिलचस्पी हें इस प्रकार का वक्तव्य देने पर भूमि भूस्वामियों के पास लौट आती है।

कृषि का पुनर्गठन

कृषि के पुनर्गठन के अधीन तीन नीतियाँ अपनाई गई-

1. भूमि का पुनर्वितरण
2. जोतों की चकबन्दी
3. सहकारी खेती

इनकी विस्त त व्याख्या निम्नलिखित है-

1. **भुमि का पुनर्वितरणः** भारत जैसे घनी आबादीवाले देश में भूमि की पूर्ति उसकी माँग की तुलना में काफी कम है। इसलिए इसका उचित वितरण सामाजिक व आर्थिक प्रगति के लिए काफी जरूरी माना गया। सीमाबन्दी इस पुनर्वितरण का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

   डी.आर. गाडगिल ने सामाजिक न्याय की द ष्टि से भी जोतों की सीमाबन्दी को उपयोगी बताया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानताएँ अपने आप में ठीक नहीं है। कल्याणकारी समाज में इन्हें दूर किया जाना चाहिए। जोतों की सीमाबन्दी ग्रामीण क्षेत्रों में असमानता को दूर करने का एक कारगर उपाय है।

   अनेक शोधकार्यों से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि जोत का आकार बढ़ने के साथ-साथ उत्पादकता गिरती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सीमाबन्दी सामाजिक न्याय के साथ-साथ आर्थिक कुशलता की द ष्टि से भी उपयुक्त हैं।

   राज्य सरकारों ने मध्यस्थों की समाप्ति से सम्बन्धित कानूनी व्यवस्था करके काफी

समय तक जोतों की उच्चतम सीमा निर्धारित करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यदि किन्हीं राज्यों में इस संबंध में कुछ कानून बनाए भी गए तो उनमें एक तो जोत की सीमा बहुत ऊँची रखी गई। इस प्रकार की व्यवस्थाओं के कारण उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य में पुनर्वितरण के लिए केवल 2,32,800 हैक्टर भूमि मिल सकी जो राज्य में कृषित क्षेत्र की केवल 1.3 प्रतिशत थी। इसी प्रकार पंजाब में जहाँ 12 मानक हैक्टर जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित की गई थी, अतिरेक क्षेत्र 1 लाख हैक्टर मिल सका जिसके वितरण में काफी समय लगाया गया। अन्य राज्यों की स्थिति उत्तर प्रदेश और पंजाब से भिन्न नहीं थी। जहाँ कुछ राज्यों ने परिवार को इकाई माना वहाँ कुछ अन्य राज्यों ने व्यक्ति को इकाई माना। जिन राज्यों में व्यक्ति को इकाई माना गया था (जैसे आन्ध्र प्रदेश, जम्मू व कश्मीर, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल) वहाँ पर गलत तरीकों से हस्ताँतरण का खतरा अधिक था। व्यापक स्तर पर भूमि के हस्ताँतरणों के कारण उच्चतम सीमा कानूनों की प्रभावकता काफी कम हो गई। कई राज्यों के कानूनों में उच्चतम सीमा कानूनों से छूट व रियायत काफी अधिक थी। जो कानून बनाए भी गए उनको ठीक ढंग से लागू नहीं किया गया। इन कारणों से बहुत कम अतिरिक्त भूमि प्राप्त हुई और उसके वितरण में भी काफी देर की गई।

विभिन्न राज्यों के कानूनों में एकरूपता लागू के लिए जुलाई 1972 में मुख्यमंत्रियों की एक बैठक बुलाई गई। इस बैठक में हुए विचार विमर्श के आधार पर उच्चतम सीमा के बारे में नई नीति बनाई गई। इस नीति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. उच्चतम सीमा को जल-उपलब्धि वाले क्षेत्रों में 18 एकड़ तथा असिंचित क्षेत्रों में 54 एकड़ तक सीमित कर दिया गया।
2. उच्चतम सीमा निर्धारण के लिए परिवार को इकाई माना जाएगा। इस प्रकार जिन राज्यों में व्यक्तियों को इकाई माना गया था उनसे कहा गया कि वे कानूनों में संशोधन करके परिवार को इकाई स्वीकार करें।
3. उच्चतम सीमा कानूनों से रियायतों व छूटों को कम किया जाएगा।
4. बेनामी हस्ताँतरणों को रोकने के द ष्टिकोण से कानून को पहले की किसी अवधि से लागू माना जाएगा (retrospective application of law)। इससे लाभ यह होगा कि उस समय के बाद से हुए सारे बेनामी हस्ताँतरण गैर-कानूनी करार दिए जा सकेंगे।
5. न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर करने के लिए इन कानूनों को संविधान की नवीं सूची में शामिल कर दिया गया है। इसलिए अब जिन लोगों से भूमि ली जाएगी वे मौलिक अधिकारों के हनन का बहाना लेकर न्यायालयों का दरवाजा नहीं खटखटा सकेंगे।

राज्यों द्वारा कानून पारित करने के बावजूद इस दिशा में खास प्रगति नहीं हो पाई। कुल भूमि का 2.0 प्रतिशत से भी कम अतिरिक्त घोषित किया जा सका है और कुल कृषित भूमि का मात्र 1.0 प्रतिशत वितरित किया गया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जहाँ तक जोतों की सीमाबन्दी का प्रश्न है, प्रगति अत्यन्त निराशाजनक है।

क्योंकि उच्चतम सीमा कानूनों को लागू करने से प्राप्त भूमि की किस्म आमतौर पर अच्छी नहीं होती इसलिए जिन लागों को यह भूमि प्राप्त होती है उन्हें उस पर भारी निवेश करना पड़ता है। 1975-76 के बाद से इन लोगों को इस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा वित्तीय सहायता की दर 25,000 रुपए प्रति हेक्टेयर है।

2. **भूमि की चकबन्दी**- भारत में जोत का औसत आकार छोटा है। 1990-91 में यह मात्र 15.5 हेक्टेयर था। निम्नलिखित सरणी में 1990-91 की परिचालन जोतों (Operation Holding) की जानकारी दी गई है।

सारणी 10.1 : विभिन्न आकार वर्गों में परिचालन जोतों (Operation Holding) की संख्या तथा उनके द्वारा परिचालित क्षेत्र (1990-91)

क्रम संख्या	प्रकार	जोत का आकार (हेक्टेयर)	जोतों की संख्या (करोड़ में)	प्रतिशत	कुल परिचालित क्षेत्र (करोड़ हेक्टेयर)	प्रतिशत	प्रति जोत परिचालित औसत क्षेत्र (हेक्टेयर)
1	2	3	4	5	6	7	8
1.	सीमान्त	0-.10	6.33	59.4	2.49	15.1	0.39
2	छोटे	1.0-2.0	2.01	18.8	2.88	17.4	1.43
3.	अर्द्ध-मध्यम	2.0-4.0	1.39	13.1	3.84	23.2	2.76
4.	मध्यम	4.0-10.0	0.76	7.1	4.48	27.0	5.90
5.	बड़े	10 व 10 से अधिक	0.17	1.6	2.87	17.3	17.33
	कुल		10.66	100.0	16.55	100.0	1.55

स्रोतः Government of India, Ministry of Agriculture, Agricultural Statistics at a Glance, 1999 (Delhi,1999), Table 11.1, p.119.

सारणी से स्पष्ट है कि 49.4 प्रतिशत जोतें 1 हेटेयर से कम आकार की हैं। इतना ही नहीं, ये छोटे-छोटी जोतें भी टुकड़ों में बंटी हुई हैं। जोतों के उपविभाजन व अपखण्डन से कृषि के विकास पर निम्नलिखित प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं-

(i) **भूमि व्यवस्था में कठिनाई-** उपविभाजित एव अपखँडित जोतों पर कृषकों के लिए फसलों की देखभाल कर पाना कठिन होता है। दूर-दूर बिखरे खेतों पर हल बैल ले जाने और उत्पादों के यातायात में न केवल उनके समय का अपव्यय होता है, बल्कि उन्हें धन भी अधिक व्यय करना पड़ता है।

(ii) **नीची उत्पादिता-** जोतों के टुकड़े बहुत छोटे हो जाने पर प्रति हेक्टेयर पैदावार गिर जाती है। कृषक व्यावसायिक पहलू से खेती न करके परम्परागत ढंग से ही कृषि करता रहता है। परिणामतः उसका जीवन भी विपन्न रहता है।

(iii) **भूमि का अपव्यय-** जोत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाने पर प्रत्येक खेत पर मेढ़ अथवा बाड़ लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इसमें साधनों का अपव्यय तो होता ही है, साथ ही 3-5 प्रतिशत भूमि भी व्यर्थ हो जाती हैं

(iv) **कृषि विधियों में सुधार में कठिनाई-** खेत छोटे होने पर आधुनिक ढंग से खेती कर पाना सम्भव नहीं होता। किसी भी किसान के लिए अनेक स्थानों पर बिखरे हुए खेतों

के लिए निजी साधनों से सिंचाई की व्यवस्था करना आर्थिक द ष्टि से उपयोगी नहीं होता। सिंचाई की नियमित व्यवस्था के अभाव में उर्वरकों का प्रयोग भी नहीं हो सकता। इसलिए नई कृषि नीति की सफलता में जोतों का उपविभाजन तथा अपखँडन बाधक है।

(v) **प्रच्छन्न बेरोजगारी-** छोटी जोतों पर परिवार के सभी सदस्यों के लिए पर्याप्त काम नहीं होता है। परन्तु अन्य रोजगार के अभाव में सभी लोग इन छोटे-छोटे खेतों से बँधे रहते हैं। इस प्रकार गाँव में प्रच्छन्न बेरोजगारी स्थाई बन गई है।

(vi) **पारस्परिक विवाद-** छोटे-छोटे खेत ग्रामीण समाज में आपसी विवाद के कारण हैं। बहुधा गाँव में बाड़ व मेढ़ झगड़ों का कारण होती है। पर्याप्त देख रेख न होने से दूसरे के खेत में पशु चराना, दूसरों की फसल की चोरी कर लेना इत्यादि भी संभव होता है। इस सबसे ग्रामीण जीवन की शाँति भँग होती है।

खेती के अपखँडन के दो ही समाधान हैं (i) सहकारी खेती या (ii) चकबन्दी। हालाँकि चकबन्दी की आवश्यकता को महसूस करते हुए बड़ोदा में 1920 में ही चकबन्दी अधिनियम पास कर दिया गया था। उसके बाद लगातार इस दिशा में प्रयत्न होते रहे। लेकिन इसके वाँछित परिणाम सामने नहीं आ पाए हैं।

जनवरी 1992 तक केवल 6 करोड़ 45 लाख हेक्टेयर भूमि पर चकबन्दी का कार्य पूर्ण हो सका था जो कुल कृषित भूमि का मात्र एक-तिहाई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि देश में चकबन्दी के क्षेत्र में प्रगति अत्यन्त असंतोषजनक है। अधिकतर चकबन्दी महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, बिहार, तथा कर्नाटक में की गई है। तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों, पाँडिचेरी तथा उत्तर पूर्व के राज्यों ने अभी तक चकबन्दी कानून अपनाए ही नहीं है।

चकबन्दी कार्य में कठिनाईयाँ- भूमि के अपखण्डन की समस्या हल करने के लिए चकबन्दी कार्य जितना आवश्यक है, व्यवहार में उतना ही कठिन है। भारत में जोतों की चकबन्दी के रास्ते में प्रमुख बाधाएँ निम्नलिखित हैं-

(i) भूमि के सर्वेक्षण, वर्गीकरण व मूल्याँकन के लिए कुशल तकनीकी व अधिकारियों का अभाव

(ii) भ्रष्टाचार व पक्षपात

(iii) राज्य सरकारों की उदासीनता

(iv) किसानों में पैत क भूमि के लिए मोह

उपरोक्त समस्याओं के रहते हुए भी जितनी भूमि पर अब तक चकबन्दी हुई है, उससे किसानों को लाभ ही हुई है। लेकिन चकबन्दी को अपने आप में लक्ष्य मान बैठना भूल होगी। वास्तव में आर्थिक जोत के निर्माण की दिशा में यह पहला कदम है।

3. सहकारी खेती
(Cooperative Farming)

भारत जैसे देश में जहाँ खेती छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई है, सहकारिता इसका स्थाई समाधान हो सकती है परन्तु भारत में सहकारी कृषि का प्रयोग पूर्णरूप से असफल रहा है। इस मत की पुष्टि में हम निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख कर सकते हैं-

(i) कृषित भूमि के आधे प्रतिशत से भी कम भूमि पर सहकारी खेती को अपनाया गया है।

(ii) सहकारी कृषि समितियाँ भारी संख्या में कागजी हैं। अनेक सहकारी समितियाँ पूँजीवादी कृषि को प्रोत्साहन देती हैं और जमींदारों के हितों की भूमि अधिनियमों से रक्षा करती हैं।

(iii) सहकारी कृषि समितियों की उत्पादकता व्यक्तिगत स्वामित्त्व के आधार पर संगठित खेतों पर उत्पादकता के स्तर से कम है।

संक्षेप में, भारी प्रचार के बावजूद भी भारतीय कृषि में सहकारी खेती का कोई स्थान नहीं बन पाया है और जो स्थिति हमारे सामने है उससे स्पष्ट होता है कि निकट भविष्य में कृषि क्षेत्र में इससे किसी महत्त्वपूर्ण योगदान की आशा नहीं की जा सकती।

भूमि सुधार : एक समीक्षा
(Land Reforms : A Review)

भूमि सुधारों की समीक्षा निम्न दो कसौटियों पर की जा सकती है-

(i) आर्थिक विकास

(ii) सामाजिक न्याय

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में इन्हीं दोनों को मूल उद्देश्य ठहराया गया है। अतः भूमि सुधार नीति के मूल्याँकन के लिए हमें यह देखना होगा कि यह विकास और न्याय के उद्देश्यों की द ष्टि से कहाँ तक सहायक है और इन दिशाओं में कितनी प्रगति हुई है। विकास के अंतर्गत कृषि निवेश में व द्धि तथा अन्य सुधार आते हैं जिनसे उत्पादन और उत्पादिता बढ़ती है। न्याय के अंतर्गत मूल बात यह आती है कि किसानों को अपनी मेहनत और निवेश का पूरा फल मिले तथा कृषि अर्थव्यवस्था में असमानताएँ कम हों। स्पष्टतः हमारे लिए भूमि सुधार की वही नीति ठीक होगी जो आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की प्राप्ति में सहायक हो। इसी आधार पर हम वर्तमान भूमि सुधार नीति को परखेंगे।

भूमि सुधारों के अंतर्गत उठाए गए कदमों, जैसे जमींदारी उन्मूलन, लगान निर्धारण, काश्तकारी सुरक्षा आदि के आधार पर एक बात तो हम दावे से कह सकते हैं कि भूमि सुधारों की दिशा तो ठीक रही है।

जोत की सीमाबन्दी की नीति भी हमारे आदर्शों से मेल खाती है। इसके अंतर्गत बड़े-बड़े भूस्वामियों से फालतू भूमि लेकर भूमिहीन और छोटे किसानों के बीच उसे बाँटने की व्यवस्था है। इससे भू-स्वामित्त्व के सिलसिले में असमानताएँ ही नहीं घटेंगी, बल्कि छोटे भूमिधर किसानों द्वारा कुशल खेती के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी पैदा होंगी। छोटी जोतों के आकार में व द्धि लाने के लिए बिखरी जोतों की चकबन्दी करने के लिए अपनाए गए विभिन्न उपायों का उद्देश्य भी छोटे पैमाने की खेती को कुशल बनाना है।

इस प्रकार ये सब उपाय विकास और न्याय के उद्देश्य के अनुरूप हैं। लेकिन भूमि सुधार के क्षेत्र में अभी तक जो प्रगति हुई है, वह बहुत ही धीमी और असन्तोषजनक ठहरती है। जमींदारी उन्मूलन को छोड़कर और यह कार्य भी सब स्थानों पर पूरा नहीं हो सका है, अन्य किसी दिशा में विशेष प्रगति नहीं की जा सकी है। आज भी देश में बहुत बड़े पैमाने पर खेती काश्तकारों द्वारा की जाती है। अनेक स्थानों पर लगान की दरें ऊँची हैं और बेदखली का डर काश्तकारों

को लगा रहता है। सीमाबन्दी नीति के अंतर्गत अपेक्षाकृत थोड़ी भूमि प्राप्त की जा सकी है और भूमिहीन व छोटे किसानों के बीच उसका बँटवारा और भी कम रहा है। ग्रामीण क्षेत्र में भारी असमानताएँ बनी हुई हैं और साथ ही छोटी व छिटकी जोतें कृषि क्षेत्र में भरी पड़ी हैं।

लेकिन दिशा ठीक होने के बावजूद भूमि सुधारों की गति उत्साहजनक नहीं रही है। इसके निम्नलिखित कारण गिनाए जा सकते हैं-

1. **अपर्याप्त भूमि सुधार-** भूमि सुधारों के अंतर्गत मध्यस्थों को तो हटाया गया परन्तु कई जगहों पर इनकी जगह सामन्तों, अर्द्धसामन्तों व महाजनों ने ले ली। जो सीधे तौर पर खेती नहीं करते थे। यह जमीन जोतनेवाले के हाथों में नहीं पहुँच पाई।

   इसी प्रकार काश्तकारी-सुधार के अधीन खुदकाश्त के लिए जमीन-मालिकों को भूमि के पुनर्ग्रहण की जो अनुमति दी गई थी, वह तो ठीक थी लेकिन इस नीति की अपर्याप्तता यह रही कि इसमें यह पाबन्दी नहीं लगाई गई कि केवल खुदकाश्त करने वाले लोग ही भू-स्वामी रह सकेंगे और स्वयं खेती न करनेवाले भू-स्वामियों को भारी दण्ड दिया जाएगा।

2. **दोषपूर्ण कार्यान्वयन-** नीति ठीक होते हुए भी इसकी प्रक्रिया के धीमेपन, कानून में छोटी-छोटी कमियों, राज्य सरकारों की उदासीनता तथा लम्बी कानून प्रक्रियाओं के चलते इसके वाँछित नतीजे नहीं मिल पाए।

   इसी प्रकार भूमि-सुधार अधिनियमों में यह व्यवस्था की गई थी कि जमीन मालिक चाहें तो एक सीमा तक खुद-काश्त के लिए काश्तकारों से अपनी जमीन ले सकते थे। इस व्यवस्था का दुरुपयोग करके मालिकों ने बड़े पैमाने पर काश्तकारों को जमीन से बेदखल कर दिया। किसान भू-स्वामी बनने के बजाय काश्तकार के स्तर से भी नीचे गिर गए। उधर भूमि से सम्बन्धित पूरे व सही रिकार्ड न होने के कारण बड़े-बड़े जमींदारों ने किसानों की कमजोर स्थिति का फायदा उठाया और प्रायः उन्हें पहले से भी बुरी दशा में डाल दिया। इस प्रकार भूमि सुधार की नीति केवल कागज पर ही अंकित रही। अतः इसके परिणाम आशानुसार न निकल सके।

3. **सुसम्बद्ध द ष्टिकोण का अभाव-** भूमि सुधार नीति में सुसंबद्धता का न होना इसकी कारगर क्षमता में कमी का एक कारण बन गया।

   भूमि सुधार के विभिन्न अंश वास्तव में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और इनकी प्रगति एक दूसरे पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, सीमाबन्दी का पहलू जोत-उपविभाजन और विखण्डन के पहलू से जुड़ा हुआ है। सीमाबन्दी से प्राप्त होनेवाली अतिरिक्त भूमि छोटी व बिखरी जोतों की समस्या के समाधान में सहायक हो सकती है। इसी प्रकार काश्तकारी-सुधार के अंतर्गत छोटे किसानों को भू-स्वामी बनाने की नीति में सीमाबन्दी कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

   कार्यरूप देने के सम्बन्ध में इस प्रकार का सुसम्बद्ध द ष्टिकोण अपनाने में भूमि-सुधार की लागत कम हो जाती है। भूमि सुधार सम्बन्धी कानून बनाना, उन्हें लागू करने के लिए प्रशिक्षण कर्मचारी-वर्ग तैयार करना और उसे पूरे तौर से प्रयोग करना, भूमि के सिलसिले में पूरा रिकार्ड रखना आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें यदि भूमि सुधार के सब पहलुओं के लिए इस्तेमाल किया जाए तो स्पष्टतः लागत कम बैठेगी। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सुसम्बद्ध द ष्टिकोण अपनाने से भूमि-सुधार कार्यक्रम को

लागू करना अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। कारण, विभिन्न पहलुओं को एक-दूसरे से जोड़ने पर सब क्षेत्र में प्रगति करना अनिवार्य हो जाता है। साथ ही भूमि सुधार को इस एकीकृत रूप में देखने में भू-धारण व्यवस्था में कमियों का पता लगाना आसान हो जाता है और फिर उस आधार पर उनके लिए हल निकालना मुश्किल नहीं रह जाता।

लेकिन देश में भूमि सुधार के सम्बन्ध में ऐसा द ष्टिकोण नहीं अपनाया गया। इसके बजाय भूमि सुधार को अलग अलग अंशों में लिया गया और भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अंशों पर जोर डाला गया। फलस्वरूप भूमि सुधार के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बन पाया जिसके कारण भूमि सुधार की रफ्तार तेज नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त भूमि सुधार पर लागत भी बढ़ गई।

4. **राजनैतिक कारक-** भूमि सुधार के क्षेत्र में धीमी और असन्तोषजनक प्रगति के लिए राजनैतिक कारक कम महत्त्वपूर्ण नहीं ठहरता। देश में इसके लिए अनुकूल राजनीतिक वातावरण का बड़ा अभाव है। न तो विभिन्न राजनीतिक संगठन इस विषय में एक राय रखते हैं और न ही देश का प्रशासनिक ढाँचा भूमि सुधार के प्रति वचनबद्ध है। ऐसी स्थिति में सही ढंग से अधिनियमों को बनाया जाना और कड़ाई के साथ उनको अमल में लाना कैसे संभव हो सकता है।

5. **गलत अवधारणा-** सीमाबन्दी जैसे प्रावधान एक तरीके से तो ठीक थे परन्तु सीमाबन्दी से प्राप्त अतिरिक्त भूमि के लिए इस प्रकार की पुख्ता व्यवस्था नहीं की गई कि ये खुदकाश्त करनेवाले किसान को मिले।

   जोत के आकार में व द्धि और जोत विखण्डन को दूर करने की नीति को अच्छी खेती के साथ नहीं जोड़ा गया। इस नीति में यह व्यवस्था नहीं की गई कि चकबन्दी के बाद यदि जोत का आकार आर्थिक न हो पाए, तो आवश्यकरूप से उसे सहकारी खेती का अंग बनाना पड़ेगा।

निष्कर्ष और उपाय

अतः हम कह सकते हैं कि भूमि सुधारों की दिशा तो ठीक रही है परन्तु गति काफी धीमी रही है इसलिए स्थिति में तेजी से सुधार लाने के लिए उपाय किए जाने चाहिए। सर्वप्रथम, आवश्यकता इस बात की है कि भूमि सुधार से छोटे किसानों को जो कुछ लाभ पहुंचा है, उसे संगठित किया जाए। इसके लिए जरूरी है कि इन किसानों को आवश्यक कृषि साधन उपलब्ध कराए जाएं और वह सहकारिता के आधार पर कृषि कार्य करें। दूसरे, जो अधिनियम अब तक बनाए गए हैं, उनको भरपूर ढंग से अमल में लाया जाए। इसके लिए दो एक बातों की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। एक तो भूमि के सम्बन्ध में सारे रिकार्ड पूरे और सही होने चाहिए और समय के साथ उसमें आवश्यक संशोधन होते रहना चाहिए, जिससे कि आँकड़े पुराने न पड़ने पाएँ। दूसरे, समितियों, राजनीतिक सम्मेलनों आदि के माध्यम से भूमि सुधार के कार्य से लोगों को सम्बद्ध रखने की आवश्यकता है। ये लोग वर्तमान अधिनियमों को अमल कराने में सहायक सिद्ध होंगे। तीसरे, वर्तमान अधिनियमों में जो कमियाँ हैं, उनको दूर करने के लिए आवश्यक संशोधनों की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में सशक्त और वचनबद्ध प्रशासन की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संभवतः सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि देश में भूमि सुधार के लिए अनुकूल जनमत तैयार किया जाए। तभी सही ढंग से अधिनियम बन पाएँगे और भली प्रकार उनको अमल में लाया जा सकेगा।

अध्याय-11
भारत में कृषि प्रगति की समीक्षा
(Review of Agricultural Developments in India)

आयोजन काल के दौरान कृषि विकास की समीक्षा निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अंतर्गत की जा सकती है-

1. संव द्धि दर
2. सामाजिक न्याय
3. भावी सम्भावनाएं

आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की द ष्टि से ये तीनों पहलू विशेष महत्त्व रखते हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इन तीनों पहलुओं के सम्बन्ध में हुई प्रगति की व्याख्या निम्नलिखित है-

संव द्धि दर

कृषि क्षेत्र में हुई उन्नति का सरसरी तौर पर अनुमान उत्पादन में हुई व द्धि से लगाया जा सकता है। आयोजन काल में कृषि उत्पादन बढ़ने की प्रव त्ति रही है। कृषि उत्पादन का सूचकांक (1967-70=100) जो 1950-51 में 59 था, वह बढ़कर 1970-71 में 112 और 1992-93 में लगभग 196 हो गया था। 1979-82=100 मानते हुए कृषि उत्पादन का सूचकांक जो 1970-71 में 85.9 था, वह लगभग दो गुना बढ़कर 1998-99 में 171.3 हो गया। अनाज के उत्पादन में उल्लेखनीय व द्धि देखने को मिलती है। देश में अनाज का उत्पादन 1950-51 में केवल 508 लाख टन था, जो लगभग चार गुना बढ़कर 1998-99 में 1953 लाख टन के स्तर तक पहुंच चुका था। इन आँकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रारम्भिक दौर में जो अन्न संकट की मुसीबत आई थी उसे काफी हद तक दूर करने में सफल हो गए हैं क्योंकि इसी अवधि में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही थी।

कृषि उत्पादन में संव द्धि दर समय की विभिन्न अवधियों में भिन्न भिन्न रही है यदि समस्त आयोजन काल के लिए वार्षिक औसत निकालें, तो संव द्धि दर 2.7 प्रतिशत के करीब बैठेगी। इधर कुछ समय से औसत संव द्धि दर बढ़कर लगभग 3 प्रतिशत हो गई है। श्री के. मुखर्जी के अनुसार बीसवीं सदी में स्वतन्त्रता से पहले भारतीय कृषि की संव द्धि दर 0.2 प्रतिशत वार्षिक थी, जबकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद योजना की अवधि में संव द्धि पर लगभग 2.7 प्रतिशत थी तथा इसी अवधि में जनसंख्या की औसत व द्धि दर 2.2 प्रतिशत थी। कृषि क्षेत्र की व द्धि दर जनसंख्या की व द्धि दर से अधिक रही है। अतः निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि

योजनाकाल की अवधि में कृषि क्षेत्र की उन्नति काफी सन्तोषजनक रही है। परन्तु अगर हम अपनी आवश्यकताओं और योजना में निर्धारित लक्ष्यों को ध्यान में रखते हैं तब यह संव द्धि दर कम और अपर्याप्त लगती है। क्योंकि कई योजनाओं के निर्धारित लक्ष्य से व द्धि दर कम रही है। जैसे कि चौथी योजना में निर्धारित लक्ष्य 5 प्रतिशत था जबकि कृषि उत्पादन की व द्धि दर केवल 2.6 प्रतिशत थी। सभी योजनाओं का औसत लक्ष्य 4 प्रतिशत के लगभग था जबकि प्राप्त व द्धि दर केवल 2.7 प्रतिशत ही रही। अतः केवल दो-तिहाई ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकी। 1950 के दशक में व द्धि दर 3.5 प्रतिशत, 1960 के दशक में 2.6 प्रतिशत तथा 1970 के दशक में 2. 4 प्रतिशत थी जो कि काफी अपर्याप्त है।

परन्तु वर्तमान के वर्षो में स्थिति में कुछ सुधार अवश्य आया है। छठी योजना की अवधि में वार्षिक व द्धि दर 5.5 प्रतिशत थी जो कि निर्धारित लक्ष्य 3.8 प्रतिशत से काफी अधिक थी। सातवीं योजना की अवधि में पहले तीन वर्षो में सूखे के कारण नाजुक स्थिति थी परन्तु फिर भी औसत व द्धि दर 3.4 प्रतिशत वार्षिक, निर्धारित लक्ष्य 4 प्रतिशत से थोड़ी ही कम थी। आठवीं योजना में लक्ष्य 4.1 प्रतिशत वार्षिक व द्धि दर निर्धारित किया गया तथा अनुमानित संव द्धि दर 3.7 प्रतिशत है जो निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी ही कम है।

योजनाकाल के दौरान अगर औसत व द्धि दर अन्य विकासशील देशों की संव द्धि दर की तुलना में भी कम है। 1952-56 तथा 1965-69 की अवधि के लिए प्राप्त आंकड़ों से पता चलता है कि विकासशील देशों की संव द्धि दर 2.8 प्रतिशत थी जबकि भारत की व द्धि दर 2.1 प्रतिशत ही थी। इसी प्रकार 1980-90 की अवधि में भारत की औसत संव द्धि दर केवल 3.1 प्रतिशत ही थी जबकि चीन में 5.9 प्रतिशत, पाकिस्तान में 4.3 प्रतिशत थी।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में कृषि उत्पादन में व द्धि तो हो रही है परन्तु यह आवश्यकता के अनुसार अपर्याप्त है। और योजनाकाल के पांच दशकों के बाद भी मौसम के प्रभाव से उत्पादन मात्रा पर अभी भी भारी परिवर्तन होते रहते हैं। क्योंकि आज भी भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है। कृषि उत्पादन में भारी परिवर्तन के कारण राष्ट्रीय आय में भी बहुत परिवर्तन आते रहते हैं।

सामाजिक न्याय

अब सामाजिक न्याय के द ष्टिकोण से देखा जाए तो दो पहलू नजर आते हैं— पहले पहलू के अनुसार कृषि क्षेत्र के उत्पादन में धीमी गति के कारण, ग्रामीण लोगों में बेरोजगारी और बढ़ गई दूसरे पहलू के अनुसार निर्धन व्यक्तियों की वास्तविक आय में व द्धि न होने के कारण निर्धन रेखा से नीचे रहनेवाले लोगों की संख्या और बढ़ गई है।

इसके अतिरिक्त जो यहां ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि भूमि-वितरण की असमानताएं न केवल बनी हुई हैं, बल्कि सम्भवतः और बढ़ गई हैं। इसका एक कारण तो भूमि सुधार की अपर्याप्त नीति है और दूसरा कारण, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, भूमि सुधार कानूनों को सही व भरपूर ढंग से अमल में न लाए जाने से संबंधित है। जहाँ तक काश्तकार के प्रति न्याय करने का प्रश्न है, आज भी काश्तकारी की सुरक्षा, उचित लगान के निर्धारण आदि के सम्बन्ध में अनेक कमियाँ नजर आती हैं। काश्तकारी सुधार के सिलसिले में जो कुछ किया गया है वह बड़ी सीमा तक बनाए गए कानूनों को पूरी तरह से अमली रूप नहीं दिया गया है।

योजनाकाल की प्रगति का लाभ मुख्यतः केवल बड़े जमींदारों को ही पहुँचा है अतः जमींदारों तथा छोटे/सीमान्त किसानों के बीच असमानताएँ और बढ़ गई। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों/क्षेत्रों के बीच भी असमानताएँ और बढ़ गई।

संजय

असन्तोषजनक प्रगति के कारण

योजनाओं के अंतर्गत प्रगति के इस संक्षिप्त मूल्यांकन से स्पष्ट होता है कि संव द्धि दर और सामाजिक न्याय के दोनों मोर्चो पर कृषि-क्षेत्र की कार्यकुशलता काफी सीमा तक असन्तोषजनक रही है। इन असफलताओं अथवा असन्तोषजनक प्रगति के लिए अनेक कारण जिम्मेदार रहे हैं। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैः

क) **अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएं, खाद व उर्वरक आदि-** योजनाकाल के लगभग 45 वर्ष बीतने के बाद भी कृषि भूमि का लगभग 75 प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जिसके लिए सिंचाई की सुविधा उपलब्ध ही नहीं हो पाई है। एक अनुमान के अनुसार यदि सारे उपलब्ध पानी का उचित उपयोग किया जा सके तो देश के शुद्ध बुआई क्षेत्र के केवल 50 प्रतिशत हिस्से को ही सिंचाई की सुविधा देना संभव हो सकता है। इसी प्रकार कृषि की उत्पादकता बढ़ानेवाले उर्वरकों का प्रयोग भी बहुत ही सीमित है क्योंकि मुश्किल से देश के केवल 10 प्रतिशत कृषक ही उर्वरकों का प्रयोग करते हैं। कीटनाशक दवाइयां न तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो पाई और न ही कृषकों को पूरी जानकारी न दिलाने से कृषि उत्पादन बुरी तरह से प्रभावित हुआ।

ख) **उपलब्ध वैज्ञानिक तकनीकों की क्षमता के उपयोग में असफलता–** खेती की नई तकनीकियां थोड़े क्षेत्रों (पंजाब, हरियाणा व पश्चिमी उत्तर प्रदेश), सीमित फसलों (गेहूँ व चावल), तथा साधन सम्पन्न कृषकों तक ही सीमित रही। नई कृषि तकनीक (जिनमें उन्नत किस्म के बीज, रासायनिक खाद एवं कीटाणुनाशक दवाइयां शामिल हैं) से केवल उन्हीं क्षेत्रों पर लागू किया जा सका जहाँ सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था थी। अन्य स्थानों पर यह सम्भव ही नहीं हो पाया।

ग) **संस्थागत रुकावटें–** कानून बनाने एवं लागू किए जाने के बावजूद आज भी बड़े जमींदारों के पास उपजाऊ जमीन का अधिकतम हिस्सा मौजूद है। पुरानी काश्तकारी प्रणाली आज भी प्रचलित है, काश्तकारों के अधिकार आज भी सुरक्षित नहीं हैं। सहकारिता खेती में विशेष प्रगति नहीं हो पाई है परिणामस्वरूप उपविभाजन एवं उपविखण्डन की समस्याओं के कारण जोतों का आकार अनार्थिक बन जाता है। कृषकों की वित्तीय सहायता हेतु बनाई गई सहकारी एजेंसियाँ भी अपने निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थ रही हैं।

घ) **कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विकास के प्रति गलत धारणाएँ–** कृषि एवं ग्रामीण विकास के लिए जितनी भी योजनाएँ कार्यक्रम लागू किए गए उनका प्रभाव केवल कुछ ही क्षेत्रों/वर्गो तक सीमित रहा। उदाहरण के लिए हरित क्रांति का प्रभाव केवल साधन सम्पन्न कृषकों पर पड़ा, केवल उन्हीं लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध थी परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न वर्गो के बीच आर्थिक असमानताएँ और बढ़ती गई।

गलत द ष्टिकोण एवं धारणा से सम्बन्धित अन्य तत्व में नवीं-परियोजनाओं, कारखानों जैसी परियोजनाओं में पूँजी प्रधान तकनीकी पर अधिक जोर दिया; जबकि भारत में मानवीय प्राकृतिक संसाधनों का उचित प्रयोग नहीं हो पाया है।

ङ) **मानवीय कारक की विफलता-** खेती में नए वैज्ञानिक तरीकों के ज्ञान का प्रयोग करने के लिए कृषकों को प्रोत्साहित करना अति आवश्यक होता है। तथा भूमि सुधारों की अपर्याप्त एवं उनके लागू करने के गलत तरीकों से भूमि के वितरण में आज भी सभी

असमानताएँ पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त देहाती जनसंख्या की ओर से विकास कार्यो में भाग लेने के प्रति उदासीन द ष्टिकोण होता है। जिसका मुख्य कारण उच्च वर्ग तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा शोषित महसूस करना है।

भावी संभावनाएँ

उपरोक्त में कृषि क्षेत्र की असफलताओं का अध्ययन किया है। परन्तु इसके साथ ही कृषि क्षेत्र के कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. **उत्पादिता में व द्धि–** योजनाकाल में कृषि उत्पादिता में व द्धि हुई है जिसके कारण कृषि उत्पादन में भारी व द्धि हुई है। कृषि उत्पादिता का सूचकांक (1967-70=100) जो 1950-51 में 77 थ, वह बढ़कर 1992-93 में 189 हो गया। वार्षिक आधार पर उत्पादिता की औसत व द्धि दर आयोजन काल के लिए 1.8 प्रतिशत निकलती है। इस प्रकार कृषि उत्पादन के बढ़ाने में इसका बड़ा योगदान रहा है और इसके बाद में व द्धि भी होती रही है। हाल के वर्षो में उत्पादित की व द्धि दर बढ़कर 2.3 प्रतिशत हो गई है।

   अनाज के सम्बन्ध में उत्पादिता में अपेक्षाकृत अधिक तेजी से व द्धि हुई है। जैसे कि गेहूं की प्रति हेक्टर उपज 1950-51 में 663 किलोग्राम थी और 1997-98 में 2470 किलोग्राम। इसी प्रकार चावल की प्रति हेक्टर उपज 1950-51 में 668 किलोग्राम और 1997-98 में 1895 किलोग्राम थी। अनाज के आयात को दूर करने तथा देश के आर्थिक विकास की द ष्टि से भारतीय कृषि की यह प्रव त्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

2. **खेती के आधार में मजबूती-** योजनाकाल में उठाए गए विभिन्न कार्यक्रमों के फलस्वरूप कृघि आधार और भी ठोस हुआ है। उदाहरण के लिए देश में सिचांई सुविधाओं का तेजी से विस्तार हुआ है। 1950-51 में सिंचित कृषि भूमि का कुल क्षेत्रफल 226 लाख हेक्टयर था जो लगभग चार गुना बढ़कर 1996-97 में 893 लाख हेक्टयर हो गया। रासायनिक खाद की खपत में तो अप्रत्याशित व द्धि हुई है। इसकी खपत 1960-61 में कुल 3 लाख टन थी जो 46 गुना बढ़कर 1996-97 में 143 लाख टन हो गई। ऊँची उपजवाले बीजों के प्रयोग में भी बहुत व द्धि हुई है। कृषि क्षेत्र में हुई इस क्रांतिकारी परिवर्तन को हरित क्रांति के नाम से जाना जाता है। इसके फलस्वरूप कृषि क्षेत्र की उत्पादन क्षमता में भारी व द्धि हुई है। इस सारी प्रक्रिया के कारण ग्रामीण जीवन में सामूहिक सुधार होगा। इनके अधीन खेती का क्षेत्रफल जो 1966-67 में कुल 19 लाख हेक्टयर ही था, वह बढ़कर 1996-97 में 764 लाख हेक्टयर हो गया।

अन्त में भारतीय कृषि के बारे में दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं पहला यह है कि भारतीय कृषि की गतिहीनता खत्म हुई है, क्योंकि इसका आधार मजबूत होने के कारण इसमें काफी विविधता आई है। दूसरा यह है कि भारतीय कृषि में अगर विशेष प्रयास किए जाएं तो, इस क्षेत्र में अधिक विकास करने की सम्भावनाएं मौजूद हैं।

सुझाव

उपरोक्त वाद-विवाद से अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि कुछ विशेष उपायों/सुझावों की सहायता से कृषि क्षेत्र को उत्पादकता एवं उत्पादित्त में महत्वपूर्ण व द्धि की जा सकती है। ये सुझाव इस प्रकार से हैं-

1. अधिक से अधिक कृषकों को उन्नत उपजवाले किस्मों के बीजों को उपलब्ध कराना
2. भूमि सुधार से सम्बन्धित संस्थागत परिवर्तनों को लागू करके कृषकों को उनके श्रम तथा निवेश का उचित फल प्राप्त हो सके।
3. सिंचाई सुविधाओं (विशेषकर छोटी परियोजनाओं की सहायता से) का पूरा विस्तार करना।
4. कृषि क्षेत्र में अधिक से अधिक अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करने के लिए बजट में अधिक से अधिक व्यय का प्रावधान करना। इन सुझावों को लागू करने के फलस्वरूप मानवीय संसाधनों का इष्टतम प्रयोग संभव हो सकेगा।

उपरोक्त सुझावों के साथ-साथ एक ऐसा संरचनात्मक ढांचा तैयार करना जिसमें उत्पादन कृषि उत्पादन का अधिक से अधिक योगदान निर्धन कृषकों की ओर हो सके। इसके लिए निम्नलिखित उपाय हैं -

1. भूमि सुधारों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाना चाहिए जिसके कारण भूमिहीन श्रमिकों एवं छोटे किसानों में आधिक्य भूमि (Surplus Land) का उचित वितरण हो सके।
2. ग्रामीण स्तर पर श्रम प्रधान कार्यो पर अधिक ध्यान देना, फलस्वरूप निर्धन वर्ग के लोगों को अधिक रोजगार एवं आय के साथ साथ उत्पादन परिसम्पत्तियों का भी निर्माण हो सके।
3. सीमान्त/छोटे कृषकों को कृषि आगतों-उर्वरक, बीज, साख, उपकरण आदि को उपलब्ध कराना।
4. पंचायतों, सामुदायिक विकास परियोजनाओं तथा सहकारी संस्थाओं के माध्यम से कमजोर एवं निर्धन वर्ग के लोगों को विकास प्रणाली में अधिक से अधिक सक्रिय भाग लेने हेतु प्रोत्साहित करना।

कृषि उत्पादन व उत्पादकता की व द्धि दर की प्रव त्तियाँ
(Trends in Growth Rates of Agricultural Production and Productivity)

नई कृषि युक्ति के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों के उत्पादन में तेज व द्धि हुई। खाद्यान्नों के उत्पादन का तीसरी योजना में वार्षिक औसत 8 करोड़ 10 लाख टन था जो सातवीं योजना में 15 करोड़ 50 लाख टन तथा आठवीं योजना में 18 करोड़ 70 लाख टन तक पहुँच गया। 1998-99 में खाद्यान्नों का 20 करोड़ 30 लाख टन उत्पादन हुआ (जो अब तक का सर्वाधिक उत्पादन है)।

उन्नत किस्म के बीजों का कार्यक्रम केवल पाँच फसलों-गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा तथा मक्का-के लिए अपनाया गया था। इसलिए अखाद्य फसलों को नई युक्ति से बाहर रखा गया था। जहाँ तक खाद्यान्नों के उत्पादन का संबंध है, गेहूँ के क्षेत्र में अभूतपूर्व व द्धि हुई और उसका उत्पादन जो तीसरी योजना में प्रतिवर्ष औसतन 1 करोड़ 11 लाख टन था वह आठवीं योजना में औसतन 6 करोड़ 29 लाख टन वार्षिक तक पहुँच गया। 1998-99 में गेहूँ का रेकार्ड 7 करोड़ 8 लाख टन उत्पादन हुआ। इन प्रव त्तियों का परिणाम यह हुआ है कि कुल खाद्यान्नों में गेहूँ का हिस्सा जो 1950-51 में 13 प्रतिशत था वह 1998-99 में बढ़कर 35 प्रतिशत हो गया। जहां

खाद्यान्न उत्पादन का सूचकांक (जो 1981-81 में समाप्त होने वाले तीन वर्षो की औसत को आधार मानकर तैयार किया गया है) 1970-71 में 87.9 से बढ़कर 1998-99 में 164.8 तक ही पहुँच पाया, वहाँ गेहूँ उत्पादन का सूचकांक इसी अवधि में 67.7 से बढ़कर 201.1 तक पहुंच गया। सब खाद्यान्नों की प्रति हेक्टयर उत्पादकता जो 1960-61 में 710 किलोग्राम थी, 1998-99 तक 1,620 किलोग्राम तक ही बढ़ पाई, वहाँ गेहूँ की प्रति हैक्टर उत्पादकता इसी अवधि में 851 किलोग्राम से बढ़कर 2,583 किलोग्राम तक पहुंच गई। यही कारण है कि बहुत से लोगों का कहना है कि भारत में गेहूं उत्पादन में व द्धि ही हरित क्रांति का मुख्य आधार है।

चावल के उत्पादन में हरित क्रांति के आरम्भिक वर्षो में बहुत कम व द्धि हुई थी परन्तु हाल के वर्षो में स्थिति बदली है। चावल का औसत वार्षिक उत्पादन जो तीसरी योजना में 3 करोड़ 51 लाख टन था, आठवीं योजना में 7 करोड़ 87 लाख टन (वार्षिक औसत) तक पहुँच गया। 1998-99 में चावल का उत्पादन और बढ़कर 8 करोड़ 60 लाख टन हो गया। परन्तु मोटे अनाजों (ज्वार, बाजरा तथा मक्का) का उत्पादन या तो स्थिर बना रहा है अथवा उसमें बहुत धीरे-धीरे व अनियमित रूप से व द्धि हुई है। उदाहरण के लिए ज्वार का उत्पादन पांचवीं योजना में औसतन 1 करोड़ 7 लाख टन प्रति वर्ष था। 1998-99 में 89 लाख टन हो गया परन्तु 1995-96 में गिरकर मात्र 54 लाख टन रह गया। 1998-99 में यह 70 लाख टन हो गया। जहां तक दालों का सम्बन्ध है इनका उत्पादन लगभग स्थिर रहा है। उदाहरण के लिए इनका उत्पादन दूसरी योजना में 1 करोड़ 17 लाख टन (वार्षिक औसत) था जो आठवीं योजना में 1 करोड़ 33 लाख टन (वार्षिक औसत) ही हो पाया। परन्तु 1998-99 में दालों का उत्पादन बढ़कर 1 करोड़ 48 लाख टन हो गया। फिर भी यह आवश्यकताओं से काफी कम है (देश में दालों की आवश्यकता 1 करोड़ 70 लाख टन आंकी गई है)। वस्तुतः दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि 1961 में 69 ग्राम प्रतिदिन से कम होकर 1999 में मात्र 38.6 ग्राम रह गई। दालों की उपलब्धि में यह कमी चिन्ता का विषय है क्योंकि दालें प्रोटीन का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं तथा अधिकतर अनाजों की तुलना में इनमें दो से तीन गुना अधिक प्रोटीन पाई जाती है।

अब तिलहन के बारे में विचार करें। तिलहनों का औसत वार्षिक उत्पादन चौथी योजना में 83 लाख टन था जो छठी योजना में बढ़कर 1 करोड़ 14 लाख टन हो गया। तिलहनों के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के उद्देश्य से सरकार ने छठी योजना के अन्तिम वर्षो में तथा सातवीं योजना के दौरान कई कदम उठाए। 1985-86 में राष्ट्रीय तिलहन विकास परियोजना (National Oilseeds Development Project), मई 1986 में तिलहनों का तकनीकी मिशन (Technology Mission on Oilseeds) तथा 1987-88 में तिलहन उत्पादन थ्रस्ट कार्यक्रम (Oilseeds Production Thrust Project) शुरू किए गए। 1989-90 में सरकार ने मूंगफली व तोरी के लिए नई वसूली कीमत नीति की घोषणा की जिसके तहत यह कहा गया किनकी वसूली कीमत कृषि लागत व कीमत आयोग (Commission for Agricultural Cost and Prices) द्वारा निर्धारित कीमत से, कम से कम, 40 प्रतिशत अधिक रखी जाएगी। इन नीतियों के परिणामस्वरूप, तिलहनों के अधीन क्षेत्र में तेज व द्धि हुई जिससे तिलहनों का उत्पादन जो 1987-88 में 1 करोड़ 27 लाख टन था, 1988-89 में बढ़कर 1 करोड़ 80 लाख टन हो गया। वस्तुतः तिलहनों का औसत वार्षिक उत्पादन छठी योजना में 1 करोड़ 14 लाख टन से बढ़कर आठवीं योजना में 2 करोड़ 19 लाख टन हो गया। 1998-99 में तिहनों का उत्पादन और बढ़कर 2 करोड़ 52 लाख टन तक पहुँच गया। पिछले डेढ़ दशक में तिलहनों के उत्पादन में अभूतपूर्व व द्धि को देखते हुए, अशोक गुलाटी और टिम कैली ने हाल में यह तर्क दिया कि भारत में एक नहीं अपितु दो कृषि क्रांतियाँ हुई हैं - हरित क्रांति (Green Revolution) तथा पीली क्रांति (Yellow Revolution)। हरित क्रांति

देश के उन क्षेत्रों में हुई जिनमें सिंचाई की अच्छी व्यवस्था है और अर्थशास्त्री मुख्य रूप से इसी क्रांति की बात करते हैं। पीली क्रांति की शुरुआत 80 के दशक के उत्तरार्द्ध से होती है और इसका सीधा संबंध तिलहनों के उत्पादन से होनेवाली तेज व द्धि से है। यह क्रांति देश के उन कृषि क्षेत्रों में हुई है जिनमें सिंचाई की बहुत कम व्यवस्था है तथा वर्षा कम व अनियमित है।

सारणी 1 में 1949-50 से 1997-98 की अवधि के लिए फसलों के उत्पादन व उत्पादकता की संव द्धि दरें दी गई है। इस पूरी अवधि को दो हिस्सों में बांटा गया है - 1949-50 से 1964-65 (इसे पूर्व हरित क्रांति अवधि कहा जा सकता है) तथा 1967-68 से 1997-98 (इसे हरित क्रांति अवधि कहा जा सकता है)।

सारणी 1 : कुछ फसलों की उत्पादन की उत्पादकता संव द्धि दरें

(प्रतिशत प्रति वर्ष)

फसल	1949-50 से 1997-98		1949-50 से 1964-65		1967-68 से 1997-98	
	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता
चावल	2.67	1.89	3.50	2.25	2.85	2.27
गेहूँ	5.47	3.18	3.98	1.27	4.59	3.04
ज्वार	0.82	1.55	2.51	1.49	0.40	1.86
बाजरा	1.66	1.82	2.34	1.24	0.99	1.87
मक्का	2.40	1.22	3.88	1.18	1.85	1.76
दालें	0.55	0.44	1.41	-0.18	0.91	0.75
सब खाद्यान्न	2.50	1.70	2.82	1.36	2.59	1.98
चीनी	3.07	1.21	4.26	0.95	3.11	1.33
तिलहन	2.77	1.14	3.20	0.30	3.60	1.70
अखाद्यान्न (non foodgrain)	2.98	1.37	3.74	0.89	3.35	1.74
सब फसलें	2.68	1.60	3.15	1.21	2.88	1.99

स्रोतः Government of India, Ministry of Agriculture, *Agricultural Statistics at a Glance,* 1999 (New Delhi, 1999), Table 15.2(a).

जैसा कि इस सारणी से स्पष्ट है, हरित क्रांति की अवधि में गेहूँ उत्पादन की संव द्धि दर 4.59 प्रतिशत प्रति वर्ष रही जो अन्य फसलों की तुलना में कहीं अधिक है। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गेहूँ उत्पादकता में तीव्र व द्धि के कारण ही गेहुँ उत्पादन में महत्त्वपूर्ण व द्धि प्राप्त की जा सकी है।

यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि संपूर्ण हरित क्रांति अवधि के लिए संव द्धि दरों का अध्ययन करने से इस अवधि में हुए कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई नहीं देते। यदि हम इस अवधि को दो हिस्सों में बांट दें (i) 1967-68 से 1980-81 और (ii) 1980-81 से 1997-98 तो हम पाएँगे कि 1980-81 से 1997-98 की अवधि में चावल और तिलहन जैसी फसलों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण व द्धि हुई है। यह बात सारणी 2 से स्पष्ट है।

सारणी 2:हरित क्रांति की अवधि में कुछ फसलों की उत्पादन व उत्पादकता संव द्धि दरें

(प्रतिशत प्रति वर्ष)

फसल	1967-68 से 1997-98		1967-68 से 1980-81		1967-68 से 1997-98	
	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता	उत्पादन	उत्पादकता
चावल	2.85	2.27	2.22	1.45	3.06	2.52
गेहूँ	4.59	3.04	5.65	2.62	3.57	2.73
ज्वार	0.40	1.86	2.04	3.22	-1.02	1.63
बाजरा	0.99	1.87	-0.38	0.77	1.87	2.97
मक्का	1.85	1.76	0.02	0.00	2.73	2.38
दालें	0.91	0.75	-0.40	-0.67	1.04	1.06
सब खाद्यान्न	2.59	1.98	2.15	1.33	2.58	1.40
चीनी	3.11	1.33	2.60	0.80	3.47	1.32
तिलहन	3.60	1.70	0.98	0.68	5.36	2.30
अखाद्यान्न	3.35	1.74	2.26	1.19	4.45	2.10
सब फसलें	2.88	1.99	2.19	1.28	3.23	2.24

स्रोतः Government of India, Ministry of Agriculture, *Agricultural Statistics at a Glance,* 1999 (New Delhi, 1999), Table 15.2(b).

जैसा कि सारणी 2 से स्पष्ट है, चावल उत्पादन की संव द्धि दर 1967-68 से 1980-81 की अवधि में 2.22 प्रतिशत प्रति वर्ष से बढ़कर 1980-81 से 1997-98 की अवधि में 3.06 प्रतिशत प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। इसी दौरान चावल उत्पादकता की संव द्धि दर भी 1.45 प्रतिशत प्रति वर्ष से बढ़ कर 2.52 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। दूसरी ओर गेहूँ उत्पादकता की संव द्धि दर तो बढ़ी परन्तु गेहूं उत्पादन की संव द्धि दर कम हो गई। हरित क्रांति के उत्तरार्द्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रगति तिलहनों के क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। 1967-68 से 1980-81 के दौरान तिलहन उत्पादन और उत्पादकता की संव द्धि दरें क्रमशः 1.04 प्रतिशत प्रति वर्ष तथा 1.06 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि अब हरित क्रांति गेहूँ के अलावा अन्य फसलों में भी सफल होने लगी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए, सी.एच. हनुमन्त राव का यह कहना है कि "हरित क्रांति के आरम्भिक काल में विभिन्न फसलों के बीच जो असन्तुलन था उसमें अब धीरे धीरे कमी हो रही है।

नब्बे के दशक में कृषि संव द्धि दरों में गिरावट (Deceleration in Agricultural Growth Rates in Nineties)– पिछले कुछ वर्षो में गंभीर चिंता का विषय यह रहा है कि नब्बे के दशक में कृषि की संव द्धि दरों में काफी गिरावट हुई है। भारत सरकार के Economic Survey 1999-2000 के तथा रिजर्व बैंक की Report on Currency and Finance 1998-99, की सारणी AGR-A से यह बात स्पष्ट होती है कि अस्सी के दशक के मुकाबले, नब्बे के दशक में, अधिकतर फसलों की उत्पादन व द्धि और उत्पादकता में गिरावट आई। Economic Survey की सारणी 8.6 में मुख्य खाद्य फसलों की उत्पादन व द्धि दरें दर्शाई गई हैं। इस सारणी के अनुसार 1979-80 से 1989-90 के दशक के दौरान विभिन्न खाद्य फसलों की वार्षिक उत्पादन संव द्धि दरें निम्नलिखित थीं : चावल 4.29 प्रतिशत, गेहूँ 4.24 प्रतिशत, मोटा अनाज 0.74 प्रतिशत, कुल अनाज 3.63 प्रतिशत, दालें 2.78 प्रतिशत तथा कुल खाद्यान्न 3.54 प्रतिशत। इसके विपरीत 1989-90 से

1998-99 के दौरान इन फसलों की वार्षिक उत्पादन संव द्धि दरें निम्नलिखित थीं: चावल 1.60 प्रतिशत, गेहूं 3.62 प्रतिशत, मोटा अनाज -0.48 प्रतिशत, कुल अनाज 1.88 प्रतिशत, दालें 1.19 प्रतिशत तथा कुल खाद्यान्न 1.80 प्रतिशत (आधार 1981-82 को समाप्त होनेवाली त्रिवर्षीय अवधि=100)। इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्सी के दशक की अपेक्षा, नब्बे के दशक में खाद्य उत्पादन की संव द्धि दरें काफी कम रही हैं। इसी प्रकार के निष्कर्ष Report on Currency and Finance से उद्धत निम्न सारणी से प्राप्त होते हैं:

सारणी 3: अस्सी और नब्बे के दशकों में कृषि संव द्धि दरें

(प्रतिशत प्रति वर्ष)

फसल	उत्पादन			उत्पादकता		
	1980-81 से 1989-90	1990-91 से 1998-99		1980-81 से 1989-90	1990-91 से 1998-99	
चावल	3.62	1.69		3.19	1.18	
गेहूँ	3.57	3.28		3.11	1.57	
मोटा अनाज	0.35	0.19		1.71	2.25	
अनाज	2.85	1.97		3.11	1.99	
दालें	1.49	1.38		1.59	1.46	
खाद्यान्न	2.73	1.92		2.97	1.96	
तिलहन	5.46	3.74		2.95	2.81	
गन्ना	2.71	2.48		1.23	0.66	
कपास	2.79	3.52		4.10	0.42	
सूचकांक	**उत्पादन**			**उत्पादकता**		
	1980-81 से 1989-90	1990-91 से 1997-98		1980-81 से 1989-90	1990-91 से 1997-98	
खाद्यान्न सूचकांक	2.85	1.71		2.74	1.41	
अखाद्यान्न सूचकांक	3.77	3.28		2.31	1.41	
सब फसलों का सूचकांक	3.19	2.35		2.35	1.37	

स्रोत: Reserve Bank of India, *Report on Currency and Finance*, 1998-99 (Mumbai, 1999), Table AGR-A, p.III-2.

जैसा कि इस सारणी से स्पष्ट है, सारणी में दी गई सभी फसलों के उत्पादन की संव द्धि दर नब्बे के दशक में, अस्सी के दशक की तुलना में कम रही है (केवल कपास को छोड़कर)। सभी खाद्यान्नों की उत्पादन संव द्धि दर जो अस्सी के दशक में 2.73 प्रतिशत प्रति वर्ष थी, नब्बे के दशक में कम होकर 1.92 प्रतिशत प्रति वर्ष रह गई। सभी फसलों के उत्पादन के सूचकांक में अस्सी के दशक के दौरान 3.19 प्रतिशत प्रति वर्ष की व द्धि दर्ज की गई जो 1990-91 में 1997-98 के दौरान कम होकर 2.35 प्रतिशत प्रति वर्ष रह गई। इसी अवधि में सभी फसलों की उत्पादकता के सूचकांक में व द्धि 2.35 प्रतिशर्त प्रति वर्ष से कम होकर 1.37 प्रतिशत प्रति वर्ष रह गई।

अस्सी के दशक की तुलना में नब्बे के दशक में कृषि उत्पादन व उत्पादकता दरों में कमी के अलावा, इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि 1993-99 में कृषि के सकल घरेलू उत्पाद में औसत संव द्धि दर 1987-94 की अपेक्षा कम रही। इतना ही नहीं, कृषि क्षेत्र में सकल घरेलू उत्पाद की संव द्धि दर दोनों अवधियों में (1987-94 और 1993-99 में) गैर कृषि क्षेत्र से सकल घरेलू उत्पाद की संव द्धि दर से कम रही।

कृषि विकास में क्षेत्रीय असमानताएँ
(Regional Disparities in Agricultural Development)

यद्यपि भारत एक बड़ा देश है परन्तु फिर भी भौगोलिक द ष्टि से देश के विभिन्न हिस्सों में समानता काफी कम पाई जाती है क्योंकि कम समानता का आधार मिट्टी, वर्षा, तापक्रम आदि में काफी अन्तर पाया जाता है कि एक नए राज्य में लागू होनेवाला कार्यक्रम दूसरे राज्य में लागू नहीं हो पाता। नई कृषि युक्ति भी देश के कुछ हिस्सों में ही कामयाब रही है जिसकी वजह से क्षेत्रीय असमानताएँ बढ़ी हैं।

नई कृषि युक्ति को कुल कृषि क्षेत्र का लगभग 40 प्रतिशत ही भूमि पर लागू किया गया। फलस्वरूप नई कृषि युक्ति का प्रमाण केवल इसी क्षेत्र तक ही सीमित रहा। इसके अतिरिक्त हरित क्रांति का प्रभाव केवल सीमित क्षेत्रों तक ही रहा। (हरित क्रांति केवल वहीं सम्पन्न हुई जहाँ सिंचाई की व्यवस्था व साधन उपलब्ध थे)। क्षेत्रीय असमानताओं पर नई कृषि युक्ति से संबंधित प्रभाव जानने के लिए सारणी 4 में भारत के विभिन्न राज्यों को चार भागों में बाँट दिया गया है।

सारणी 4: विभिन्न राज्य वर्गो का खाद्यान्न उत्पादन में प्रतिशत हिस्सा, 1960-61 से 1998-99

(त्रिवर्षीय औसत)

क्षेत्र	1960-62	1972-74	1996-97 से 1998-99
1. उत्तर			
हरियाणा और पंजाब	7.66	11.62	16.90
उत्तर प्रदेश	17.50	16.84	20.87
	25.16	28.46	37.77
2. पूर्व			
असम	2.12	2.24	1.77
बिहार	9.21	8.50	6.96
उड़ीसा	5.12	4.73	2.90
पश्चिमी बंगाल	6.69	7.22	71.4
	23.15	22.70	18.77
3. दक्षिण			
आन्ध्र प्रदेश	8.38	8.21	6.54
कर्नाटक	4.93	5.88	4.58
केरल	1.36	1.35	0.39
तमिलनाडु	6.97	6.47	4.23
	21.46	21.96	15.74
4. पश्चिम मध्य गुजरात	2.78	2.78	2.77
मध्य प्रदेश	11.53	10.50	9.52
महाराष्ट्र	8.47	6.02	6.22
राजस्थान	6.33	5.65	6.69
	29.11	24.96	25.20
सकल भारत*	100.00	100.00	100

*हिमाचल प्रदेश, जम्मू व कश्मीर तथा उत्तर पूर्वी राज्यों को शामिल न करने के कारण चार राज्य वर्गो का जोड़ 100 के बराबर नहीं है।

स्रोतः (i) Utsa Patnaik, "India's Agricultural Development in the Light of Historical Experience," in Terence J. Byres (Ed.), *The State, Development Planning and Liberalisation in India* (Delhi, 1997), Table 4, pp.192-3; (ii) Government of India, *Economic Survey,* 1999-2000 (Delhi, 2000), Statement 1.15,pp.S-19 to S-21.

संजय

पहली अवधि में कुल खाद्यान्न उत्पादन 7.95 करोड़ टन था। इसमें सर्वाधिक हिस्सा पश्चिमी क्षेत्र का था। इस क्षेत्र में खाद्यान्न उत्पादन 2.3 करोड़ टन था जो कुल उत्पादन का 29.11 प्रतिशत था। दूसरा स्थान उत्तरी क्षेत्र का था जिसका उत्पादन 25.16 प्रतिशत था। पूर्वी और दक्षिणी राज्यों का हिस्सा 23.15 प्रतिशत और 21.46 प्रतिशत था। इसके पश्चात् उत्तरी राज्यों के हिस्से में तेज व द्धि हुई। जैसा कि सारणी 4 से स्पष्ट है, उत्तरी राज्यों का कुल खाद्यान्न में हिस्सा 1960-62 में 25.16 प्रतिशत से बढ़कर 1972-74 में 28.46 प्रतिशत तथा 1996-97 से 1998-99 के बीच बढ़कर 27.77 प्रतिशत हो गया। इसी दौरान पश्चिम मध्य क्षेत्र का हिस्सा 29.11 प्रतिशत से कम होकर 25.20 प्रतिशत रह गया। पहली दो अवधियों में पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों का हिस्सा लगभग अपरिवर्तित रहा परन्तु उसके बाद तीसरी अवधि में पूर्वी क्षेत्र का हिस्सा गिरकर 18.77 प्रतिशत और दक्षिणी क्षेत्र का हिस्सा मात्र 15.74 प्रतिशत रह गया।

चूँकि जनसंख्या व द्धि में इन तीन अवधियों के दौरान कोई क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं हुए इसलिए खाद्यान्न उत्पादन की ऊपर वर्णित प्रव त्तियों का प्रभाव यह हुआ कि उत्तरी क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति खाद्य उत्पादन में कमी आई। उत्सा पटनायक के अध्ययन से पता चलता है कि जहाँ उत्तरी क्षेत्र में प्रति व्यक्ति खाद्य उत्पादन 1961-62 में 204.6 किलोग्राम से बढ़कर 1986-87 में 337 किलोग्राम तक पहुँच गया वहाँ पूर्वी क्षेत्र में यह 162.2 किलोग्राम से कम होकर 152.9 किलोग्राम, दक्षिण क्षेत्र में 152.3 किलोग्राम से कम होकर 134 किलोग्राम, तथा पश्चिमी क्षेत्र में 198.6 किलोग्राम से कम होकर 160.3 किलोग्राम रह गया।

अध्याय-12
भारतीय कृषि नीति की समीक्षा
(Review of Agricultural Policy in India)

भूमिका

किसी भी देश की आर्थिक नीति का निर्माण, मुख्यतः कृषि उत्पादन उत्पादकता में व द्धि करने के लिए और समय की निश्चित अवधि में आय के स्तर में व द्धि करने तथा उनके जीवन के स्तर में व द्धि करने के लिए किया जाता है। यह नीति कृषि क्षेत्र के सर्वागीण तथा व्यापक विकास के लिए बनाई जाती है। भारत में कृषि नीति के मुख्य उद्देश्यों का सम्बन्ध प्राकृतिक साधनों के गलत तथा अकार्यकुशल प्रयोगों, कम मूल्य कृषि की प्रधानता, क्षेत्रीय गतिविधियों का कम लागत/लाभ अनुपात तथा सहकारी खेती तथा अन्य स्वयं सहायतार्थ संस्थाओं की महत्त्वहीन प्रगति सम्बन्धित है।

मुख्य उद्देश्यः भारतीय कृषि नीति के महत्त्पूर्ण उद्देश्यों में कुछ उद्देश्य निम्नलिखित हैंः

१ **आगतों की उत्पादकता में व द्धि करना** - किसानों द्वारा खरीदे गऐ आगतों जैसे उर्वरकों, खाद, कीटनाशक दवाईयाँ सिंयाई तथा ऊँची पैदावार देनेवाली बीजों के किस्में आदि की उत्पादकता में व द्धि करना है।

२. **गरीब किसानों के अधिकारों की रक्षा करना** - इस नीति का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी रहा है कि भूमि सुधारों की सहायता से मध्यस्थों की समाप्ति तथा गरीब किसानों को संस्थागत साख सहायता को प्रदान करके इनके अधिकारों की रक्षा करनी है।

३. **प्रति हेक्टेयर मूल्य व द्धि में व द्धि करना** - कृषि नीति का उद्देश्य कृषि क्षेत्र की उत्पादकता में व द्धि के फलस्वरूप भौतिक उत्पाद में व द्धि में सामान्यतः और छोटे तथा सीमान्त जोतों की उत्पादकता में व द्धि विशेषकर की बजाय प्रति हेक्टेयर मूल्य व द्धि करने से है।

४. **कृषि क्षेत्र का आधुनिकीकरण** - कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण करने के लिए कृषि कार्यो में आधुनिक तकनीकी तथा सुधार किए हुए कृषि आगतों जैसे ऊँची उपज देनेवाले किस्मों के बीज, खाद/उर्वरकों का प्रयोग, से सम्बन्धित नीति।

५. **पर्यावरण के गिरते स्तर को रोकना** - कृषि नीति का एक और उद्देश्य भारतीय कृषि के प्राकृतिक आधार के पर्यावरण के गिरते स्तर को रोकना है।

६. **कृषि अनुसंधान तथा प्रशिक्षण** - कृषि नीति एक अन्य उद्देश्य कृषि अनुसंधान तथा प्रशिक्षण सुविधाओं को प्रोत्साहन करना जिसके फलस्वरूप किसानों तथा अनुसंधान संस्थाओं के सहलग्नता के कारण किसानों को लाभान्वित किया जा सके।

७. **प्रशासनिक बाधाओं को दूर करना** - एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि किसान सहकारिता संगठनों तथा स्वयं सहायतार्थ संस्थाओं में जो प्रशासनिक बाधाएं होती हैं उनको दूर किया जाए।

स्वतन्त्रता से कृषि नीति की मुख्य विशेषताएँ/तत्व
(Agricultural Policy followed since Independence : Main Features/Elements)

भारत की सरकार ने भारतीय कृषि का विकास करने के लिए बहुत कदम उठाए हैं। ये इन सभी को विभिन्न वर्षो में देश की कृषि नीति में शामिल किया गया है। कृषि नीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं।

१ **भूमि सुधार-** स्वतन्त्रता के बाद, सरकार द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण उठाए गए कदम अधिक से अधिक किसानों की बेहतर स्थिति बनाने के लिए मध्यस्थों की समाप्ति करने हेतु भूमि सुधारों में जमींदारी, रैयतवारी काश्तकारी प्रणाली में परिवर्तन करने से है। इन कदमों में मध्यस्थों की समाप्ति, काश्तकारी सुधारों में लगान का निर्धारण तथा उनको मालिकाना अधिकार दिलवाना तथा अन्तिम रूप में अधिकतम भूमि सीमा का निर्धारण शामिल है। इन कदमों का मुख्य उद्देश्य काश्तकारों को शोषण से या समाज से किसी भी प्रकार के होनेवाले शोषण से बचाना था। परन्तु भारत में भूमि सुधारों को बहुत अधिक सफलता प्राप्त नहीं मिल सकी तथा योजना बनानेवालों की इच्छाओं की पूर्ति न हो सकी।

२. **सहकारिता तथा जोतों की चकबन्दी** - भारत में कृषिनीति ने जोतों में होनेवाली निरन्तर उपविभाजन तथा विखण्डन को रोकने के सहकारिता तथा जोतों की चकबन्दी के रूप में एक नई स्कीम का प्रावधान किया। जोतों की चकबन्दी के फलस्वरूप भूमि समय तथा शक्ति को व्यर्थ होने से बचाया जा सकता है तथा इसके फलस्वरूप किसान उत्पादन के नए तरीकों का प्रयास कर सकता है।

३. **नई तकनीकी को लागू करना** - नई भारतीय कृषि नीति में खेती के दोनों ही तरीकों जैसे गहन तथा विस्त त विधियों का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप, १९६६ में भारत में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में एक नया पैकेज प्रोग्राम शुरू कर दिया गया। देश में कृषि उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए उत्पादन की नई स्कीमों जिसमें उच्च उपज देनेवाले बीजों की किस्में तथा कीटनाशक दवाइयों को लागू किया गया। परिणामस्वरूप, खाद्य पदार्थो का कुल उत्पादन १९५०-५१ में ५०.८ मिलियन टन से बढ़कर १९९८-९९ में २९३.० मिलियन टन बढ़ गया। परन्तु कृषि में इस नई तकनीकी को विशेष ही राज्यों में लागू किया गया जिसके फलस्वरूप विभिन्न राज्यों की उत्पादकता तथा आय में विविधता और बढ़ गई।

४. **लोगों को भागीदारी की नीति** - १९५२ में सामुदायिक विकास के प्रोग्राम को शुरू किया गया ताकि योजनाओं में आम लोगों की भागीदारी हो सके और उनकी बेहतरी तथा उन्नति के लिए भी अधिक से अधिक अवसर उपलब्ध मिल सकें। परन्तु अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि सामुदायिक विकास का प्रोग्राम बहुत अच्छा/सराहनीय प्रदर्शन नहीं रहा। तथा पंचायती राज - योजना प्रणाली में लोगों की भागीदारी बढ़ाने के लिए प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रणाली की शुरुआत की। परन्तु इस प्रणाली के फलस्वरूप भी ग्रामीण लोगों को बहुत कुछ फायदा नहीं मिल सका क्योंकि जो स्थानीय नेता इन पंचायतों का प्रतिनिधिÙo करते हैं, वो ही लोगों का शोषण, राजनीतिक छींटाकशी / खींचातानी तथा भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

५. **कृषि कीमत नीति** - किसानों को उनकी फसलों/उत्पादन के बदले में अपनी कीमत/प्रतिफल दिलवाने के लिए सरकार कृषि उत्पाद के न्यूनतम समर्थन कीमतों तथा खरीद कीमतों की घोषणा करती है हाल के वर्षो में कृषि कीमत आयोग, किसानों को उत्पादन में विस्तार करने के लिए काफी ऊँचे तथा अधिक कीमतों की घोषणा करता रहा है जिसके फलस्वरूप किसान और अधिक पैदावार में व द्धि कर सकें। परन्तु यह नीति भी केवल बड़े ही किसानों की सहायता करती है क्योंकि उनके पास ही अधिक बिक्री योग्य आधिक्य होता है।

६. **कृषि साख** - सरकार ने किसानों के संस्थागत साख आधार का विस्तार बढ़ाने के लिए एक नई तथा महत्त्वपूर्ण नीति की घोषणा की है (सहकारिता तथा वाणिज्य बैंकों के माध्यम से)। फलस्वरूप सहकारी बैंकों का १९५१-५२ में कुल ऋण वितरण में ३. १ प्रतिशत हो गया है। १९६९ में वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद इन बैंकों ने कृषि क्षेत्र का और अधिक साख देना शुरू किया है। इसके अतिरिक्त कृषि साख की समस्या से निपटने के लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की भी स्थापना की गई। नाबार्ड एक और नए बैंक की भी स्थापना ऊपर लिखित समस्या से निपटने के लिए की गई। परन्तु कृषि को संस्थागत साख की नीति से विशेष लाभ बड़े ही किसानों को मिला तथा छोटे/सीमान्त किसान अभी भी ग्रामीण साहूकारों पर निर्भर करते रहेंगे।

७. **अन्य त**Ùo- भारतीय कृषि नीति के और मुख्य तत्त्व भी इस प्रकार से हैं-

क. सिंचाई सुविधाओं का विस्तार करने के लिए बड़े/मध्यम स्तर के सिंचाई परियोजनाओं तथा बिजली आपूर्ति बढ़ाने के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण स्कीम को लागू करना।

ख. कृषि विपणन प्रणाली का विकास तथा सुधार करने के लिए नियमित मण्डियों का विकास तथा अन्य विधियाँ जैसे बाजार की सूचनाएँ तथा सहकारिता बाजार ढाँचे को मजबूत करना।

ग. बफर स्टॉक की उपयुक्त मात्रा बनाने के लिए स्टोरेज तथा भण्डारीकरण सुविधाएँ उपलब्ध करवाना तथा किसानों को उत्पादन की जबरन बिक्री के प्रयासों को रोकना।

घ. कृषि मजदूरों की आर्थिक स्थिति में सुधार करना तथा इसके लिए न्यूनतम मजदूरी एक्ट, बन्धवा मजदूरों की समाप्ति, जमीन के आधिक्य को भूमिहीन किसानों में हस्तk¡तरण करना तथा ग्रामीण रोजगार के प्रोग्रामों को शुरू करना।

ङ कृषि अनुसंधान तथा प्रशिक्षण को प्रोत्साहन करना ताकि कृषि प्रयासों का और

अधिक विकास हो सके; इसके लिए अनुसंधान के लिए भारतीय काउंसिल आदि की स्थापना की है। इसके फलस्वरूप छठी योजना में किसानों और अनुसंधान संस्थानों में सहलग्नता हुई।

च. हरित क्रkiति को पूर्वी क्षेत्रों में विस्तार करने के लिए तथा सूखे क्षेत्रों के विकास के लिए सातवीं योजना ने दो विशिष्ट प्रोग्राम शुरू किए १९८६ में।

छ. दालों के उत्पादन में व द्धि करने के लिए केन्द्र के सौजन्य द्वारा एक राष्ट्रीय दाल विकास प्रोग्राम शुरू किया गया।

ज. १९८५ में व्यापक फसल बीमा योजना, सारे देश में शुरू की गई ताकि प्राकृतिक विपदाओं के कारण किसानों की फसल न होने की स्थिति में उन्हें वित्तीय सहायता उपलब्ध हो सके तथा इस स्थिति में भी किसान की वित्तीय साख भी बनी रहे।

सरकार की नई कृषि नीति

उद्देश्य - नई कृषि नीति की घोषणा जुलाई २००० में की गई। इनमें जिन उद्देश्यपरक बातों को शामिल किया गया है, उनमें मुख्य ये हैं-भारतीय कृषि के विविध संव द्धि क्षमता को उपयोग में लाना; ग्रामीण आधारिक संरचना को सशक्त बनाना, ताकि वह तेज कृषि विकास का भार उठाने में समर्थ हो सके; खेती से जुड़े व्यवसाय को बढ़ावा देना; ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार अवसरों का तेजी से स जन; किसानों और खेतिहर मजदूरों तथा उनके परिवारों के लिए उचित जीवन-स्तर की प्राप्ति के लिए व्यवस्था करना; शहरी क्षेत्र की ओर पलायन की प्रव त्ति को हतोत्साहित करना; तथा आर्थिक उदारीकरण एवं सार्वभौमीकरण के फलस्वरूप उठनेवाली चुनौतियों का सामना करना।

इस नीति के अंतर्गत कृषि क्षेत्र के लिए औसत संव द्धि दर का लक्ष्य ४ प्रतिशत के ऊपर निर्धारित किया गया है। जल, मिट्टी और जीव विविधता को सुरक्षित रखते हुए संसाधनों के कुशल उपयोग के आधार पर संव द्धि दर के लक्ष्य को प्राप्त किया जाना है। साथ ही यह भी जरूरी ठहराया गया कि संव द्धि औचित्यपूर्ण हो। इसका लाभ सभी स्थानों और किसानों को मिले। यही नहीं बल्कि घरेलू बाजार में जरूरतें पूरी हों और उदारीकरण तथा विश्व बाजार की ओर से उठने वाली चुनौतियों का सामना करते हुए कृषि पदार्थों के निर्यात से अधिकतम लाभ कमाना है।

उपाय - निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक और विभिन्न प्रकार के उपायों का नीति में समावेश किया गया है। उदाहरण के लिए भूमि पर बढ़ते हुए भार को सीमित करने तथा गैर कृषि कार्यो के लिए कृषि भूमि के अंधाधुन्ध इस्तेमाल को नियंत्रित करने के लिए उपाय किए जाने हैं। उपयुक्त बंजर भूमि को खेती और वनरोपण के लिए प्रयोग करने की भी व्यवस्था की गई है। जल के सम्बन्ध में सतही और स्थल जल के संयोजित प्रयोग को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में, इससे जुड़े संगठनों (जैसे कि राष्ट्रीय बीज निगत और राज्य फार्म निगम) का पुनर्गठन किया जाएगा, ताकि निवेश और श्रमशक्ति का भरपूर उपयोग सुनिश्चित हो सके।

इस नीति में कृषि के अंतर्राज्यीय व्यापार की उन रुकावटों को दूर करने का संकल्प लिया गया जिनसे कृषि उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

खेती सम्बन्धी कार्यकलापों के सुचारू रूप से संचालन के लिए ऋण की उपलब्धि को सुविधाजनक बनाने की भी नीति में व्यवस्था की गई है। ग्रामीण और कृषि वित्त को अधिकाधिक

संस्थागत रूप दिया जाएगा, ताकि समय पर और पर्याप्त मात्रा में ऋण मिल सके। व्यवस्था ऐसी की जाएगी कि उपज के रेहन पर ऋण की प्राप्ति संभव हो सके। इस सम्बन्ध में औद्योगिक क्षेत्र को जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं, उनका विस्तार खेती तक कर दिया जाएगा। ऐसा प्रस्ताव है कि ऋण देनेवाली संस्थाएँ, बचत, निवेश और जोखिम-प्रबंधन के क्षेत्र में अपनी भूमिका भली प्रकार निभा सकें। साथ ही सहकारी ऋण समितियों के संबंध में रचनात्मक सुधार लाए जायेंगे जिससे कि अफसरशाही के अत्यधिक प्रभाव और राजनीतिक हस्तक्षेप को दूर करके उनको अपने कार्य में सक्षम बनाया जा सके।

कृषि में पूँजी निर्माण व निर्यात को बढ़ाने के लिए इस नीति में कदम उठाये गये हैं। इस संबंध में इन जैसे उपायों की व्यवस्था की गई है - कृषि क्षेत्र के लिए प्रोत्साहन व्यवस्था में जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं उनको दूर करना, घरेलू और विदेशी बाजारों में सुधार लाना तथा कराधान ढाँचे को युक्तिसंगत बनाना। निजी कंपनी क्षेत्र के निवेश को भी प्रोत्साहन दिया जाना है, विशेष रूप से कृषि अनुसंधान विकास तथा विपणन संबंधी कार्यो में। साथ ही सरकारी समितियों सहित निजी कंपनियों और निगमों का डेरी, उद्योग, मुर्गी पालन आदि क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर सहारा लिया जाएगा। इनके अतिरिक्त कम्पनियों को इस बात के लिए भी अभिप्रेरित किया जाएगा कि पट्टे पर भूमि लेकर वे कृषि कार्य के संचालन में भाग ले सकें। इनके पास साधन भी अधिक होते हैं और जोखिम उठाने की क्षमता भी।

इस नीति में भूमि सुधार से सम्बन्धित निम्न उपाय किये गये हैं। उप विभाजन और विखण्डन की समस्या के समाधान के स्रोतों की चकबन्दी के काम में तेजी लाने पर जोर दिया गया है। अभी कुछ ही राज्यों ने इस दिशा में सन्तोषजनक प्रगति की है। कास्तकारों और बटाईदारों की दशा सुधारने तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। साथ ही इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि भूमि सम्बन्धी रिकार्ड पूरे, सही और नवीनतम बने रहें।

मूल्याँकन - नई कृषि नीति धरातल पर व्यावहारिक जान पड़ती है। इसमें निर्धारित उद्देश्य वर्तमान स्थिति में बहुत ठीक ठहरते हैं। संव द्धि की ऊँची दर (४ प्रतिशत वार्षिक के ऊपर); मजबूत आधारित संरचना, कृषि आधारिक संरचना, कृषि आधारित व्यवसाय का तेजी से विकास, अधिक रोजगार अवसर, किसानों के लिए समुचित जीवन स्तर, उदारीकरण और विश्व बाजार की चुनौतियों का सामना आदि से जुड़े उद्देश्य न्यायसंगत और आवश्यक हैं। साथ ही इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख है कि संव द्धि माध्यम, न्यायपरक, बाजारोन्मुख और निर्वाह योग्य हो, स्पष्टतः सराहनीय है। इससे खेती की वर्तमान कमजोरियों (जैसे कि निम्न संव द्धि दर, विभिन्न क्षेत्रों के बीच संव द्धि दर में भारी अन्तर, नीची उत्पादिता सीमित निर्यात, अपर्याप्त निवेश घटिया तकनीक आदि) को दूर करने में भारी मदद मिल सकेगी।

इन उद्देश्यों को हासिल करने के लिये निम्नलिखित उपाय सुझाए गए हैं। कृषि पदार्थो के भेजने मँगाने पर जो तरह तरह के प्रतिबंध लगे हुए हैं उनको उत्तरोत्तर कम करके बाजार प्रणाली के संचालन को व्यापक और सुचारू बनाया जाएगा। इसी प्रकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कृषि कार्यकलापों में निजी कम्पनी क्षेत्र की बड़े पैमाने की सहभागिता से सम्बन्धित है। निवेश और अनुसंधान के अतिरिक्त पट्टे पर प्राप्त जमीन पर खेती करने, डेरी उद्योग एवं कृषि से जुडे अन्य व्यवसायों के संचालन में कंपनियों के सहयोग का प्रावधान नीति में किया गया है। भूमि सुधार की दिशा में आगे बढ़ने पर विशेष ध्यान दिया गया है जो हर द ष्टि से आवश्यक और वाँछनीय है इस सम्बन्ध में जोतों की चकबन्दी और काश्तकारों की दशा सुधारने पर विशेष बल दिया गया है।

स्पष्टतः नीति का विस्तार बहुत व्यापक है। कृषि-क्षेत्र के लगभग हर पहलू को नीति में शामिल किया गया है। साथ ही कृषि-क्षेत्र की मुख्य समस्याओं के लिए आवश्यक उपायों का उल्लेख किया गया है। इस संदर्भ में विभिन्न एजेन्सियों (जैसे किसान, सरकारी, सहारी संगठन और निजी कम्पनियों) की भूमिका पर यथोचित प्रकाश डाला गया है।

नई कृषि नीति में कुछ समस्याओं पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। आज की समस्याओं में मुख्य इस प्रकार है-कृषि-उत्पादिता की ह्रासमान प्रव त्ति, कृषि में सार्वजनिक निवेश में गिरावट, आयात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबन्धों के हटाए जाने से असमान प्रतियोगिता, तथा सहायिकी की वर्धमान मात्रा। दो, निजी कम्पनियों की बड़े पैमाने पर कृषि-क्षेत्र में सहभागिता की जो नीति में व्यवस्था की गई है, वह व्यावहारिक नहीं जान पड़ती। इस दिशा में वk¡छित मात्रा में निवेश की, विशेष रूप से स्थायी पूंजी-निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए जरूश्री है कि काफी समय के लिए पट्टे पर जमीन उपलब्ध हो, जो अनेक भूमिधर किसानों को सम्भवतः स्वीकार्य न होगी। सामाजिक द ष्टि से यह बहुत वाँछनीय भी नहीं ठहरता। तीन, नीति में नियंत्रण और बन्धनों के हटाये जाने के प्रावधान के बावजूद कुछ क्षेत्रों में संरक्षण और सहायिकी आदि की व्यवस्था कायम हैं इससे सक्षम खेती के रास्ते में रूकावट पैदा होगी और विश्व बाजार से पर्याप्त लाभ उठा पाना सम्भव न होगा। चार, नौंवी योजना के एक प्रपत्र में कृषि के सम्बन्ध में सवद्धि-दर का लक्ष्य दसवीं योजना (2002-07) के लिए 5.3 प्रतिशत और ग्याहरवीं योजना (2007-12) के लिए 5.1 प्रतिशत सुझाया गया था। इस द ष्टि से राष्ट्रीय कृषि-नीति में अगले दस वर्षों के लिए 4 प्रतिशत के ऊपर जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है, वह उससे मेल नहीं खाता। इस प्रकार की बात उठाई तो जा सकती है, लेकिन नौवीं योजना में संव द्धि-दर का लक्ष्य 4.5 प्रतिशत रखा गया था, लेकिन प्रथम चार वर्षों में प्राप्त संव द्धि-दर केवल 2.3 प्रतिशत के लगभग रही है। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्य से हम बहुत पीछे हैं। ऐसी स्थिति में वर्तमान नीति में जो थोड़ा कम लक्ष्य रखा गया है, वह बहुत-कुछ न्यायसंगत ही ठहरता है।

अतः निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि कुछ खामियों के बावजूद, राष्ट्रीय कृषि-नीति बहुत व्यापक और सराहनीय है।

नई नीति की पोषणीयता
(Sustainibility of New Policy)

कृषि विकास को आर्थिक तकनीकी तथा पर्यावरण की द ष्टि से पोषणीय बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए गए हैं।

1. भूमि पर जैविक दबावों (Biotic pressure) को सीमित करना और कृषि-भूमियों के गैर-कृषि प्रयोगों में इस्तेमाल के परिणामस्वरूप अन्धाधुन्ध विभाजन को नियंत्रित करना।
2. अप्रयुक्त व्यर्थभूमियों (Wastelands) को कृषि तथा वाणिकी के लिए इस्तेमाल करना।
3. बहु-फसल (Multi-cropping) एवं मिश्रित फसलों द्वारा फसल-तीव्रता (Crop intensity) को बढ़ाना।
4. वर्षा पर आधारित कृषि के पोषणीय विकास के लिए दीर्घकालीन प्रोग्राम तैयार करना और वाटरशैड प्रणाली का प्रयोग कर कुल फसल-आधीन क्षेत्र के दो-तिहाई भाग

का जो वर्षा पर निर्भर है, विकास करना।

5. भू-प ष्ठ जल (Surface water) तथा भूमिगत जल (Ground water) के विवेकपूर्ण प्रयोग पर बल देना ताकि कुछ क्षेत्रों में उपलब्ध जल-साधनों के अत्यधिक विदोहन के कारण गिरते हुए जल-स्तर को रोका जा सके। बेहतर टेक्नोलॉजी जैस ड्रिप एवं स्प्रिंकल सिंचाई (Drip and Sprinkler Irrigation) प्रणाली का प्रयोग करना ताकि जल का अधिक मितव्ययी एवं कुशल प्रयोग हो।

6. सरकारी व्यर्थ भूमियों पर चरागाहों एवं वाणिकी के कार्यक्रमों के विकास के लिए किसानों और भूमिहीन मजदूरों का अधिकाधिक प्रयोग करना और इसके लिए उन्हें वित्तीय प्रोत्साहन और व क्षों एवं चरागाहों के स्वामिÙoाधिकार प्रदान करना।

भारतीय कृषि नीतियों का उत्पादन पर प्रभाव
(Import of Indian Agricultural Policy on Production)

कृषि उत्पादन को हम खाद्यान्न व अखाद्यान्न फसलों में विभक्त कर सकते हैं। विभिन्न योजनाओं में कृषि उत्पादन की प्रव त्तियों को हम निम्न सारणी की मदद से दर्शा सकते हैं।

जहाँ तक खाद्यान्न उत्पादन का सम्बन्ध है, कुल उत्पादन 1950-51 में 508 लाख टन था जो सातवीं योजना में बढ़कर 1,550 लाख टन (वार्षिक औसत) तथा आठवीं योजना में 1,870 टन (वार्षिक औसत) हो गया। 1998-99 में खाद्यान्नों का उत्पादन 2,030 लाख टन तक पहुँच गया जो किसी भी वर्ष होनेवाला सर्वाधिक उत्पादन है।

सारणी 12.1 कृषि उत्पादन की प्रव त्ति, 1950-51 से 1998-99

फसल	इकाई	1950 51	पहली योजना 1951-56 (औसत)	दूसरी योजना 1956-61 (औसत)	तीसरी योजना 1961-66 (औसत)	वार्षिक योजनाएं 1966-69 (औसत)	चौथी योजना 1969-74 (औसत)	पांचवी योजना 1974-79 (औसत)	छठी योजना 1980-85 (औसत)	सातवीं योजना 1985-90 (औसत)	आठवी योजना 1992-97 (औसत)	1998-99
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
चावल	लाख टन	206	250	303	351	359	418	473	545	651	787	860
गेहूं	”	64	79	97	111	155	254	298	412	483	629	708
ज्वार	”	55	75	87	88	97	83	108	113	109	107	87
बाजरा	”	26	34	34	39	45	60	50	60	52	67	70
मक्का	”	17	27	36	46	56	61	63	73	76	98	107
अन्य अनाज	”	61	66	65	63	62	64	71	60	54	49	50
दालें	”	84	101	117	111	103	109	117	118	125	133	148
सब खाद्यान्न	”	508	632	740	810	878	1030	1181	1381	1550	1870	2030
तिलहन	”	62	55	67	73	72	83	89	114	139	219	252
गन्ना	”	571	553	803	1092	1043	1281	1533	1749	1964	2584	2957
कपास	लाख गाठें**	30	39	48	54	55	59	68	75	84	122	122
पटसन	लाख गाठें**	33	39	44	57	49	55	52	64	89	81	87

* इसमें (2) से (9) तक पाँच तिलहन मूँगफली, रेपसीड व सरसों, अलसी तिल तथा अरण्डी शामिल है। कालम (10), (11), (12) तथा (13) में इनके अलावा चार और तिलहन, सोयाबीन, सूरजमुखी, रामतिल तथा कुसुम (करड़ी) शामिल किए गए हैं।

** एक गांठ = 170 किलोग्राम

*** एक गांठ = 180 किलोग्राम

स्त्रोतः (i) कालम (2) से (9) तक के लिए Sixth Five Year Plan, 1980-85, Annexure 9.2 p. 140

(ii) कालम (10) से (13) तक के लिए Economic Survey, 1999-2000, Statement I.12, p.S-16.

तीसरी योजना के बाद का समय हरित क्रान्ति का समय है। इस दौरान कृषि उत्पादन में काफी व द्धि देखने को मिलती है। जैसा कि सारणी 12.1 से स्पष्ट है कि इस अवधि में गेहूँ उत्पादन में तेज व द्धि हुई जबकि ज्वार, बाजरा तथा मक्का का उत्पादन पहली अवधि की तरह ही बढ़ता-घटता रहा। विशेष बात यह है कि इन तीनों फसलों के उत्पादन में खास व द्धि नहीं हुई। जहाँ तक चावल का सम्बन्ध है इसका उत्पादन, कुछेक वर्षों को छोड़कर, सतत रूप से बढ़ा है। अखाद्यान्नों के क्षेत्र में कपास और पटसन के उत्पादन में रूक-रूक कर तथा धीमी प्रगति हुई है जबकि गन्ने के उत्पादन में सत रूप से व द्धि हुई है। सबसे महÙoपूर्ण बात यह है कि पिछले डेढ़ दशक में तिलहनों का उत्पादन तेजी से बढ़ा है। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, इस तेज व द्धि का कारण सरकार द्वारा तिलहनों का उत्पादन बढ़ाने के लिए किए गए प्रयास है। इन नीतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका वसूली कीमतों में की गई व द्धि ने निभाई है। तिलहनों का उत्पादन 1987-88 में 127 टन से बढ़कर 1988-89 में 180 लाख टन तथा 1990-91 में 186 लाख टन हो गया। आठवीं योजना में तिलहनों का उत्पादन 219 लाख टन (वार्षिक औसत) तक पहुँच गया और 1989-99 में यह 252 लाख टन हो गया। तिलहनों के उत्पादन में इस तेज व द्धि के कारण कुछ अर्धशास्त्रियों ने तर्क दिया है कि भात में एक नहीं बल्कि दो कृषि क्रान्तियाँ हुई हैं-हरित क्रान्ति (green revolution) तथा पीत क्रान्ति (yellow revolution)। हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप साठ और सत्तर के दशक में गेहूँ के उत्पादन में (तथा बाद में चावल के उत्पादन में भी) तेज व द्धि हुई परन्तु यह क्रान्ति उन क्षेत्रों तक सीमित रही जिनमें सिंचाई की अच्छी सुविधाएँ हैं। पीत क्रान्ति अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में शुरू हुई और इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप तिलहनों के उत्पादन में तेज व द्धि हुई। यह क्रान्ति देश के उन क्षेत्रों में हुई जिनमें सिंचाई की बहुत अपर्याप्त व्यवस्था है तथा वर्षा कम व अनियमित है। गन्ने का उत्पादन 1950-51 से 1998-99 की पूरी अवधि में लगभग सतत रूप से बढ़ता रहा है।

रोजगार पर प्रभाव
(Effect on Employment)

हरित क्रान्ति के भारतीय खेती पर व्यापक प्रभाव हुए हैं, इसके रोजगार पर प्रभाव की व्याख्या निम्नलिखित है। हमें यह जानना जरूरी है कि खेती में मशीनीकरण का रोजगार पर क्या असर हुआ है? उर्वरकों और अधिक उपज देनेवाले बीजों के इस्तेमाल से उत्पादन के साथ-साथ रोजगार में व द्धि हुई है। खेती में मशीनों के उपयोग के बारे में यह स्पष्ट नहीं है। मशीनों में केवल नलकूप (ट्यूबवैल) ही ऐसा साधन है जिससे प्रति एकड़ रोजगार में व द्धि होती है। नलकूप द्वारा सिंचाई की व्यवस्था होने पर कृषि भूमि पर एक से ज्यादा फसल उगाई जा सकती है और ऐसा होने पर रोजगार बढ़ता है। शुष्क खेती की तुलना में नलकूप से सिंचाई करके जब फसल उगाई जाती है तो फसल विशेष के लिए भी ज्यादा समय श्रम की आवश्यकता होती है और इस प्रयत्न से उत्पादन भी बढ़ता है। लेकिन ट्रैक्टर की बात ऐसी नहीं है। ट्रैक्टर के इस्तेमाल से मनुष्य के श्रम के साथ बैल के श्रम की जरूरत में कमी होती है। फिरोजपुर जिले के सेंपल के आधार पर हनुमंत राव का निष्कर्ष है कि ट्रैक्टर के जुताई और यातायात के लिए इस्तेमाल से श्रम की माँग में 20 से 30% तक की कमी होती है। इस स्तर पर श्रम को खेती से हटाने की नीति ठीक नहीं है। ट्रैक्टर के इस्तेमाल के समर्थकों का कहना है कि इसके द्वारा समय पर खेती की क्रियाएँ सम्पन्न करने में उत्पादन बढ़ता है और उससे नया रोजगार पैदा होता है। इस तर्क में थोड़ी सच्चाई है लेकिन वास्तविकता यह है कि ट्रैक्टर का रोजगार शुद्ध प्रभाव ऋणात्मक ही है। ट्रैक्टर की तरह थ्रेसर और हार्वेस्ट कंबाईन का प्रयोग भी खेती में से श्रम को हटाता

है। आमतौर पर गेहूँ की खेती में फसल काटने और बालों से अनाज अलग करने में 50% श्रम दिन लगाने होते हैं। इसलिए यदि कार्य मशीनों से होने लगें तो कृषि क्षेत्र में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी बढ़ेगी।

पंजाब, हरियाणा और दूसरे राज्यों के कुछ जिलों में ट्रैक्टर के उपयोग के साथ-साथ नलकूल द्वारा सिंचाई और उर्वरक तथा अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग होता है। अक्सर बड़े खेतों पर एक सीमा के आगे सिंचाई और तक नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक ट्रैक्टर का प्रयोग नहीं होता। ऐसे खेतों पर हमें इन सभी आगतों के रोजगार पर संयुक्त प्रभाव को देखना होगा। गेहूँ क्षेत्र में यह प्रयोग उत्साहवर्धक है। तात्पर्य यह है कि जब ट्रैक्टर के साथ-साथ उर्वरक, अधिक उपज देनेवाले बीज और नलकूप का प्रयोग होता है तो उत्पादन तो बढ़ता ही है, साथ ही साथ रोजगार का भी विस्तार होता है।

आय वितरण पर प्रभाव
(Effect on Income Distribution)

खेती में विभिन्न वर्ग के लोगों को तकनीकी प्रगति से लाभ कहाँ तक हुआ है, यह उत्पादन के कारकों के हिस्सों के आधार पर उस समय तक नहीं जाना जा सकता जब तक कि विभिन्न कारकों पर अलग-अलग लोगों का स्वामित्त्व न हो। भारत में अक्सर ऐसा नहीं है। लेकिन पंजाब, हरियाणा आदि में जहाँ मजदूरी श्रम को लगाकर काफी खेती की जाती है हमारे लिए यह देख पाना सम्भव है कि मशीनीकरण का लाभ किस वर्ग को हुआ है।

मोटे तौर पर गैर-तटस्थ (non-neutral) तकनीकी सुधार दो तरह के होते हैं एक तो वे जो भूमि की उत्पादकता बढ़ाते हैं (land augmenting) और दूसरे वे जो प्रतिस्थापित करते हैं (labour substituting)। भूमि की उत्पादकता बढ़ानेवाले तकनीकी सुधारों में हम नलकूप द्वारा सिंचाई और उर्वरक तथा अधिक उपज देनेवाले बीजों के प्रयोग को शामिल करते हैं। खेती में जितना इनका इस्तेमाल बढ़ता है, उत्पादन में भूमि का हिस्सा उतना ही कम होता जाता है। श्रम को प्रतिस्थापित करनेवाले तकनीकी सुधारों में ट्रैक्टर, थ्रेसर तथा हार्वेस्टर कंबाईन का इस्तेमाल आता है। इनका प्रयोग बढ़ाने पर श्रम का सापेक्ष भाग गिरता है। भारत में यह प्रव त्ति हरित क्रk¡ति के क्षेत्र के अलावा दूसरे राज्यों में देखने में आती है। तकनीकी परिवर्तनों और श्रम आय के बीच सम्बन्ध के बारे में तीन बातें महत्त्पूर्ण होती हैं: (1) तकनीक परिवर्तनों के साथ-साथ श्रम की निरपेक्ष आय में व द्धि हुई है। (2) लेकिन कुल कृषि आय में श्रम का सापेक्ष भाग कम हो गया है। (3) श्रम के सापेक्ष भाग में गिरावट छोटे फर्मों की तुलना में बड़े फार्मों पर ज्यादा है। खेती में मशीनीकरण के इन प्रभावों का आय के वितरण के साथ गहरा सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ मशीनों ने खेती से श्रम को बाहर निकाला है वहाँ कृषि विकास तो हुआ है साथ ही आर्थिक विषमताएँ बढ़ी हैं।

उपर्लिखित विश्लेषण के आधार पर प्रश्न यह उठता है, कि भारतीय सन्दर्भ में खेती की उपयुक्त तकनीक कौन सी है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारत के लिए वही तकनीक सही होगी जो कृषि उत्पादन को बढ़ाने में सहायक हो तथा श्रम की माँग को बढ़ा और साथ ही साथ आर्थिक असमानताएँ पैदा न करें। इस द ष्टि से इस देश में अभी मुख्य रूप से सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार और रासायनिक उर्वरकों तथा अधिक उपज देनेवाले बीजों के प्रयोग पर जोर देना ही उपयुक्त होगा।

इकाई-III

अध्याय-13
कृषि कीमत नीति
(Agricultural Price Policy)

भूमिका
(Introduction)

हर व्यवसाय की तरह कृषि व्यवसाय का उद्देश्य भी अधिकतम लाभ कमाना होता है। कृषि व्यवसाय से प्राप्त होनेवाले लाभ की मात्रा, क षि-उत्पादों की मात्रा तथा उनके बाजार मूल्य पर निर्भर करती है। कृषि व्यवसाय से अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए कृषकों को उत्पादन व द्धि की नवीन तकनीकों को प्रयोग करने के साथ-साथ उत्पादों के विपणन की दक्ष तकनीकों को भी अपनाना चाहिए। विपणन के संबंध में उचित निर्णय न लेने की दशा में कृषकों के अपने उत्पाद की अधिकतम कीमत प्राप्त नहीं हो पाती है। अतः अच्छी विपणन तकनीक के साथ-साथ कृषि उत्पादों की कीमतों का ज्ञान होना कृषि व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक होता है।

कृषि कीमत नीति के मुद्दे
(Issue in Agricultural Price Policy)

''यह कहा जाता है कि वर्षों के बाद मूल्य परिवर्तन ही कृषक के सबसे बड़े शत्रु हैं। कृषि मूल्य में बार-बार परिवर्तन कृषकों की आय को प्रभावित कर कृषि की सहज प्रगति में रोड़े अटकाते हैं।''

कृषि उत्पादों में होनेवाले उतार-चढ़ाव कृषकों पर विपरीत आर्थिक प्रभाव डालते हैं। इसका समाज के अन्य वर्गों पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसकी विस्त त व्याख्या निम्नलिखित है–

1. **उत्पादक (कृषक) वर्ग** - कृषि-वस्तुओं की कीमतों में होनेवाले उतार-चढ़ावों से उत्पादक कृषकों की आय में अनिश्चितता बनी रहती है, जिससे वे उत्पादन योजना के संबंध में विवेकपूर्ण निर्णय नहीं ले पाते हैं। कभी-कभी तो फसल की कटाई के तुरन्त बाद कीमतें इतनी नीचे गिर जाती हैं कि कृषकों को अपने उत्पाद के विक्रय से उत्पादन-लागत की राशि भी नहीं मिल पाती है। फसल की कटाई के कुछ समय बाद पूर्ति के कम होने से कीमतें बढ़नी प्रारम्भ हो जाती हैं जिसका लाभ सम द्ध मध्यस्थ वर्ग उठाता है। इस प्रकार, कृषि उपज के मूल्य में परिवर्तन कृषकों के लिए चिन्ता का कारण है। इससे उनकी आय निश्चित हो जाती है तथा कृषि कार्य के प्रति वह उदासीन होने लगता है।

2. **उपभोक्ता वर्ग** - कीमतों में व द्धि से उपभोक्ताओं की वास्तविक आय कम हो जाती है तथा उनके रहन-सहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कीमतों में व द्धि का सर्वाधिक विपरीत प्रभाव वेतन-भोगी एवं मध्यम आय वर्ग वाले परिवारों पर पड़ता है।

3. **पूँजी निवेश** - अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कृषि व्यवसाय में जोखिम अधिक होती है। साथ ही कृषि उत्पादों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं। यही कारण है कि कृषक कृषि-व्यवसाय में पूँजी-निवेश करने से हिचकते हैं। कृषि व्यवसाय में पूँजी-निवेश की दर कम होने पर उच्च तकनीकी ज्ञान का पूर्णरूप से उपयोग नहीं हो पाता है जिसके फलस्वरूप कृषि में उत्पादकता का स्तर नीचा बना रहता है।

4. **विकास कार्यक्रमों पर प्रभाव** - कृषि उत्पादों के मूल्यों में होनेवाले उतार-चढ़ावों से देश के विकास कार्यक्रम भी प्रभावित होते हैं। कृषि-मूल्यों की अनिश्चितता से सरकार की आय में अनिश्चितता व्याप्त रहती है और सरकार निर्धारित योजना के अनुसार धन व्यय करने में सक्षम नहीं हो पाती है। इस तरह, मूल्यों में अत्यधिक परिवर्तनों से योजना के निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने में कठिनाई आती है।

5. **विदेशी व्यापार** - कृषि-उत्पादों के मूल्यों उतार-चढ़ाव से उनके व्यापार पर भी प्रभाव पड़ता है। मूल्यों में व द्धि होने से प्रायः वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है और देश के व्यापार संतुलन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता उत्पन्न होने की स्थिति में कृषकों में उनके उत्पादन में व द्धि करने की प्रेरणा का ह्रास होता है।

6. **जमाखोरी एवं कालाबाजारी को बढ़ावा** - कृषि वस्तुओं के मूल्यों में होनेवाले उतार-चढ़ावों में जमाखोरी एवं कालाबाजारी को बढ़ावा मिलता है। जब वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं तो व्यापारी और अन्य सम द्धशाली वर्ग वस्तुओं का गुप्त संचय करते हैं और उनकी कृत्रिम कमी उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। इससे कीमतों में व द्धि होती है और मध्यस्थ एवं व्यवसायी वर्ग को लाभ पहुँचता है।

7. **ऋणदात्री संस्थाओं पर प्रभाव** - कृषि-वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट आने पर कृषकों की मौद्रिक आय घट जाती है जिससे वे ऋणदात्री संस्थाओं से प्राप्त ऋणों का समय से भुगतान नहीं कर पाते हैं, क्योंकि प्राप्त आय कृषकों के जीवन-निर्वाह के लिए ही पर्याप्त नहीं होती है। ऋणों की वसूली न होने से ऋण प्रदान करनेवाली संस्थाओं के व्यवसाय पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

8. **देश में अशांति एवं अनैतिकता को बढ़ावा** - कृषि वस्तुएँ जीवन की प्रमुख आवश्यकता की वस्तुएं होती हैं। कीमतों के अत्यधिक बढ़ जाने से सीमित आयवाले नागरिकों के लिए जीवन-यापन करना कठिन हो जाता है। इससे देश में अशान्ति, भुखमरी, चोरी-डकैती, भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है। इस तरह, कृषि मूल्यों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव सामाजिक अन्याय का स्रोत है तथा यह अनेक कष्टों को जन्म देता है।

इस तरह कहा जा सकता है कि विकासशील देशों में कृषि उत्पादों के मूल्यों में धीमी गति से होनेवाली बढ़ोत्तरी से उत्पादक कृषकों को लाभ होता है और वे उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित होते हैं। इससे कृषि व्यवसाय में पूँजी निवेश को बढ़ावा मिलता है तो देश में आर्थिक विकास

की गति तीव्र होती है। परन्तु कीमतों में होनेवाली तीव्र व द्धि की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव डालती है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार यह स्पष्ट हो जाता है कि कीमतों में उतार-चढ़ाव का समाज के सभी वर्गों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः कृषि मूल्यों का स्थिरीकरण, कृषि कीमत नीति का मुख्य मुद्दा बन जाता है।

कृषि मूल्यों का स्थिरीकरण—आशय एवं उद्देश्य

कृषि की प्रकृति पर निर्भरता के कारण कृषि-वस्तुओं के उत्पादन एवं उसके फलस्वरूप कृषि-मूल्यों में उतार-चढ़ाव का होना स्वाभाविक है। कृषकों एवं उपभोक्ताओं को कृषि वस्तुओं की कीमतों में उतार-चढ़ावों से होनेवाली हानि से रक्षा करने के लिए कीमत स्थिरीकरण आवश्यक होता है।

कृषि-मूल्य स्थिरीकरण से तात्पर्य मूल्यों में होनेवाले अत्यधिक उतार-चढ़ाव को कम करने अथवा मूल्यों को निर्धारित सीमा के अन्तर्गत नियमित करने से है, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की मूल्यों के उतार-चढ़ाव से होनेवाली हानि से रक्षा की जा सके।

अतः स्पष्ट है कि मूल्य स्थिरीकरण का आशय मूल्यों को एक सीमा के अन्दर रखने से है न कि एक निश्चित स्तर पर बनाए रखने से।

उद्देश्य

कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. **कृषकों के हितों की सुरक्षा** - कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण का सबसे प्रमुख उद्देश्य कृषकों के हितों की सुरक्षा करना है जिससे कि (1) उनको उचित मूल्य मिल सके। (2) कृषि कार्य करने के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे। (3) वे अपना एक उचित रहन-सहन का स्तर बनाए रखें।

2. **सरकारी कठिनाइयों को कम करना** - जब कृषि वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं तो सरकार के लिए बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं; जैसे औद्योगिक अशान्ति, खाद्य पदार्थों का आयात-निर्यात, मूल्य नियंत्रण एवं राशनिंग आदि।

3. **उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा** - कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण का दूसरा उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करना है जिससे कि उनको उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ मिलते रहें और उनको व्यय बजट संतुलित करने में कठिनाई न हो।

4. **निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना** - कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने का तीसरा उद्देश्य उद्योगों द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाना है।

इस तरह, कृषि स्थिरीकरण इसलिए आवश्यक है ताकि उपभोग न घटे तथा कृषक की उत्पादन कुशलता बढ़े तथा राज्य पर अधिक आर्थिक भार न पड़े। वास्तव में स्थिरीकरण का उद्देश्य आर्थिक-कृषि उत्पादन को बढ़ावा देना है। कृषि उत्पादन आर्थिक तब कहा जाता है जब उत्पादन लागतें न्यूनतम रहें व कृषकों को उचित लाभ मिले व खाद्यान्न तथा कच्चे माल की लागतें उचित स्तर पर बनी रहें।

कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण का महत्त्व

मूल्यों को एक सीमा के अन्दर रखना निम्नलिखित कारणों से जरूरी है–

1. **मूल्यों में अत्यधिक कमी से हानियाँ** - कृषि मूल्यों में अत्यधिक कमी बहुत अधिक हानिकारक होती है। इससे कृषक की आय कम होती है तथा उनमें नवीन उपकरणों, उन्नत बीजों व रासायनिक खादों को भरपूर काम में लाने के उत्साह नहीं रहता, किसानों के रहन-सहन का स्तर जो पहले से ही भिन्न है उसमें और अधिक गिरावट आती है, सरकार की आय कम हो जाती है। उद्योगों में भी सुस्ती आ जाती है। अतः यह उचित है कि कृषि पदार्थों के मूल्यों में अत्यधिक कमी न होने देने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए।

2. **मूल्यों में अत्यधिक व द्धि से हानियाँ** - कृषि उत्पादों में अत्यधिक व द्धि से उद्योगों में कच्चे माल व मजदूरों के लिए खाद्यान्नों की कीमत बढ़ जाती है। उत्पादन लागत बढ़ने से उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं की कीमत भी बढ़नी शुरू हो जाती है। इसका नुकसान अन्ततः कृषकों को भी होता है। इसलिए अर्थशास्त्री कीमतों में धीमी व द्धि की सलाह देते हैं। ऐसा करने से एक ओर तो कृषि उत्पादकों में लाभ मिलने की वजह से उत्साह बना रहता है तथा अन्य वर्गों के ऊपर भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

सरकार द्वारा उठाए गए कदम

कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण हेतु सरकार द्वारा बराबर प्रयास जारी हैं। इस संबंध में सरकार की नीति के दो उद्देश्य रहे हैं। एक तो किसानों को अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित करना जिससे कि वे अधिकाधिक प्रयत्न करें, दूसरे उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर क षि पदार्थ उपलब्ध कराना। गत वर्षों में सरकार ने कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण के लिए निम्न प्रयास किए हैं-

1. **कृषि उत्पादन में व द्धि** - कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए सरकार ने कृषि उत्पादन में व द्धि का हर सम्भव प्रयास किया है और आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराने का प्रयास किया है। इसके लिए भूमि सुधार एवं जोतों की चकबन्दी कराई गई है, वैज्ञानिक कृषि को प्रोत्साहन दिया गया है तथा सम्बन्धित आगतों को उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है, सरकारी फर्मों में उन्नतिशील बीजों का विकास किया गया है, सिंचाई की सुविधाओं में व द्धि की गई है तथा ऊसर एवं बेकार पड़ी भूमि को खेती योग्य बनाया गया है।

2. **कृषि पदार्थों का आयात** - कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए समय-समय पर आवश्यकतानुसार कृषि पदार्थों का आयात किया जाता रहा है। यह आयात मुख्यरूप से खाद्य पदार्थों जैसे- गेहूँ, चावल, तेल के अतिरिक्त कृषि पदार्थों- कपास, जूट आदि का भी आयात किया गया है।

3. **न्यूनतम व अधिकतम मूल्यों की घोषणा** - इस नीति के तहत कृषकों को उनके उत्पादों के लिए न्यूनतम मूल्य की घोषणा की जाती है। कृषकों को मंडी में इससे ज्यादा कीमत मिले तो ठीक अन्यथा इस कीमत पर सरकार कृषि उत्पादों को खरीदने की गारंटी देती है। यह नीति कपास, जूट, गेहूँ, धान, चना, बाजरा, तिलहन आदि के लिए अपनायी जाती है। इसी प्रकार उपभोक्ता के हितों को ध्यान में रखते हुए अधिकतम मूल्य भी निर्धारित कर दिए जाते हैं जिनसे अधिक मूल्य नहीं वसूले जा सकते; यदि कोई ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध कार्रवाई की जाती है।

4. **सरकारी खरीद** - बफर स्टॉक (Buffer Stock) बनाने एवं राशनिंग व्यवस्था को चालू रखने के लिए खाद्यान्नों को उपलब्ध कराने की द ष्टि से सरकार द्वारा उन राज्यों में खाद्यान्नों की खरीद की जाती है जहाँ उत्पादन अधिक होता है। यह सरकारी खरीद 1951 से 38 लाख टन थी जो बढ़कर 1971 में 89 लाख टन, 1991 में 196 लाख टन तथा सन् 2000 में बढ़कर 355 लाख टन हो गई। वर्ष 2001-02 में गेहूं की सरकारी खरीद 20.63 मिलियन टन तथा चावल की सरकारी खरीद 13.97 मिलियन टन की गई। 5 फरवरी, 2003 तक गेहूँ की कुल सरकारी खरीद 19.03 मिलियन टन तथा चावल की खरीद 12.23 मिलियन टन रही। यह खरीद स्वेच्छा से व वसूली (लेवी) के रूप में की जाती है। सामान्य परिस्थितियों में स्वेच्छा से खरीद की जाती है परन्तु जब मूल्यों में व द्धि हो जाती है तो उस समय वसूली या लेवी के आधार पर खरीद की जाती है। यदि कोई किसान या व्यापारी ऐसी खरीद का विरोध करता है तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जाती है।

   जनवरी 2003 को देश में गेहूं का 28.8 मिलियन टन तथा चावल का 19.4 मिलियन टन बफर स्टॉक मौजूद था।

5. **कृषि लागत एवं मूल्य आयोश का गठन** - जनवरी 1965 को कृषि मूल्य आयोग का गठन किया गया। बाद में इसका नाम बदलकर लागत एवं मूल्य आयोग कर दिया गया। इसका कार्य कृषि मूल्य नीति के संदर्भ में सरकार को सलाह देना है। यह उन मूल्यों की भी सलाह देता है जिस पर सरकारी खरीद व विक्रय किया जाना चाहिए।

6. **मौद्रिक उपाय** - सरकार ने कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए समय-समय पर कुछ मौद्रिक उपाय भी किए हैं; जैसे- खाद्यान्नों पर बैंकों द्वारा अभिन्न ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा निर्देश देना या चयनात्मक साख नियंत्रण नीति को अपनाना।

7. **खाद्यान्नों का वितरण** - उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्नों को उपलब्ध कराने के लिए सरकार ने खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था की है। इसे राशनिंग कहते हैं। इस समय देश में 4.61 लाख से अधिक उचित मूल्य की दुकानें हैं जो खाद्यान्नों का विक्रय करती हैं। इन दुकानों से शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र की जनता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिलते हैं। इससे मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है।

8. **भारतीय खाद्य निगम की स्थापना** - खाद्यान्नों के न्यायपूर्ण वितरण एवं मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए केन्द्र सरकार ने जनवरी 1965 को भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की है। यह निगम खाद्यान्नों को खरीदकर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत खाद्यान्नों की बिक्री करता है। जनवरी, 2003 तक भारतीय खाद्य निगम के पास लगभग 48.2 मिलियन टन गेहूँ और चावल का स्टॉक था।

इसके अतिरिक्त कृषि मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए सरकार ने कुछ अन्य उपाय भी किए हैं; यथा- जनसंख्या नियंत्रण, विक्रेताओं को मूल्य सूची टाँगना आवश्यक, प्रतिदिन स्टॉक सूची प्रदर्शित करना, जमाखोरी के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करना, खाद्य पदार्थों के आवागमन पर क्षेत्रीय प्रतिबंध लगाना तथा व्यापारियों को आज्ञा पत्र देना आदि।

भारत में कृषि कीमत नीति का विकास
(Evolution of Agricultural Price Policy in India)

भारत में कृषि कीमत नीति का उद्‌गम आजादी से पहले का है। इसकी विस्त त व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

1. **खाद्यान्न नीति समिति** - यह समिति सर थियोडोर ग्रेगोरी की अध्यक्षता में वर्ष 1943 में नियुक्त की गई थी। समिति के प्रतिवेदन में कृषि-वस्तुओं की कीमतों के स्थिरीकरण, कीमतों के नियमन में समता सूत्र के उपयोग एवं कृषि कीमतों से संबंधित विभिन्न आँकड़े एकत्रित करने की विधि के लिए सुझाव प्रेषित किए थे।

2. **कीमत उप-समिति** - यह समिति वर्ष 1944 में श्री कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में नियुक्त की गई थी। समिति ने प्रतिवेदन में कृषि-वस्तुओं की कीमतों के स्थिरीकरण के लिए निम्न सुझाव दिए थे-

   (i) कृषि-वस्तुओं की कीमतों का पूर्वानुमान फसल की बुवाई के पूर्व तथा पूर्वानुमानित कीमत पर खाद्यान्नों के क्रय करने को कृषकों को आश्वासन दिया जाना चाहिए।

   (ii) देश में खाद्यान्नों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा विभिन्न खाद्यान्नों के अन्तर्गत क्षेत्रफल नियत किया जाना चाहिए।

   (iii) कीमतों के निर्धारण में उत्पादकों के हितों की रक्षा करने के साथ-साथ उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा का उद्देश्य भी होना चाहिए।

   (iv) बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिए सरकार को पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों के बफर स्टॉक का निर्माण करना चाहिए।

   (v) निर्धारण नीति के कार्यान्वित करने के लिए, सरकार द्वारा अखिल भारतीय कृषि परिषद् का गठन करना चाहिए।

3. **कृषि-कीमत जाँच समिति** - इस समिति की नियुक्ति वर्ष 1953 में कृषकों को लाभप्रद सूचना देने, विपणन के आँकड़े एकत्रित करके उनके विश्लेषण के आधार पर सरकार को उत्पादन नीति के विषय में सलाह देने के उद्देश्य से की गई थी।

4. **कृषि-कीमत परिवर्तन जाँच समिति**- इस समिति का गठन वर्ष 1955 में श्री एम.वी. कृष्णप्पा की अध्यक्षता में अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्देशीय कीमतों की असमानता एवं मौसमी कीमतों के उतार-चढ़ावों को कम करने के लिए आवश्यक सुझाव देने हेतु किया गया है।

5. **खाद्यान्न जाँच समिति** - यह समिति वर्ष 1957 में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों की जाँच करने एवं उनके स्थिरीकरण के लिए सुझाव देने हेतु गठित की गई थी। इस समिति ने देश में खाद्य समस्या को हल करने के लिए नवम्बर, 1957 में प्रस्तुत रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिए थे-

   (i) कीमत-स्थिरीकरण के विभिन्न पहलुओं पर सरकार को सलाह देने के लिए कीमत-स्थिरीकरण परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए।

(ii) खाद्यान्नों की बढ़ती हुई अल्पकालीन कीमतों को रोकने के लिए व्यापारियों को अनुज्ञा-पत्र देने, विभिन्न क्षेत्रों को सम्मिलित करते हुए खाद्य-क्षेत्रों का निर्माण करके, लेवी द्वारा खाद्यान्नों की अनिवार्य वसूली एवं उचित कीमतों की दुकानों द्वारा उनके वितरण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(iii) कीमतों में व द्धि रोकने के उपर्युक्त उपायों को अपनाने के अतिरिक्त, उत्पादन-व द्धि की कोशिश भी की जानी चाहिए। उत्पादन-व द्धि के लिए उन्नत बीजों के आविष्कार, उर्वरकों का अधिक मात्रा में उपयोग, कृषकों को कृषि की उन्नत विधियों को अपनाने के लिए प्रेरित करने के लिए अनुदान तथा कृषि-ऋण की सुविधा उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(iv) कीमतों के सम्बन्ध में सूचना तैयार करने के लिए केन्द्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर कीमत-सूचना विभाग की स्थापना की जानी चाहिए।

(v) खाद्यान्नों की न्यूनतम कीमत का निर्धारण प्रतिवर्ष माँग एवं पूर्ति की स्थिति के अनुसार किया जाना चाहिए।

(vi) सरकार द्वारा पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों का बफर स्टॉक किया जाना चाहिए।

6. **फोर्ड संस्थान दल** - भारतीय खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए फोर्ड संस्थान दल ने वर्ष 1959 में निम्न सुझाव दिए-

(i) विभिन्न खाद्यान्नों की न्यूनतम कीमत सरकार द्वारा फसल की बुवाई के पूर्व घोषित की जानी चाहिए, जिससे घोषित कीमतों से कृषक उत्पादन-योजना बनाते समय लाभान्वित हो सकें।

(ii) निर्धारित कीमत-नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार द्वारा स्थायी संगठन का निर्माण किया जाना चाहिए।

(iii) खाद्यान्नों की कीमतों का निर्धारण आयातित खाद्यान्नों की अपेक्षा 10 से 15 प्रतिशत कम स्तर पर किया जाना चाहिए।

7. **खाद्यान्न-नीति समिति** - सरकार ने वर्ष 1966 में श्री बी. वैंकटपैय्या की अध्यक्षता में कीमतों में होनेवाले अत्यधिक उतार-चढ़ावों को कम करने हेतु आवश्यक सुझाव देने के लिए खाद्यान्न नीति समिति का गठन किया गया था। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिए थे-

(i) कीमतों के मौसमी उतार-चढ़ाव को कम करने के लिए सरकार को खाद्यान्नों के पर्याप्त मात्रा में भण्डार का प्रबन्ध करना चाहिए।

(ii) खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने एवं कीमत-स्थिरीकरण के लिए राष्ट्रीय खाद्य-बजट का निर्माण किया जाना चाहिए।

(iii) सरकार द्वारा कृषकों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। कृषकों को उत्पादन व द्धि की प्रेरणा देने के लिए उत्पादन-साधन जैसे- उर्वरक, कीटनाशी दवाइयाँ, विद्युत आदि के क्रय पर आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए, जिससे कृषक इनका अनुकूलतम मात्रा में उपयोग करके खाद्यान्न में व द्धि कर सकें।

(iv) खाद्यान्नों की वसूली एवं वितरण का कार्य खाद्य निगम को प्रादेशिक शाखाओं के द्वारा करवाया जाना चाहिए, जिससे क्षेत्र में होनेवाली व्यापारिक कुरीतियों को रोका जा सके।

(v) प्रतिवर्ष सरकार द्वारा खाद्यान्नों की न्यूनतम एवं वसूली कीमत नियत की जानी चाहिए।

(vi) ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्यान्नों की समुचित वितरण व्यवस्था के लिए उचित कीमत की दुकानों की संख्या में व द्धि की जानी चाहिए।

(vii) अधिक उत्पादन करनेवाले क्षेत्रों के कृषकों से उत्पादन की प्राप्त मात्रा अथवा क्षेत्रफल के अनुसार श्रेणीकृत लेवी विधि द्वारा खाद्यान्नों की वसूली की जानी चाहिए।

(viii) खाद्यान्नों के विपणन में होनेवाली विपणन-लागत को कम करने के लिए समिति ने देश की मण्डियों को नियंत्रित करने, व्यापारियों को अनुज्ञा-पत्र देने एवं उनके हिसाब की समय-समय पर जांच करने की सिफारिश की है।

8. **कृषि लागत एवं कीमत आयोग (Commission for Agricultural Costs and Prices)** - इस आयोग की स्थापना 1965 में कृषि कीमत आयोग के नाम से की गई थी। इसकी निम्नलिखित उद्देश्य थे-

(i) क षि-उत्पादों के क्षेत्र में बाधक तत्त्वों-उत्पादन-साधनों की कमी, उनका समय पर उपलब्ध नहीं होना, कीमतों की अधिकता की समस्याओं को सुलझाने के लिए सरकार को आवश्यक सुझाव देना।

(ii) प्रमुख कृषि उत्पाद- गेहूँ, चावल, ज्वाल, बाजरा, मक्का, चना, गन्ना, तिल्लहन, कपास, जूट, अन्य दालों एवं मोटे अनाजवाली फसलों के संतुलित एवं एकीकृत कीमतों के ढांचे का निर्माण करने एवं उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सरकार को समय-समय पर आवश्यक सुझाव देना।

(iii) विभिन्न कृषि-उत्पादों की कीमतों में होनेवाले उतार-चढ़ावों की समीक्षा करना एवं उनको कम करने के लिए सरकार को समय-समय पर आवश्यक सुझाव देना, जैसे खाद्यान्नों की वसूली के लिए लेवी लगाना, बफर स्टॉक निर्माण, खाद्य-क्षेत्रों का निर्माण, खाद्यान्नों का वितरण आदि।

(iv) कृषि-उत्पादों के विपणन में होनेवाली विपणन-लागत एवं मध्यस्थों को प्राप्त होने वाले लाभ का अध्ययन करना एवं उनको कम करने के उपायों की सरकार को सलाह देना, जिससे कृषकों को उपभोक्ता-मूल्य में से अधिक अंश प्राप्त हो सके।

(v) कृषकों को उत्पादन व द्धि की प्रेरणा देने के लिए सरकार को आवश्यक सुझाव देना, जैसे-विभिन्न खाद्यान्नों की न्यूनतम समर्थित कीमत घोषित करना, खाद्यान्नों की वसूली के लक्ष्य एवं कीमतें नियत करना आदि।

प्रत्येक वर्ष आयोग द्वारा रबी व खरीफ की फसलों की कीमत सम्बन्धी सुझावों पर सरकार कृषि उत्पादों की कीमतों में संशोधन करती है।

कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा कीमतों का निर्धारण

कृषि-कीमत आयोग अपने स्थापना वर्ष 1965 से ही कृषि-उत्पादों की तर्क-संगत योजना के आधार पर कीमत-निर्धारण का कार्य कर रहा है। कृषि लागत एवं कीमत आयोग निम्न दो प्रकार की कीमतें प्रस्तावित कर रहा है-

(अ) **न्यूनतम समर्थित कीमत** - कृषि उत्पादों की लागतों के आधार पर आयोग इनकी न्यूनतम कीमत तय करता है। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य कृषकों के किसी भी सम्भावित हानि से बचाना होता है। यह कीमत उन्हें विश्वास दिलाती है कि बाजार में कृषि-उत्पादों की प्रचलित कीमत के कम होने अथवा उत्पादन अधिक मात्रा में होने की दोनों ही अवस्थाओं में सरकार कृषकों से नियत की गई न्यूनतम समर्थित कीमतों पर कृषि-उत्पाद क्रय करेगी। कृषि-लागत एवं कीमत आयोग विभिन्न कृषि-उत्पादों की न्यूनतम समर्थित कीमत की सिफारिश सरकार को फसल की बुवाई के समय से पूर्व ही कर देता है, जिससे सरकार फसल की बुवाई से पूर्व ही कृषकों के लिए इन कीमतों को घोषित कर सके। इन कीमतों को फसल की बुवाई से पूर्व घोषित कर देने से कृषकों को फार्म की उत्पादन-योजना बनाने से संबंधित निर्णय लेने में सहायता मिलती है।

(ब) **वसूली/अधिप्राप्ति कीमत** - कृषि-लागत एवं कीमत आयोग न्यूनतम समर्थित कीमत के साथ-साथ प्रमुख खाद्यान्नों के लिए वसूली कीमतें भी प्रस्तावित करता है। वसूली कीमत वह है जिस पर सरकार आवश्यकता होने पर कृषकों, व्यापारियों एवं मिल-मालिकों से कृषि उत्पाद क्रय करती है। सरकार कमजोर वर्ग को उचित कीमतों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिए वचनबद्ध होती है। अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वसूली कीमत का निर्धारण फसल की कटाई के पूर्व कृषकों की उत्पादन-लागत एवं प्राप्त उत्पादन की मात्रा को द ष्टिगत रखते हुए करता है।

कृषि लागत एवं कीमत आयोग वसूली-कीमतों का निर्धारण कृषकों को होनेवाली लागत के स्तर से ऊँचे स्तर पर करता है, जिससे कृषकों को उत्पादन-लागत की प्राप्ति के साथ-साथ लाभ की अच्छी राशि भी प्राप्त हो और उन्हें उत्पादन व द्धि की प्रेरणा मिले। लेकिन वसूली-कीमतों का निर्धारण बाजार में प्रचलित कीमतों से नीचे स्तर पर किया जाता है, जिससे देश के गरीब वर्ग के उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर सरकार खाद्यान्न उपलब्ध करा सके। देश में खाद्यान्नों की बाजार कीमत एवं सरकार द्वारा नियत वसूली-कीमत में काफी अन्तर होने पर, कृषक, व्यापारी एवं मिल-मालिक सरकार को निर्धारित वसूली कीमत पर स्वेच्छा से खाद्यान्न विक्रय करना नहीं चाहते हैं और ऐसा न करने के लिए अनेक प्रकार की दलीलें पेश करते हैं।

कृषि-लागत एवं कीमत आयोग द्वारा प्रस्तावित वसूली-कीमत का अधिकांश राज्यों के मुख्यमंत्रियों एवं कृषि-मंत्रियों द्वारा विरोध प्रकट किया जाता है तथा दलील दी जाती है कि प्रस्तावित वसूली-कीमतों में व द्धि की जानी चाहिए, क्योंकि इन पर राज्य के अनेक कृषकों को उत्पादन-लागत की राशि एवं कृषकों को खाद्यान्नों के उत्पादन से अन्य क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों के समान लाभ की राशि प्राप्त नहीं होती है।

कृषि-कीमत-नीति के कार्यान्वयन में सुधार के उपाय

कृषि-कीमत-नीति के कार्यान्वयन में सुधार के लिए निम्न उपाय अपनाने चाहिए-

1. कृषि-उत्पादों के संग्रहण एवं उनके अनावश्यक संचलन को कम करने के लिए विभिन्न स्थानों-गाँवों, शहरों, मण्डियों एवं रेलवे स्टेशनों के नजदीक वैज्ञानिक विधि के आधार

पर गोदामों का निर्माण करना चाहिए। वर्तमान में देश के विभिन्न क्षेत्रों में गोदामों की स्थिति, संख्या एवं संग्रहण-क्षमता संतोषजनक नहीं है। कृषि-कीमत नीति की सफलता के लिए इनकी महत्ता काफी अधिक है। उचित स्थानों पर गोदामों के निर्माण से परिवहन-लागत में कमी रहती है।

2. सरकार द्वारा विभिन्न खाद्यान्नों की न्यूनतम समर्थित कीमतों का नियतन एवं उनकी घोषणा का कार्य फसल की बुआई के पूर्व हो जाना चाहिए, जिससे कृषक फसलों का चुनाव एवं उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल-निर्धारण का सही निर्णय ले सकें।

3. कीमतों के नियत न्यूनतम स्तर से नीचे गिरने की स्थिति में सरकार को खाद्यान्नों के क्रय की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक वित्त, संग्रहण एवं कार्यकर्ताओं की व्यवस्था समय से पूर्व ही कर लेनी चाहिए, जिससे आवश्यकता होने पर उनका शीघ्रता से उपयोग किया जा सके।

4. कीमतों के बढ़ते हुए स्तर को रोकने के लिए कृषकों को आवश्यक मात्रा में एवं सस्ती दर पर उत्पादन-साधन-बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयां, कृषि-यंत्र उपलब्ध कराने के लिए सरकार को प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे खाद्यान्नों की उत्पादन-लागत में कमी हो सके।

5. सरकार द्वारा घोषित कीमत-नीति की सफलता के लिए आधारभूत सुविधाओं (Infrastructure) का विकास करना आवश्यक है, जैसे-देश में परिवहन सुविधा के लिए सड़कों का निर्माण, नियंत्रित मण्डियों का विकास, सहकारी विपणन समितियों की स्थापना आदि।

6. गाँवों में खाद्यान्नों की उचित वितरण व्यवस्था के लिए उचित कीमत की दुकानों की संख्या में व द्धि तथा सहकारी विपणन समितियों के निर्माण के लिए कृषकों में जागरुकता उत्पन्न की जानी चाहिए।

7. कीमतों में अधिक व द्धि होने की स्थिति में सरकार द्वारा खाद्यान्नों के व्यापार को पूर्णतः अपने हाथ में ले लेना चाहिए तथा विपणन-मध्यस्थों को समाप्त करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

8. निर्धारित बफर स्टॉक के निर्माण के लिए खाद्यान्नों के क्रय का कार्य व्यापारियों एवं मध्यस्थों को नहीं देना चाहिए। खाद्यान्नों के क्रय का कार्य सहकारी-विपणन समितियों, भारतीय खाद्य निगम अथवा राज्य भण्डार व्यवस्था निगम के माध्यम से कराना चाहिए, जिससे उपभोक्ताओं में अनावश्यक भ्रांतियाँ नहीं फैलें।

9. व्यापारियों को कुचालों एवं उनके द्वारा उत्पन्न की जानेवाली कृत्रिम कमी पर नियंत्रण पाने के लिए व्यापारियों को अनुज्ञा-पत्र जारी किए जाने चाहिए। उनके द्वारा संग्रहण की जानेवाली मात्रा का नियतन एवं उनके स्टॉक के प्रदर्शन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

10. निर्धारित कीमत-नीति में सरकार को परिवर्तन कम-से-कम करना चाहिए तथा किए गए परिवर्तनों की सूचना समय पर समाज के सभी वर्गों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

11. कीमत-नीति का उल्लंघन करने पर सभी वर्ग के नागरिकों के लिए समान जुर्माने का प्रावधान होना चाहिए, जिससे नागरिकों की कीमत-नीति के प्रति द ढ़ भावना जाग त हो सके।

अध्याय-14
कीमत निर्धारण
(Price Determination)

वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए कीमतों का निर्धारण आवश्यक होता है। कीमतों का निर्धारण उस स्तर पर किया जाता है जहां क्रेताओं की और विक्रेताओं की पूर्ति एक-दूसरे के समान होते हैं। कीमत निर्धारण में वस्तुओं के अधिकतम एवं न्यूनतम दोनों ही स्तर पर निर्धारित किए जाते हैं। कृषि वस्तुओं की कीमत निर्धारण करने में निम्नलिखित सावधानियों का ध्यान रखना चाहिए।

1. निर्धारित कीमतें किसानों को और अधिक उत्पादन को प्रोत्साहित करनेवाली होनी चाहिए, परिणामस्वरूप देश में आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सके।
2. कीमतों को निश्चित करते समय कृषि व्यवसाय में होने वाले जोखिमों को ध्यान में रखना चाहिए।
3. देश के विभिन्न हिस्सों में कीमत नीति में एकरूपता लाने के लिए, राज्य सरकारों की सलाह के अनुरूप होना चाहिए।
4. देश में अच्छी किस्म की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न श्रेणियों के लिए अलग-अलग कीमतें निर्धारित की जानी चाहिए।

कृषि-कीमतों के निर्धारण के आधार

कृषि कीमतों के निर्धारण के निम्नलिखित आधार होते हैं:-

1. **औसत उत्पादन लागत विधिः** किसी वस्तु के प्रति इकाई उत्पादन स्तर से उसके विक्रय होने तक जितनी लागत तक खर्च होती है उसे औसत उत्पादन लागत कहते हैं। वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत में साधनों की उपलब्धता, प्रबन्ध क्षमता, भूमि की किस्म, तकनीकी ज्ञान, पूँजी निवेश की राशि आदि के आधार पर काफी अन्तर पाया जाता है।
2. **समता-कीमत सूत्र विधिः** समता कीमत कृषि एवं कृषितर क्षेत्र की वस्तुओं की कीमतों, अमुक खाद्यान्न एवं सभी कृषि-वस्तुओं की कीमतों, कृषकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं एवे उनके द्वारा किए जानेवाले उत्पादन-साधनों की कीमत में आधार वर्ष के अनुसार पाए जानेवाले सम्बन्ध की सूचक होती है। कृषि कीमतों को नियत करने के लिए कृषकों द्वारा उत्पादित उत्पाद एवं उनके उत्पादन के लिए प्रयुक्त किए जानेवाले उत्पादन-साधनों की कीमतों में समता ज्ञात की जाती है। समता-कीमत के आधार पर कृषि-कीमतें नियत करने का मुख्य उद्देश्य कृषि-क्षेत्र में कार्यरत कृषकों को उसी अनुपात में लाभ

प्राप्त कराना है, जिस अनुपात में यह लाभ औद्योगिक एवं अन्य क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों को प्राप्त होता है।

कृषि-क्षेत्र में समता-अनुपात एवं समता-कीमत ज्ञात करने का सूत्र निम्नलिखित हैः-

$$\text{समता-अनुपात} = \frac{\text{कृषकों द्वारा विक्रय की गई वस्तुओं की कीमत का आधार- वर्ष के अनुसार प्रचलित कीमत सूचकांक}}{\text{कृषकों द्वारा क्रय की गई वस्तुओं की कीमतो का आधार- वर्ष के अनुसार प्रचलित कीमत सूचकांक}} \times 100$$

$$\text{समता-कीमत} = \frac{\text{आधार- वर्ष का विक्रय कीमत सूचकांक} + \text{प्रचलित क्रय कीमत सूचकांक}}{\text{आधार- वर्ष का क्रय-कीमत सूचकांक}}$$

3. **बहुसंख्यक-उत्पादन-लागत विधिः** कृषि क्षेत्र में सम्पन्न एवं निर्धन कृषकों, लघु एवं दीर्घ जोत कृषकों के फार्म पर उत्पादन लागत में काफी अन्तर पाया जाता है। फलस्वरूप औसत उत्पादन लागत सभी कृषकों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती, अतः बहुसंख्यक उत्पादन लागत विधि में 80 से 85% उत्पादित खाद्यान्नों की मात्रा भी प्रति इकाई उत्पादन लागत के आँकड़ों से ही कीमत-निर्धारण में प्रयोग किया जाता है और शेष 15 से 20% उत्पादन लागत की मात्रा जो असंख्य किसानों द्वारा उत्पादित की जाती है।

4. **प्रचलित कीमत-विधिः** इस विधि में कीमतें, वस्तु के पिछले वर्षों की औसत कीमत, वर्तमान प्रचलित कीमत, उनकी आकलित माँग एवं पूर्ति की मात्रा एवं इनमें परिवर्तन लानेवाले विभिन्न पहलुओं से संबंधित आँकड़ों के आधार पर नियत की जाती है।

5. **वायदा-कीमत-विधिः** यह कीमत विधि, वस्तुओं की माँग, पूर्ति तथा उत्पादन लागत के आधार पर फसल के उगाने से पहले घोषित की जाती है। अगर मण्डी में प्रचलित कीमत कम होती है तो भी सरकार घोषित कीमत पर कृषि वस्तुओं को खरीदती है। मण्डी में प्रचलित कीमत के कम होने पर सरकार घोषित कीमत पर कृषि-उत्पाद क्रय करती है। इस प्रकार वायदा-कीमत कृषकों को फार्म की उत्पादन योजना बनाने एवं उसे कार्यान्वित करने में सहायक होती है, लेकिन वायदा-कीमत के निर्धारण के लिए आवश्यक आँकड़े जैसे-कृषि-वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा, उपभोक्ताओं की माँग की मात्रा।

कृषि-वस्तुओं के कीमत-निर्धारण के लिए विभिन्न समयों में विभिन्न आधार प्रयुक्त किए गए हैं।

कीमत निर्धारण की विधियाँ

कृषि पदार्थों की कीमत निर्धारित करने में दो विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं।

(अ) समष्टिपरक कीमत निर्धारण विधि

(ब) व्यष्टिपरक कीमत निर्धारण विधि

(अ) **समष्टिपरक कीमत निर्धारण विधिः** इस विधि में कृषि वस्तुओं के समूहों की कीमतों तथा उस समूह के विभिन्न तत्त्वों की कीमतों का सामूहिक तौर पर अध्ययन किया जाता है।

(ब) **व्यष्टिपरक कीमत निर्धारण विधिः** इस विधि में कृषि पदार्थों की कीमत का निर्धारण अन्य वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति की शक्तियों की अन्तःक्रिया द्वारा सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित होता है।

मांग व पूर्ति का अध्ययन कीमत निर्धारण के संदर्भ में नीचे किया जा रहा है।

माँग (Demand): किसी वस्तु की वह मात्रा है जिसे उपभोक्ता समय की एक निश्चित अवधि में दी गई कीमतों पर खरीदने के लिए तैयार होते हैं। माँग के नियम के अनुसार, अन्य बातें समान रहने पर यदि किसी वस्तु की कीमत बढ़ती है तो उसकी माँग कम होती है और अगर कीमत कम होती है तो माँग बढ़ जाती है अतः माँग वक्र का ढलान ऋणात्मक होता है।

पूर्तिः किसी वस्तु की पूर्ति वह मात्रा जो बाजार में निश्चित कीमत पर निश्चित समय की अवधि में बाजार में बिकने के लिए उपलब्ध होती है। पूर्ति के नियम के अनुसार अन्य बातें समान रहने पर, यदि किसी वस्तु की कीमत बढ़ती है तो पूर्ति में व द्धि होती है और कीमत कम होने पर पूर्ति भी कम होती है। अतः पूर्ति वक्र का ढलान धनात्मक होता है जो बाएँ से दाएँ की तरफ बढ़ता है।

माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा कीमत निर्धारण

प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त माँग एक पूर्ति का सिद्धान्त कहलाता है क्योंकि उसके अनुसार वस्तुओं की कीमतें उस वस्तु की माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती है।

माँग एवं पूर्ति स्वयं भी वस्तु की कीमत से तय होती है। वस्तु की माँग के आधार पर उसकी अधिकतम कीमत तय की जाती है दूसरी ओर वस्तु की उत्पादन लागत के आधार पर वस्तु के विक्रय की न्यूनतम कीमत तय करते हैं। वस्तु की कीमत इन्हीं दोनों सीमाओं-अधिकतम एवं न्यूनतम कीमतों के मध्य निर्धारित होती है जिस बिन्दु पर वस्तु की मांग व पूर्ति एक दूसरे के समान होते है उसे सन्तुलन बिन्दु कहते हैं और उस कीमत को सन्तुलन कीमत कहते हैं।

कीमत निर्धारण के सिद्धान्त की निम्न मांग व पूर्ति तालिका द्वारा वक्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

तालिका – चावल की माँग व पूर्ति

मण्डल में चावल की कीमत (रु० प्रति क्विंटल)	चावल की मांग (लाख क्विंटल)	चावल की पूर्ति (लाख क्विंटल)	
425	1000	2500	पूर्ति का आधिक्य
415	1200	2400	
405	1500	2100	
395	1750	1750	
385	2000	1500	मांग का आधिक्य
375	2300	1200	

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि मण्डी में चावल की कीमत 395 रुपये प्रति क्विंटल होने

पर माँग एवं पूर्ति की मात्रा में सन्तुलानावस्था है, अतः कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त के अनुसार प्रतिस्पर्द्धा की अवस्था में मण्डी में चावल की 395 रुपये प्रति क्विंटल कीमत निर्धारित होती है। इस सन्तुलन कीमत पर चावल की माँग एवं पूर्ति एक दूसरे के पूर्ण समान होती है।

सन्तुलन कीमत के ऊपर कीमित होने पर इसकी माँग, पूर्ति से कम होती है (पूर्ति आधिक्य की स्थिति)। इसी प्रकार सन्तुलन कीमत से कम होने पर माँग, पूर्ति से अधिक होती है (मांग का आधिक्य)। अतः पूर्ति व मांग के आधिक्य की स्थिति तब तक जारी रहेगी जब तक सन्तुलन की अवस्था वापिस नहीं हो जाती।

माँग व पूर्ति वक्रों द्वारा चावल की कीमत निर्धारण के सिद्धान्त को आगे चित्र में दर्शाया गया है -

चित्र में DD माँग वक्र, SS पूर्ति को E बिन्दु पर काटता है। अतः 'E' बिन्दु वह सन्तुलन बिन्दु है जिस पर सन्तुलन कीमत (395 रु० प्रति क्विंटल) तय होती है। इस सन्तुलन कीमत पर चावल की सन्तुलित मात्रा (1750 क्विंटल) का क्रय-विक्रय होता है। अगर चावल की कीमत सन्तुलन कीमत 'P' के ऊपर या नीचे होती है तो माँग व पूर्ति में असन्तुलन हो जाता है। चावल की सन्तुलन कीमत से कम होने पर असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि चावल की माँग, पूर्ति से अधिक हो जाती है अतः उपभोक्ता अपनी चावल की आवश्यकता को पूरी करने के लिए अधिक कीमत देने को तैयार हो जाते हैं। फलस्वरूप चावल की कीमत में व द्धि होना शुरू तब तक रहती है जब तक मांग और पूर्ति में दोबारा सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता।

इसके विपरीत सन्तुलन कीमत से अधिक होने पर पूर्ति अधिक होने पर उपभोक्ता चावल की कम कीमत देने को तैयार होते हें फलस्वरूप चावल की कीमत में कमी तब तक रहती है जब तक माँग व पूर्ति में दो बार सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। अतः स्पष्ट है कि चावल की कीमत, सन्तुलन कीमत स्तर 'P' को ऊपर या नीचे होने से दोनों ही दशाओं में माँग व पूर्ति में असन्तुलन हो जाता है।

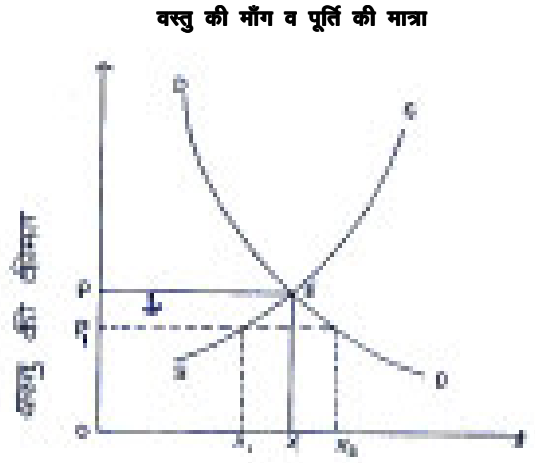

चित्र 1: माँग एवं पूर्ति वक्र द्वारा कीमत निर्धारण

कृषि वस्तुओं की पूर्ति में कमी अथवा व द्धि का कीमतों पर प्रभाव

यद्यपि कृषि वस्तुओं की माँग स्थिर रहती है परंतु पूर्ति में परिवर्तन मुख्यतः औसत की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के कारण, निरन्तर आते रहते हैं। चित्र में कृषि वस्तुओं की मांग के समान

रहने पर तथा उसकी पूर्ति में परिवर्तन (कमी या व द्धि) से उनकी कीमतों पर पड़नेवाले प्रभाव को अग्र चित्र में दिखा गया है।

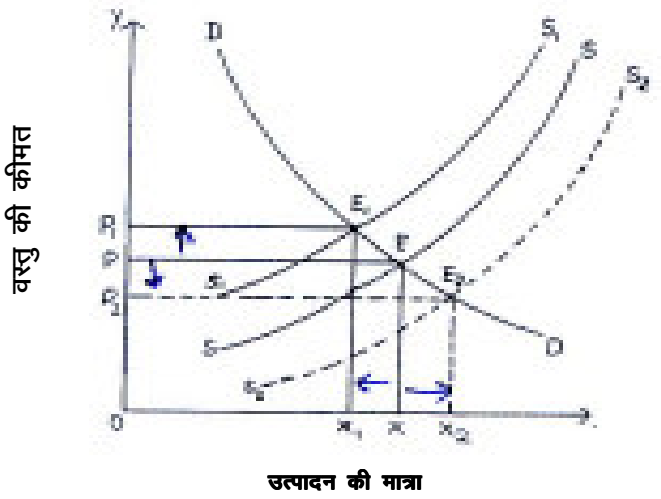

चित्र 2: कृषि वस्तुओं की पूर्ति में होनेवाले परिवर्तन का कीमतों पर प्रभाव

चित्र से स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं की पूर्ति SS से कटकर S होती है तो कीमत P से बढ़कर P_1 हो जाती है। परिणामस्वरूप माँग की मात्रा OX से कम होकर OX_1 ही रह जाती है।

इसके विपरीत कृषि वस्तुओं की पूर्ति SS से बढ़कर S_2S होती है, तो कीमत कम होकर P से P_2 हो जाती है, परिणामस्वरूप माँग की मात्रा OX से बढ़कर OX_2 हो जाती है।

कृषि वस्तुओं की कीमतों के निर्धारण में समय तत्त्व का महत्त्व

कृषि वस्तुओं के कीमत निर्धारण में समयावधि पर बहुत महत्त्व होता है। समय की लम्बी अवधि में वस्तु की कीमत पर पूर्ति का प्रभाव अधिक होता है तथा समय कम पड़ता है। कृषि वस्तुओं के कीमत निर्धारण में समय तत्त्व का बहुत महत्त्व होता है। समय अवधि जितनी कम होगी, उतना ही कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव होगा और समय अवधि जितनी अधिक होगा, उतनी ही कीमत पर पूर्ति का अधिक प्रभाव होगा। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में समय का द ष्टिकोण से कीमतों का विश्लेषण अति दीर्घकाल, अल्पकालीन एवं दीर्घकाल में किया जा सकता है।

1. **अति अल्पकालीन कीमतः** अति अल्पकाल वह अवधि है जिसमें वस्तुओं की कुल पूर्ति लगभग स्थिर रहती है। इस समय अवधि में वस्तुओं का उत्पादन पहले से हो जाता है और समय इतना कम होता है कि वस्तु के उत्पादन को और अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसी स्थिति में यदि माँग बढ़ती है तो उसकी पूर्ति केवल पहले से उत्पादित माल जो पूर्ति हेतु उपलब्ध है उससे ही कर सकते हैं। पूर्ति को बहुत ही सीमित मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। अति-अल्पकाल में पूर्ति वक्र शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तुओं तथा नाशवान वस्तुओं (जिन्हें कुछ समय के लिये संग्रहित करके पूर्ति की मात्रा में कमी अथवा व द्धि की जा सकती है) में विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं जिसका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

   रेखाचित्र 3 में SX पूर्ति वक्र पूर्ण बेलोचदार है जो यह प्रदर्शित करता है कि बाजार में मूल्य चाहे कितना ही हो कुल पूर्ति OX ही रहेगी। मांग वक्र DD पूर्ति वक्र SX को E बिन्दु पर काटता है और फलस्वरूप P कीमत निर्धारित होती है। इस कीमत पर वस्तुओं की माँग व पूर्ति की मात्रा समान होती है।

वस्तु की माँग व पूर्ति की मात्रा

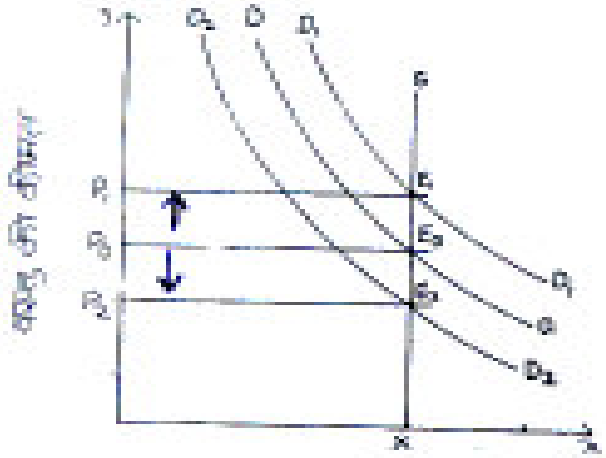

चित्र 3: शीघ्र नष्ट होनेवाली कृषि वस्तुओं में अति अल्पकालीन कीमत तय करना

माँग में व द्धि होने से नया माँग वक्र D_1D_1 बनता है, उधर बाजार में पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है, फलस्वरूप कीमत में व द्धि होकर P_1 तय होती है। इसके विपरीत माँग की मात्रा में कमी होने से (D_2D_2) माँग वक्र बायीं ओर स्थानांतरित हो जाता है। फलस्वरूप पूर्ति के स्थिर रहते हुए कीमत में गिरावट आती है जो P_2 निर्धारित होती है। कीमतों में इस गिरावट का कारण वस्तुओं का शीघ्रनाशी होना है, जिसके कारण कम कीमत पर भी वस्तु का विक्रय करना होता है, अतः स्पष्ट है कि शीघ्रनाशी वस्तुओं में कीमतों का निर्धारण पूर्णतया माँग की मात्रा पर ही निर्भर करता है।

नाशवान कृषि वस्तुओं में अति अल्पकालीन कीमतें ज्ञात करना-अति अल्पकाल में नाशवान कृषि वस्तुओं के संदर्भ में पूर्ति वक्र पूर्णतया बेलोचदार नहीं होता। नाशवान वस्तुओं को कुछ काल के लिए संग्रहित किया जा सकता है, जिसके कारण उत्पादक उन्हें उत्पादन लागत के कम कीमत प्राप्त होने पर बेचना पसंद नहीं करते। इसे निम्न चित्र में दर्शाया गया है-

वस्तु की माँग व पूर्ति की मात्रा

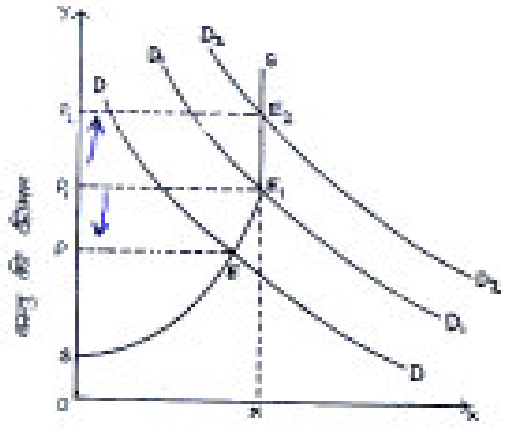

चित्र 4: नाशवान कृषि वस्तुओं में अति अल्पकालीन कीमत ज्ञात करना

उपर्युक्त चित्र में SS पूर्ति वक्र को माँग वक्र DD, E बिन्दु पर काटता है और P कीमत

निर्धारित होती है। माँग बढ़ने से नया माँग वक्र D_1D_1 पूर्ति वक्र SS को E बिन्दु पर काटता है और P_1 कीमत निर्धारित होती है। इस कीमत पर वस्तु की बाजार में उपलब्ध सारी मात्रा OX विक्रय हो जाती है। पुनः माँग में व द्धि होने से माँग वक्र D_1D_1 से दाहिनी ओर D_2D_2 स्थानांतरित हो जाता है, जबकि पूर्ति वक्र पूर्ववत् रहता है। फलस्वरूप कीमत में तो व द्धि होती है लेकिन पूर्ति की मात्रा यथावत् रहती है। इसी स्तर पर कीमत P_2 निर्धारित होती है।

चूंकि वस्तु की कुल उपलब्ध मात्रा OX है, जबकि कृषकों द्वारा आरक्षित कीमत S है। बाजार में वस्तु की कीमत इससे नीचे गिरने पर विक्रेता वस्तु की मात्रा का विक्रय नहीं करेंगे। आरक्षित कीमत मिलने के बाद में कीमत व द्धि के साथ-साथ वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा में व द्धि जारी रहती है।

2. **अल्पकालीन कीमत निर्धारणः** अल्पकाल से तात्पर्य उस अवधि से है जिसमें वस्तुओं की पूर्ति की मात्रा में व द्धि की जा सकती है क्योंकि उत्पादन के कुछ साधन स्थिर और अन्य परिवर्तनशील होते हैं। इस अवधि में कृषि वस्तुओं की पूर्ति में परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता क्योंकि इनका उत्पादन जलवायु एवं मौसम की अनिश्चितता के कारण अनिश्चित होता है।

वस्तु की माँग व पूर्ति की मात्रा

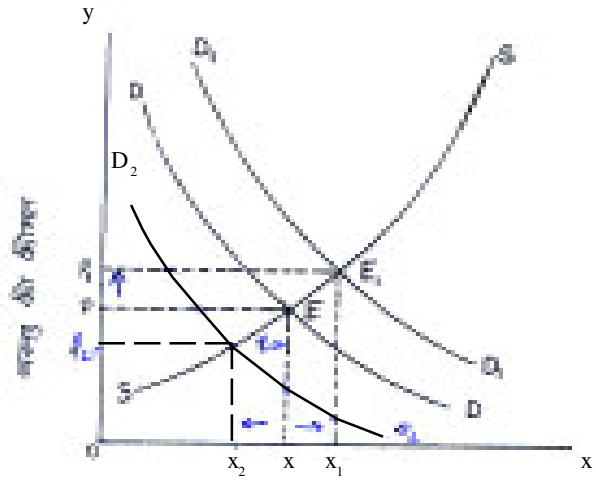

चित्र 5: वस्तु की माँग के पूर्ति के आधार पर अल्पकालिक कीमत ज्ञात करना

जब वस्तु की माँग में व द्धि होकर DD से D_1D_1 होती है परन्तु पूर्ति की मात्रा पहले जितनी SS ही बनी रहती है (अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है) केवल वर्तमान उत्पादन क्षमता में व द्धि करके पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। फलस्वरूप कीमत P से बढ़कर P_2 हो जाती है। और वस्तु की मात्रा भी X से बढ़कर X_1 हो जाती है। इसके विपरीत वस्तु की माँग कम होने पर नई माँग वक्र D_2D_2, पूर्ति वक्र के E_2 बिन्दु पर काटती है। नई कीमत P से कम होकर P_1 हो जाती है और वस्तु की मात्रा X से कम होकर X_2 हो जाती है।

3. **दीर्घकाल में कीमत निर्धारणः** दीर्घकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें वस्तु की पूर्ति (उत्पादन) में माँग के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है क्योंकि उत्पादन के सभी समाधान परिवर्तनशील होते हैं।

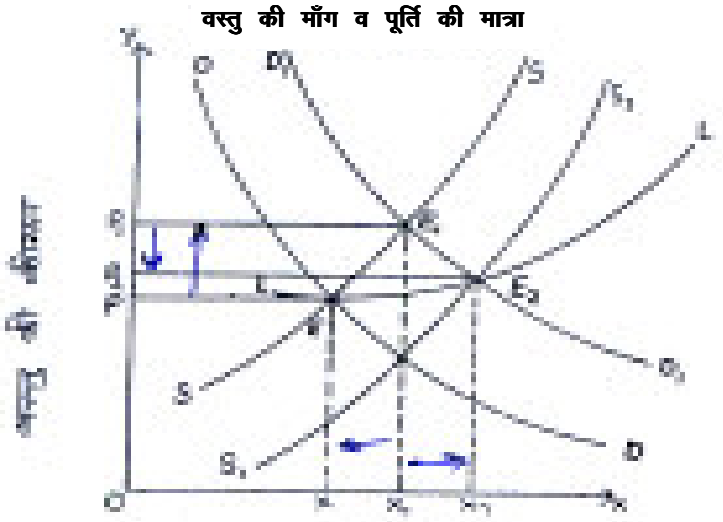

चित्र 6: मांग एवं पूर्ति वक्र द्वारा दीर्घकाल में कीमत का निर्धारण

चित्र में अल्पकालिक पूर्ति वक्र SS, मांग वक्र DD को E बिन्दु पर काटती है, तथा P कीमत निर्धारित होती है। वस्तु की मांग बढ़ने से नई माँग वक्र और खिसक कर D_1D_1 हो जाती है। पूर्ति स्थिर रहने पर नया सन्तुलन बिन्दु E_1 होता है और कीमत बढ़कर P से P_1 हो जाती है तथा उत्पादन OX से OX_1 बढ़ने पर उत्पादक को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

दीर्घकाल में समय की पर्याप्तता के कारण उत्पादन के स्तर में परिवर्तन तथा नये उत्पादकों के बाजार में प्रवेश से वस्तु की पूर्ति बढ़ जाती है और अल्पकालीन पूर्ति वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है। इस प्रकार दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LL बनता है जो अल्पकालीन पूर्ति वक्र की अपेक्षा कम ढलान वाला होता है दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LL नये माँग वक्र D_1D_1 को E_2 बिन्दु पर काटता है, जिससे वस्तु की कीमत P_2 निर्धारित होती है। इस प्रकार दीर्घकाल में कीमत P_2 निर्धारित होती है। इस प्रकार दीर्घकाल में कीमत P_2 अल्पकालीन कीमत P_1 से नीचे की ओर होती है। दीर्घकालीन कीमत P_2 प्रारम्भिक अल्पकालीन कीमत P से अधिक तथा अल्पकालीन कीमत P_1 से कम अर्थात् दोनों के मध्य निर्धारित होती है। दीर्घकालीन कीमत वस्तु की औसत उत्पादन लागत के समान होती है। P_2 कीमत पर OX_2 वस्तु का उत्पादन होता है। अतः दीर्घकाल में कृषि वस्तुओं की कीमत पर माँग की अपेक्षा पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है। कृषि वस्तुओं के उत्पादन स्तर में दीर्घकालीन परिवर्तन होने के कारण दीर्घकालीन कीमत, अल्पकालीन कीमत की अपेक्षा नीचे स्तर पर निर्धारित होती है।

दीर्घकालीन कीमत तथा उत्पादन लागत

वस्तुओं की दीर्घकालीन कीमतों एवं उनकी उत्पादन लागतों में घनिष्ठ सहसम्बन्ध पाया जाता है। दीर्घकाल में वस्तुओं की प्रचलित कीमत उनकी उत्पादन लागत से कम होने पर उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा भी कम हो जाती है, जिससे पूर्ति भी घट जाती है। जिसके परिणामस्वरूप कीमतों का बढ़ना शुरू हो जाता है। इसके विपरीत वस्तुओं की माँग के अधिक होने पर उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा को उस स्तर तक बढ़ाते रहते हें जबकि

उत्पादित की जानेवाली वस्तु की अतिरिक्त इकाई की उत्पादन लागत उसकी कीमत के बराबर नहीं हो जाती। इसी तरह वस्तुओं की मांग के अधिक होने पर दीर्घकाल में नये उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन हेतु क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, जिससे भी उत्पादन मात्रा में व द्धि होती है। इन सबकी अन्तिम परिणिति कीमतों के स्तर में गिरावट होती है और अन्त में कीमतों का यह स्तर उत्पादन लागत के सन्निकट आ जाता है। इसके विपरीत वस्तुओं की माँग कम होने पर कीमतों की गिरावट यदि उत्पादकों को उत्पादन लागत (परिवर्तनशील लागत) की राशि में पूरी प्राप्त नहीं होती है तो वे उस वस्तु का उत्पादन करना बन्द कर देते हैं। यदि उत्पादकों को वस्तुओं में बिक्री से परिवर्तन लागत की राशि तो पूरी प्राप्त होती है लेकिन स्थिर लागत की राशि प्राप्त नहीं होती है तो ऐसी अवस्था में उत्पादक उत्पादन की मात्रा में उस स्तर तक गिरा देते हैं कि जिस पर उनको होनेवाली हानि न्यूनतम होती है।

दीर्घकाल में वस्तुओं की कीमतें कम होने की दशा में उत्पादक उस व्यवसाय को बन्द कर देते हैं अथवा वस्तु का उत्पादन कम करते हैं या मशीनों एवं तकनीकी ज्ञान में परिवर्तन करके लागत को कम करने के प्रयास करते हैं। वस्तुओं की कीमतों से उत्पादन लागत अधिक होने पर नये उत्पादक व्यवसाय में प्रवेश करते हैं एवं वर्तमान में उत्पादन में लगे कृषक भी अपने उत्पादन की मात्रा में व द्धि करते हैं। ऐसे प्रयास करने से उत्पादन की कुल मात्रा में व द्धि होती है तथा कीमतों में गिरावट आती है। जिससे व्यावसायिक कृषकों को प्राप्त होनेवाले लाभ की राशि में गिरावट होती है। इसका निहितार्थ यह हुआ कि दीर्घकाल में उत्पादन का स्तर, वस्तुओं की औसत कीमत एवं औसत उत्पादन लागत के स्तर पर होता है अर्थात् दीर्घकाल में सामान्य कीमत स्तर ही प्रचलित होता है। दूसरे शब्दों में दीर्घकाल में, पूर्ण सामान्य वस्था बिन्दु आने पर उत्पादन में व द्धि अथवा कमी नहीं होती है।

कृषि एवं गैर-कृषि कीमतों के बीच व्यापार की शर्तें
(Terms of Trade between Agriculture and Non-Agriculture Prices)

भारत में कृषि कीमत नीति तथा गैर कृषि क्षेत्र के बीच व्यापार की शर्तों से सम्बन्धित अध्ययन ने विद्वानों का ध्यान काफी आकर्षित किया है। यद्यपि, पहले वाद-विवाद में, व्यापार की शर्तों का वर्गों एवं उनकी सापेक्षिक राजनैतिक शक्ति के द ष्टिकोण से विचार-विमर्श किया जाता था; परन्तु वर्तमान में यह वाद-विवाद दो आधारभूत आर्थिक मुद्दों तक ही सीमित है।

पहले मुद्दे का सम्बन्ध प्रशासकीय कीमत नीति (Administered Price Policy) द्वारा लागए गए फसलों के प्रारूप (Cropping Pattern) में विकृति से है। एक तरफ तो दालों के बड़े स्टॉकों की उपलब्धता तथा दूसरी तरफ तेल सम्बन्धी वस्तुओं की बड़े पैमाने पर आयात की आवश्यकता, दोषपूर्ण प्रशासकीय कीमत के ढाँचे की विकृति को दर्शाती है।

दूसरा मुद्दा इस तथ्य से संबंधित है कि नीति-निर्माताओं ने अभी तक कृषि एवं गैर-कृषि क्षेत्र संबंधित व्यापार की शर्तों की तरफ ध्यान नहीं दिया है।

इस तथ्य में भी कोई सच्चाई नहीं लगती कि खाद्यान्नों की घरेलू खपत प्रशासकीय कीमतों (Administered Area) उच्च स्तर द्वारा प्रभावित होती है, वास्तव में, अन्तिम तीन वर्षों में, जब खाद्यान्नों का उत्पादन काफी अधिक हुआ था, तब खाद्यान्नों की घरेलू खपत में भी काफी तेज गति से व द्धि हुई थी।

अतः 1984 तथा 1985 में, 1983 की तुलना में घरेलू उत्पादन में 22 मिलियन टन खाद्यान्न तथा 19 मिलियन टन का आधिक्य था, दोनों वर्षों की घरेलू प्राप्ति, घरेलू वितरण की तुलना में लगभग 11 मिलियन टन अधिक हुई। खाद्यान्नों की निम्न कीमतें आवश्यकरूप से उपभोग में भी व द्धि को प्रोत्साहित करती हैं। यद्यपि निम्न कीमतों के फलस्वरूप उत्पाद में भी काफी कमी होती है तथा बाद के वर्षों में कीमतों में व द्धि गरीब को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित करती है।

यह एक सन्तोषजनक विषय की बात है कि हमारी अर्थव्यवस्था, (जो खाद्यान्नों के द ष्टिकोण से आत्मनिर्भर नहीं होती थी), अब एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था बन गई है। यद्यपि, भविष्य में खाद्य पदार्थों की मांग में और भी व द्धि आपेक्षित है। परिणामस्वरूप हमें दालों के उत्पादन में होनेवाली व द्धि को निरन्तर बनाए रखना होगा। अत्यधिक स्टॉक की समस्या समय-समय के साथ फिर उठती रहेगी, अतः इस समस्या के समाधान के लिए हमें गरीबों के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली को ओर प्रोत्साहित करना होगा तथा निर्यात की सम्भावनाओं को और खोजना होगा।

यह स्थिति हमें प्रशासकीय कीमतों (Administered Prices) द्वारा निर्मित दालों तथा तिलहन नीति की समस्या के फलस्वरूप फसलों के प्रारूप की विकृति के मुद्दे पर फिर ले आती है।

इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है साठ के दशक के माध्य में सापेक्षिक कीमतों का झुकाव तिलहन की तुलना में दालों की तरफ जान-बूझकर किया गया था। यद्यपि यह निर्णय, उस समय की परिस्थितियों के अनुरूप ही था क्योंकि साठ तथा सत्तर के दशकों के मध्य में दाल तथा तिलहन के चलित अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों एवं उपलब्ध उत्पादन पर, भारत के लिए तिलहन का आयात तथा दालों के उत्पादन में व द्धि करना ही एक लाभदायक परिस्थिति बनती थी। बाद में यद्यपि कीमतों में परिवर्तन तिलहन के पक्ष में गया, परन्तु दालों के उत्पादन में होनेवाली सापेक्षिक व द्धि ने किसानों के लिए दाल उत्पादन को एक लाभदायक व्यवसाय बना दिया। आज भी, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों तथा गेहूँ बनाम, (Repressed) के सापेक्षिक उत्पादन दरों, पर यह निष्कर्ष के तौर पर सिद्ध किया जा सकता है कि दालों के अधिक उत्पादनवाले क्षेत्रों को तिलहन के उत्पादन में विवर्तन करने की अपेक्षा, गेहूँ के अधिक उपज बढ़ाने के ऊपर ध्यान केन्द्रित करना तथा अत्यधिक उत्पादन की स्थिति में इसका निर्यात करना, हमारे लिए एक लाभदायक स्थिति होगी।

प्रशासकीय/प्रबन्धकीय कीमत नीति (Administered Price Policy) का कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्रों के बीच, व्यापार की शर्तों पर प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप इन दोनों क्षेत्रों के सापेक्षित अर्जित आय भी प्रभावित होती है। यद्यपि वस्तु विनिमय, व्यापार की शर्तें, दोनों क्षेत्रों में आय व्यापार की शर्तों में बदलाव का एक अस्पष्ट सा सूचक बन सकता है। क्योंकि किसी भी क्षेत्र की सापेक्षिक उत्पादकिता स्तरों में होनेवाली व द्धि में, इसकी प्रतिकूल व्यापार की शर्तों को प्रभावित कर सकती है तथा उस क्षेत्र के उत्पादक को आर्थिकरूप से बेहतर बना सकती है।

तालिका 1: 1952-1953 में इन दोनों क्षेत्रों की व्यापार की शर्तों के संचालन के बारे में जानकारी देती है।

यह तालिका में निश्चित तौर पर देखा जा सकता है कि व्यापार की शर्तें गैर कृषि क्षेत्र के पक्ष में गई है। इन व्यापार की शर्तों के संचालन सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष इस प्रकार से है।

(HEMANT KUMAR)
D:\Dharmander\M.A.Final\Agricultural Economic\Chapter-14

तालिका 1: व्यापार की शर्तें, कीमतें (जिनका भुगतान किया गया) और कीमतें (स्वीकृत) का सूचकांक

	बेची गई वस्तुओं के स्वीकृत कीमतें			खरीदी गई वस्तुओं की भुगतान की गई कीमतें				व्यापार की शर्तें
	अन्तिम उपभोग	मध्यवर्ती उपभोग	सभी वस्तुएं	मध्यवर्ती उपभोग	पूंजी निर्माण	अन्तिम उपभोग	सभी प्रयोग	कालम 4/कालम/8 = 100
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1952-53	50.0	45.5	48.3	64.0	40.2	50.7	53.0	91.1
1953-54	46.6	42.6	45.1	61.3	47.0	50.7	52.4	86.1
1954-55	46.5	41.0	44.6	50.3	49.0	49.8	51.3	88.9
1955-56	45.5	42.1	44.1	55.4	51.0	40.1	40.7	88.7
1956-57	50.2	45.6	48.4	59.9	54.3	51.8	53.5	90.5
1957-58	52.0	47.6	50.2	64.9	58.6	53.3	55.9	83.0
1958-59	51.4	40.1	50.1	66.5	59.8	54.2	57.0	87.9
1959-60	51.1	49.3	50.4	67.8	60.5	58.2	58.7	85.0
1960-61	49.1	49.2	49.1	63.6	63.2	60.5	62.1	79.1
1961-62	51.9	50.9	51.5	70.6	63.7	61.9	63.2	80.6
1962-63	52.0	53.9	52.8	71.8	68.5	64.7	66.3	79.6
1963-64	57.0	55.9	58.6	77.0	69.7	78.7	77.6	72.9
Average	50.3	47.7	40.3	65.5	58.0	58.7	58.5	84.9
1964-65	68.5	65.6	67.2	78.8	70.2	69.8	71.5	94.9
1965-66	78.5	78.5	73.7	78.6	75.8	74.6	75.5	102.9
1966-67	95.3	91.3	93.7	85.6	80.5	82.6	83.0	112.9
1967-68	107.4	89.4	100.2	93.7	83.0	85.3	86.7	115.6
1968-69	97.0	86.4	92.7	93.8	85.2	87.1	88.2	105.1
1969-70	98.7	92.2	96.1	98.2	92.0	95.7	94.4	101.8
1970-71	98.8	102.9	100.5	100.3	100.2	100.6	100.5	100.0
1971-72	102.7	102.1	102.5	101.6	105.8	105.7	105.1	97.5
1972-73	115.3	119.2	116.9	109.6	117.2	115.2	112.9	103.5
1973-74	145.0	144.9	145.0	126.3	134.3	138.6	132.3	109.6
1974-75	178.0	150.2	166.8	188.1	159.5	162.3	166.9	99.9
Average	107.7	101.9	105.4	104.9	100.5	101.8	101.5	105.9

Source: Tyagi, D.S., "Domeshi Agricultural Terms of Trade in India and its Effect n Supply and Demand of Agricultural Sector." Dec. 1986 (Paper Preared for World Economic Conference)

साठ के दशक में कृषि क्षेत्र की अनुकूल व्यापार की शर्तों के कारणः कृषकों की आय में काफी व द्धि हुई। क्योंकि उत्पादकता में भी व द्धि हो रही थी। अतः उनके लाभ भी अधिक थे। इस स्थिति के फलस्वरूप कृषकों ने कृषि में काफी अधिक निवेश किया, जिसके कारण नई तकनीक का भी काफी बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाने लगा। इस सत्य में कोई शक की बात नहीं है कि कृषि के पक्ष में व्यापार की शर्तों के कारण अर्थव्यवस्था में कुछ मुद्रा स्फीति अवश्य उत्पन्न हुई। परन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि सत्तर दशक के मध्य में यद्यपि व्यापार की शर्तें कृषि के प्रतिकूल हो गई परन्तु फिर भी कृषि उत्पादकता स्तरों में होनेवाली काफी व द्धि के प्राप्ति के फलस्वरूप कृषि आय में बहुत व द्धि हुई। अतः प्रतिकूल व्यापार की शर्तों के बावजूद, नई तकनीक के कारण कृषि क्षेत्र पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

इसके परिणामस्वरूप खाद्यान्नों की कीमतों में कम स्तर पर व द्धि हुई और मुद्रा स्फीति के दबावों को रोकने में काफी सहायता भी मिली। इसके साथ-साथ कृषि में उच्च उत्पादकता के कारण इस क्षेत्र की आय में होने वाली व द्धि से कृषि में निवेश में महत्वपूर्ण व द्धि हुई है।

अन्त में, संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्रों के बीच व्यापार की शर्तों की गति केवल एक अस्पष्ट सत्र ही विचार प्रस्तुत कर सकती है। दोनों क्षेत्रों की व्यापार की शर्तों को सही तस्वीर प्राप्त करने के लिए, इन क्षेत्रों की सापेक्षिक उत्पादकता में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखना होगा। 1970 के दशक में भारत में, नई उच्च उत्पादकता तकनीकी लागू करने से कृषि क्षेत्र की विपरीत व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल प्रभावों की क्षतिपूर्ति की है।

अध्याय-15
कृषि विपणन
(Agriculture Marketing)

कृषि पदार्थों के उत्पादन के साथ-साथ उसके आधिक्य के बिक्री की व्यवस्था करना भी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है। आज कृषि जीवन-निर्वाह का साधन मात्र ही नहीं रह गई बल्कि औद्योगिक विकास का एक माध्यम तथा कृषकों के सुख एवं सम द्धि का आधार भी बन गई है। वर्तमान समय में कृषक केवल खाद्यान्नों का ही उत्पादन नहीं करता बल्कि व्यापारिक फसलों जैसे- गन्ना, कपास, तिलहन आदि भी उत्पन्न करता है (जिसे कृषि का व्यावसायीकरण भी कहा जाता है)। इन फसलों एवं खाद्यान्नों के आधिक्य की बिक्री आज कृषकों की एक प्रमुख समस्या है। एक उचित कृषि विपणन व्यवस्था से कृषकों की आय में व द्धि होती है परिणामस्वरूप कृषक उत्पादन बढ़ाने से एक ओर तो खाद्यान्न की समस्या हल होती है तो दूसरी ओर कृषकों की आय में व द्धि के कारण उनका जीवन स्तर सुधरता है और देश के विकास को गति मिलती है।

कृषि विपणन का अर्थ
(Meaning of Agricultural Marketing)

सामान्यतः कृषि उपज के विपणन या बिक्री से तात्पर्य उन समस्त क्रियाओं से लगाया जाता है जिसके द्वारा कृषि उपज उपभोक्ताओं तक पहुँचती है। प्रो० जोल एवं प्रो० खुसरो के अनुसार ''खाद्यान्न विपणन के अन्तर्गत उन क्रियाओं को शामिल किया जाता है जो खाद्यान्नों को उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए समय (भण्डारण), स्थान (परिवहन), स्वरूप (परिनिर्माण) एवं स्वामित्व परिवर्तन आदि विपणन प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर की जाती है" कृषि पदार्थों की बिक्री में शामिल होनेवाली मुख्य क्रियाएं निम्नलिखित हैं- एकत्रीकरण (Collection), उनका श्रेणीकरण तथा प्रमाणीकरण (Grading and Standardisation), परिष्करण (Processing), संग्रहण एवं भण्डारण (Preservation and Storage), परिवहन (Transportation), पैकेजिंग (Packging) और विपणन वित्त (Marketing Finance)।

बिक्री योग्य आधिक्य
(Marketable Surplus)

किसी उत्पादक की उपज का वह अतिरिक्त भाग, जो पारिवारिक उपभोग संबंधित आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद, बाजार में बेचा जाता है उसे बिक्री योग्य आधिक्य कहा जाता है। किसी अल्प विकसित देश के आर्थिक विकास में कृषि वस्तुओं के बिक्री योग्य आधिक्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जिसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **नगरीय जनसंख्या को खाद्यान्नों की आपूर्ति (Foodgrains Supply for Urban Population):** आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ औद्योगिकीरण को भी बढ़ावा

मिलता है। परिणामस्वरूप गाँवों की जनसंख्या भी नगरों में बसने लगती है। इस बढ़ती हुई नगरीय जनसंख्या को अधिक से अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता पड़ती है। यदि कृषक अपने-अपने अतिरिक्त खाद्यान्न को बाजार में न बेचें तो नगरीय जनसंख्या का जीवन-निर्वाह मुश्किल हो जाएगा।

2. **उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति (Supply of Raw Materials):** अनेक उद्योगों को कृषि से ही कच्चा माल प्राप्त होता है अतः यदि कृषि उत्पादन में व द्धि न हो तथा कृषक के पास बिक्री योग्य आधिक्य न रहे तो उद्योगों को कच्चे माल की आवश्यकता पुरी नहीं हो पाएगी जिसके फलस्वरूप उद्योगों का विकास बुरी तरह प्रभावित होता है।

3. **आर्थिक विकास के लिए पूँजी निर्माण:** कृषकों के पास बिक्री योग्य आधिक्य होने से ही आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी निर्माण प्राप्त हो सकते हैं। यही कारण है जापान में पहले कृषि का विकास किया गया फिर उससे प्राप्त अनाज का प्रयोग औद्योगिकीरण के लिए किया गया।

आर्थिक विकास में कृषि विपणन की भूमिका
(Role of Agricultural Marketing in Economic Development)

मिश्रा एवं पुरी के अनुसार - ''कृषि वस्तुओं की विपणन व्यवस्था में सुधार से देश के आर्थिक विकास में सहायता प्राप्त होगी। देश के आर्थिक विकास में कृषि विपणन की भूमिका की निम्नलिखित तथ्यों से व्याख्या की जा सकती है-

1. **कृषकों के लिए महत्त्व (Importances of Farmers):** कृषि क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तनों के फलस्वरूप देश में कृषि उत्पादों की मात्रा में पर्याप्त व द्धि हुई है परन्तु कृषकों को कृषि उत्पादों के विक्रय से अधिकतम आय तब ही प्राप्त हो सकती है जब इन कृषि उत्पादों के विक्रय हेतु देश में एक सुव्यवस्थित विपणन प्रणाली विद्यमान हो। उपयुक्त विपणन प्रणाली से कृषकों को अपने उत्पादन में व द्धि करने में प्रेरणा प्राप्त होती है। कृषि उत्पादों में व द्धि से राष्ट्रीय आय में व द्धि होगी जो देश के आर्थिक विकास का सूचक है।

2. **उपभोक्ताओं के लिए महत्त्व (Importances of Consumers):** कृषि विपणन द्वारा देश में उपलब्ध खाद्यान्नों एवं अन्य कृषि उत्पादों के करोड़ों उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जाता है तथा उनकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। उपयुक्त विपणन व्यवस्था के अभाव में देश में अधिक मात्रा में उपलब्ध खाद्यान्नों को देश की जनता तक आवश्यक मात्रा में उचित कीमत पर नहीं पहुँचाया जा सकता। उपभोक्ताओं को वस्तुओं की अच्छी किस्मों को आवश्यक मात्रा में न्यूनतम कीमतों पर उपलब्ध कराती है। उपभोक्ता अपनी सीमित आय को विभिन्न आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करके अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है। एक कुशल विपणन व्यवस्था से आवश्यक वस्तुओं को कीमतों को कम करने में सहायता मिल सकती है और उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सकती है।

3. **सरकार के लिए महत्त्व (Importances of the Government):** सरकार की द ष्टि से एक उपयुक्त विपणन व्यवस्था वह होती है जो उत्पादक-कृषकों को लाभकारी मूल्य दिलवाकर उन्हें उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा दे और साथ ही वह उपभोक्ताओं को कम से कम कीमत पर उचित किस्म की आवश्यक मात्रा में वस्तुएँ भी उपलब्ध

करवाए और विपणन मध्यस्थ्यों को भी उनके द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं के लिए उचित मात्रा में धनराशि प्राप्त करवाए।

4. **योजनात्मक विकास की सफलता के लिए महत्त्व (Importance for Success Planned Eco Development):** देश के योजनात्मक विकास की सफलता अन्ततः कृषि विपणन प्रणाली पर ही निर्भर करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त गरीबी को दूर करने, आवश्यक वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने, कृषि उत्पादों की बढ़ती हुई कीमतों को रोकने, कृषि उत्पादों के निर्यात से अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने आदि के लिए देश में कृषि वस्तुओं के लिए उपयुक्त एवं कुशल विपणन व्यवस्था का होना आवश्यक होता है।

5. **लोगों के जीवन स्तर सुधारने में सहायक (Helpful in improving standard & living of people):** कृषि विपणन देश के करोड़ों लोगों (उत्पादकों, विपणन कार्य से संबंधित मध्यस्थी, परिष्करण एवं भण्डारण) के जीवन स्तर को सुधारने तथा उनकी आय में व द्धि करने में सहायक होता है। आय में व द्धि के फलस्वरूप मांग में व द्धि होती है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कृषि और उद्योगों का विस्तार होता है अन्ततः आर्थिक प्रगति की गतिशीलता में व द्धि होती है।

6. **कृषि क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में सहायक (Help in attaining targets of Agricultural Sector):** देश में कृषि उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि कृषकों को आवश्यक कृषि आयातों (Inputs)-उर्वरकों, उन्नतशील, बीजों, कीटनाशकों तथा कृषि उपकरणों आदि को उचित समय तथा उपयुक्त कीमत पर उपलब्ध करवाया जाए। उचित विपणन व्यवस्था के अभाव में देश में कृषि उत्पादन वांछित स्तर पर नहीं पहुँचता जो कि अन्त में आर्थिक विकास को वाँछित करता है।

भारत में कृषि विपणन की वर्तमान व्यवस्था
(Present System of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि उपज की निम्न व्यवस्था मौजूद हैः-

1. **गाँव में बिक्री (Sales in Villages):** भारत में किसान अपनी उपज का अधिकतर भाग गाँवों में ही साहूकारों, महाजनों या घूमते-फिरते व्यापारियों को ही बेच देते हैं। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में गेहूँ का 60%, तिलहनों का 70% और कपास का 35% उत्पादन गाँवों में ही बेचा जाता है।

   गाँवों में कृषि उपज तीन प्रकार से बेची जाती है-(i) गाँव में कभी भी लगनेवाले बाजारों (पेंठ तथा हाटों) में इनकी संख्या करीब 22,000 है। (ii) गाँव में महाजनों एवं साहूकारों को (iii) गांवों में घूमते हुए व्यापारियों को।

   जिन कारणों के फलस्वरूप किसानों को गाँवों में फसल बेचने से अधिक हानि होती हैं-वे इस प्रकार हैं-(i) कृषकों को धन की आवश्यकता तुरन्त होती है। (ii) ये गाँवों के साहूकारों से ऋण लिए रहते हैं जिन्हें चुकाना भी होता है। (iii) गाँवों में परिवहन के साधनों का अभाव पाया जाता है। (iv) फसलों के कटने से पहले ही सौदा कर लेते हैं। (v) कृषकों के पास गोदामों की सुविधाएं नहीं होती। (v) किसानों की अशिक्षा, मण्डियों में धोखेबाजी एवं प्रचलित मूल्यों की सूचना का अभाव।

2. **मण्डियों में बिक्री (Sale in Market):** भारत में कृषि उपज का एक अल्प भाग ही मण्डियों में बिक्री के लिए आता है। मण्डियों से अभिप्रायः उन स्थानों से होता है जहाँ थोक मात्रा में कृषि उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। ये मण्डियाँ शहरी क्षेत्रों या कस्बों में होती हैं। मण्डियाँ दो तरह की होती हैं-(i) अनियमित मण्डी (Unregulated Market), (ii) नियमित मण्डी (Regular Market)। अनियमित मण्डियों में किसान की उपज की बिक्री का अधिकतम भाग आढ़तियों द्वारा हड़प लिया जाता है। भारत में अब थोड़ी सी ही मण्डियां अनियमित हैं। नियमित मण्डियों की स्थापना राज्यों, सरकारों के नियमानुसार होती है जहाँ किसानों को निर्धारित नियमों के आकार पर उचित मूल्य प्राप्त होते हैं। इन मण्डियों में किसानों के साथ धोखा नहीं किया जाता।

3. **अन्य प्रणालियां (Other Methods):** उपरोक्त प्रणालियों के अतिरिक्त कृषि उपज की बिक्री अन्य दो प्रकार से भी की जाती है-(i) सहकारी समितियों (Cooperativv Societies) द्वारा, (ii) सरकारी क्रय पद्धति (Government Purchase System)। इसके अन्तर्गत सरकार ने भारतीय खाद्य निगम (Food corporation of India), कपास निगम (Cotton Corporation), जूट निगम (Jute Corporation) आदि संस्थाओं की स्थापना की है।

भारत में कृषि विपणन के दोष
(Defects of Agricultural Marketing in India)

भारत में कृषि विपणन व्यवस्था अनेक प्रकार से सन्तोषजनक स्थिति में नहीं है फलस्वरूप किसानों को अपने फसलों का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। विपणन व्यवस्था के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं:-

1. **दोषपूर्ण संग्रहण व्यवस्था (Defective Storage facilities):** भारतीय कृषकों के पास ऐसी भण्डारण सुविधाओं का अभाव है जहां किसान अपनी उपज को कुछ समय के लिए सुरक्षित रख सके। गांवों में कृषि उपज खत्रियों, मिट्टी के बर्तनों तथा कच्चे कोठों में जमा की जाती है। ऐसे संग्रहण के प्राय 1.5% उपज सड़-गलकर नष्ट हो जाती है या चूहे कीटाणुओं द्वारा खा ली जाती है कभी-कभी तो इस प्रकार किसान की एक-तिहाई उपज नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में कृषक को अपनी उपज को शीघ्र बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

2. **श्रेणी विभाजन एवं प्रमाणीकरण का अभाव (Lack of Gradation and Standarisation):** भारतीय मण्डियों में जो कृषि उपज बिकने को आती है वे प्रायः प्रमाणित एवं श्रेणीकरण नहीं होता जो कि कृषक की अज्ञानता एवं उपज थोड़ी होने का परिणाम होता है। इसके फलस्वरूप किसान जान-बूझकर मिलावट करते हैं और उन्हें उपज का कम मूल्य मिलता है। इस स्थिति का लाभ बाजार में उपस्थित बेईमान व्यापारी, एजेन्ट और तौल करनेवाले उठाते हैं।

3. **अल्पविकसित परिवहन व्यवस्था (Under-developed Transportation System):** ग्रामीण कृषि में परिवहन व्यवस्था असंतोषजनक है। गाँव व शहरों को जोड़नेवाली अधिकांश सड़के कच्ची हैं जिन पर बरसात के मौसम में चलना बहुत ही कठिनाईपूर्ण होता है परिणामस्वरूप इन साधनों के अभाव में यातायात की लागत कृषि उपज के मूल्य का 20% हो जाती है, कई परिस्थितियों में कृषकों को गांवों में फसल कम कीमत पर बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

4. **मध्यस्थों की बड़ी संख्या (Multiplicity of Intermediaries):** भारत में कृषि उपज के विपणन में कृषकों एवं उपभोक्ताओं के बीच मध्यस्थों की एक लम्बी श ंखला है जिसमें साहूकार, फुटकर व्यापारी, आदि शामिल हैं। मध्यस्थों की अधिक संख्या के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं द्वारा दिए जानेवाला मूल्य का लगभग 50% ही मिल पाता है।

   डी०एस० सिन्धु के अनुसार किसानों को चावल की कीमत का केवल 53% प्राप्त होता है (31% हिस्सा मध्यस्थों का है, तथा 16% विपणन लागत है। जबकि गेहूँ की बिक्री से पचास पैसे ही प्राप्त होते हैं। अतः कृषि व्यापार का अधिकतर लाभ इन्हीं मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

5. **मण्डियों में कपटपूर्ण रीतियाँ (Malpractice in Mandis):** इन मण्डियों में आढ़तिए और दलाल किसान की अज्ञानता का लाभ उठाकर उसके साथ विविध प्रकार से कपट करते हैं। तराजू और बाटों की गड़बड़ी, प्रामाणिक वजनों का प्रयोग न करना, उपज का एक अंश नमूने के रूप में लेकर वापिस न करना, कपड़े के नीचे से हाथ के इशारों से मूल्य निर्धारित करना, तुलाई, आढ़त, बोराबन्दी प्याऊ आदि के लिए अनुचित कटौती करना मण्डियों की कुछ प्रचलित कपटपूर्ण रीतियाँ हैं।

6. **मूल्य संबंधी जानकारी का अभाव (No knowledge about Price):** किसानों के लिए विभिन्न मण्डियों में समय-समय पर प्रचलित मूल्यों के विषय में सही सूचना प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता क्योंकि गाँवों में समाचार पत्र व पत्रिकाएँ नहीं पहुँच पाती। साथ ही अधिकाँश किसान अनपढ़ भी होते हैं। अतः किसान को अपनी उपज का वही मूल्य स्वीकार करना पड़ता है जो मूल्य उसे स्थानीय व्यापारी बताते हैं।

7. **विपणन हेतु वित्त का अभाव (Lack of Marketing Finance):** विपणन क्रिया के लिए वित्त की आवश्यकता होती है सहकारी समितियों से उपलब्ध वित्त का लाभ बड़े किसानों को ही हो सकता है। छोटा किसान अब भी वित्त के लिए व्यापारी-महाजन के पास जब पहुँचता है तो वह किसान को मंडी में अपना अनाज बेचने के लिए हतोत्साहित करता है और स्वयं ही उसे खरीद लेता है।

8. **प्रतिकूल परिस्थितियों में विपणन (Marketing under unfarmerable circumstances):** जमींदारी उन्मूलन से पहले लगान की रकम का भुगतान करने के लिए कृषक को अपनी उपज का एक बड़ा भाग फसल आने के बाद तुरन्त बाद ही बेचना पड़ता था। परन्तु जमींदारी उन्मूलन के बाद किसानों में एक सम्पन्न वर्ग पैदा हो गया जो भूमि का स्वामी है तथा उससे अपनी उपज को कम दामों पर बेचने की विवशता भी नहीं होती। दूसरी ओर छोटा किसान भी है जिनके पास पाँच एकड़ से कम भूमि है तथा इनमें सम्पन्न किसान की तरह, बिक्री योग्य आधिक्य को उचित कीमतों के इन्तजार में संग्रह करने का सामर्थ्य नहीं होता। अतः परिणामस्वरूप इन्हें अपनी उपज, ऋण वापस करने या लगान चुकाने के लिए फसल के तुरन्त बाद ही बेचनी पड़ती है।

9. **विवशतापूर्ण बिक्री (Forced Sale):** भारत का औसत किसान इतना गरीब और ऋणग्रस्त है कि उसमें अच्छी कीमतों के लिए प्रतीक्षा करने की क्षमता ही नहीं है। उसे ऋण-भार से मुक्ति पाने के लिए फसल तैयार होते ही अपनी फालतू उपज ग्रामीण साहूकार या व्याारी के हाथों बेचनी पड़ती है। अन्य शब्दों में व्यापारी को अपने उत्पादन

का बहुत ही प्रतिकूल बाजार में प्रतिकूल समय पर प्रतिकूल दरों पर बेचना पड़ता है।

10. **संगठन का अभाव (Lack of Organisation):** भारतीय कृषक देश के दर-दर स्थानों पर फैले हुए हैं। और वे आर्थिक तथा सामाजिक द ष्टि से पिछड़े हुए भी हैं। परिणामस्वरूप वे किसी शक्तिशाली संगठन का निर्माण नहीं कर पाए हैं। अतः फसल बेचते समय व्यापारी उसको दबा लेते हैं। और कम मूल्य पर उपज बेचने को बाध्य करते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय कृषक सीधा-सादा है तथा रूढ़िवादी और अन्धविश्वासी भी है। यही कारण है कि व्यापारी द्वारा ठगा जाता है। उनको अनेक तरह से समझाकर गाँव में बेचने के लिए बाध्य किया जाता है।

अतः भारत की वर्तमान कृषि उपज की विपणन, व्यवस्था को भूमि संबंधों से स्वतन्त्र रूप से देख सकना संभव नहीं है। बाजारों के नियन्त्रण, आकाशवाणी द्वारा भावों के प्रसारण, यातायात व्यवस्था में सुधार आदि से पूँजीवादी ढंग से खेती करनेवाले किसानों को तो लाभ हुआ है और वे अपने ''विपणन आधिक्य'' का उचित मूल्य पाने में सफल हुए हैं परन्तु इन सबका लाभ मध्यम श्रेणी के और छोटे किसानों को अपेक्षाकृत बहुत कम मिल पाता है।

कृषि विपणन में सुधार हेतु सरकारी उपाय
(Govt. Measures to Improve Agricultura Marketing)

कृषि विपणन में सुधार की द ष्टि से सरकार ने कई कदम उठाए हैं। तथा इस कार्य के लिए Directorate of Marketing and Inspection की स्थापना की है। मुख्य उपाय निम्नलिखित हैं-

(i) **नियन्त्रित मंडियों की स्थापना (Organisation of Regulated Markets):** मंडियों में दलालों तथा आढ़तियों के कपटपूर्ण व्यवहार से बचाने के उद्देश्य के लिए नियन्त्रित मंडियों की स्थापना की गई। नियन्त्रित मण्डी का संगठन एक बाजार समिति (Market Committed) के रूप में होता है जिसके सदस्यों में राज्य सरकार के प्रतिनिधि, उत्पादकों, व्यापारियों किसानों तथा नगरपालिका से भी प्रतिनिधि शामिल होते हैं। दलालों और व्यापारियों, को लाइसेंस लेना पड़ता है। ये समितियाँ विपणन व्यवस्था को सुधारने की द ष्टि से श्रेणी विभाजन को प्रोत्साहन देती हैं। खुली, निलायी पद्धति को लागू करती है। किसानों और व्यापारियों के बीच मतभेदों को दूर करने के लिए मध्यस्थी करती है। राज्यों में नियन्त्रित मंडियों के कार्यों का समन्वय करने तथा उनको नियन्त्रण करने के लिए राज्य कृषि बिक्री मण्डलों की स्थापना की गई है। तथा अब देश की खाद्यान्न फसलों का 80% उपज का भाग नियन्त्रित मंडियों में ही बेची जाती है। इस समय देश में 7,062 नियन्त्रित मंडियाँ हैं।

2. **श्रेणी विभाजन एवं मानकीकरण (Gradation and Standardisation):** कृषि उपज का वर्गीकरण करने के लिए 1937 में ''कृषि उत्पादन श्रेणी विभाजन एवं अंकन कानून'' पास किया गया तथा जिसमें विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय (Directorate of Marketing and Inspection) को अधिकार दिया गया कि वह स्वीकृत मानकों के अनुसार श्रेणी विभाजन तथा अंकन करने की अनुमति किसी भी संस्था को दे सकता है। इस निदेशालय ने अब तक 159 कृषि वस्तुओं (व कृषि से सम्बद्ध वस्तुओं) के लिए मानक निर्धारित किए है। निर्यात के लिए 44 कृषि वस्तुओं का श्रेणी विभाजन अनिवार्य

है। इन वस्तुओं जैसे चावल, गन्ना, गुड़, आलू, घी, तेल आदि पर एगमार्क (Agmark) का निशान होना चाहिए नागपुर में केन्द्रीय श्रेणी नियन्त्रण प्रयोगशाला (Central Quality Control Laboratory) तथा इसके अतिरिक्त 22 क्षेत्रीय श्रेणी नियन्त्रण प्रयोगशालाएँ (Regional quality control Laboratories) भी हैं जो वस्तुओं की किस्म सुधारने के सम्बन्ध में सलाह देती है।

3. **मानक बांट और नाप तोल की अनिवार्यता (Use of Standard Weights and Measures):** 1958 में नाप तोल की मीट्रिक प्रणाली (Metro System of Weights and Measures) शुरू की है तथा 1 अप्रैल 1962 से मीट्रिक बांटों उपयोग का भी अनिवार्य कर दिया गया है इन नीतियों को लागू करने से माप तोल की गड़बड़ियों में कुछ कमी आई है।

4. **कृषि उपज के मूल्यों के विषय में किसानों को सूचना देने की व्यवस्था (Dissemination of Market Information):** कृषि उपज की विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए आवश्यक है कि मंडियों में प्रचलित मूल्यों के अलावा, उपज की मात्रा, जो कि विशेष को बिकने के लिए मंडी में आती है, से सम्बद्ध सूचना आकाशवाणी एवं समाचार पत्रों द्वारा नियमित रूप से किसानों की मिलनी चाहिए। इस सम्बन्ध में आजकल ऑल इण्डिया रेडियो प्रतिदिन साभी को प्रमुख मंडियों के भाव प्रसारित करता है।

इसके अतिरिक्त किसानों को उत्पादन में प्रोत्साहन तथा उनके जोखिम को कम करने के लिए देश में कृषि लागत तथा कीमत आयोग (Commission for Agricultural Costs and Prices) एक न्यूनतम कीमत (Minimum Price) एवं कीमत समर्थन (Price Support) की प्रणाली को लागू करता है।

5. **संग्रह के लिए गोदामों का निर्माण (Godown and Storage facilities):** अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार, कृषि विकास के कार्यक्रम में गोदाम निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। गोदाम के निर्माण से संग्रहण में सुधार तो होता ही है जिससे संग्रहण काल में पदार्थ की हानि नहीं होती, साथ में इससे किसानों की कृषि उपज को कुछ समय रोककर बेचने की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

इसके अतिरिक्त किसान नकदी की आवश्यकता होने पर भी उपज बेचने के लिए विवश नहीं होते क्योंकि उन्हें प्रमाणित गोदामों से प्राप्त रसीदों की प्रति भूमि पर सहकारी समितियों और व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त हो सकता हैं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए, 1954 में इस सर्वेक्षण समिति ने तीन स्तरों (i) राष्ट्रीय स्तर (ii) राज्य स्तर (iii) ग्रामीण स्तर पर गोदाम के निर्माण की सिफारिश की। परिणामस्वरूप 1957 में केन्द्रीय गोदाम निगम (Central Warehousing Corporation) की स्थापना हुई और कई राज्यों में राज्य गोदाम निगमों (State Warehousing Corporation) की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त, भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India FCI) की स्थापना हुई तथा FCI के गोदामों की क्षमता 251 लाख टन है राज्य गोदामों की संग्रह 123 लाख टन है।

6. **विपणन अनुसंधान एवं सर्वेक्षण (Marketing Research and Surveys):** विपणन में सुधार हेतु विपणन अनुसंधान तथा सर्वेक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि

कृषि पदार्थों के विपणन से संबंधित समस्याओं का पता लगाने तथा उनका समाधान निकालने में सहायता मिल सके।

भारत में केन्द्रीय सरकार ने कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत एक निदेशालय ''विपणन एवं जांच निदेशालय'' (Directorate of Marketing and Inspection) है, जो कृषि विपणन, कृषि बागवानी एवं पशुपालन संबंधी बातों के लिए सर्वेक्षण एवं अनुसंधान करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय सरकार विभिन्न प्रकार के नियम बनाती है।

7. **सहकारी विपणन समितियाँ (Coporate Marketing Societies):** विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों से बचने के लिए एवं मंडियों की कपटपूर्ण रीतियों से बचने के लिए कृषकों को अपनी सहकारी समितियाँ बनानी चाहिए जिससे उनकी उपज के उचित मूल्य मिल सके, वित्तीय सुविधा प्राप्त हो सके, अच्छी खाद व उन्नत बीजों की किस्मों की व्यवस्था हो सके तथा सामूहिक मोलभाव का लाभ उठा सके।

वर्तमान समय में 7001 प्राथमिक सहकारी समितियाँ 160 जिला या क्षेत्रीय सहकारी समितियाँ, 25 राज्य सहकारी विपणन तथा एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ (National Agricultural Corporative Marketing Federation) कार्यरत है। जिसका उद्देश्य सहकारी समितियों के बीच समन्वय स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना है तथा आयात-निर्यात का भी कार्य करती है। और खाद्य निगम (Food Corporation) के लिए भी वस्तुएं खरीदती है।

8. **वित्त की व्यवस्था (Provision for Finance):** कृषि विपणन के सुधार हेतु वित्तीय सुविधाओं के विकास की बहुत अधिक आवश्यकता है। जिससे कि कृषक को महाजन व साहूकारों के चंगुल से बचाया जा सके वह अपनी उपज पूर्व निर्धारित मूल्य पर न बेचकर फसल आने पर मंडियों में बेच सके।

इस संबंध में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार किया गया है तथा जिन स्थानों पर भण्डार एवं भारतीय स्टेट बैंक हैं वहाँ पर भण्डार ग ह की रसीद देने पर बैंक से उधार देने की व्यवस्था की गई है परन्तु इस प्रकार के बैंकों की संख्या बहुत कम है।

9. **राज्य व्यापार (State Trading):** भारत में राज्य सरकार द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है, राज्य की एजेन्सियां जैसे FCI–भारतीय खाद्य निगम फसल तैयार होने पर ग्रामीण क्षेत्रों या मण्डियों के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करती हैं, जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उपज को खरीदा जाता है। भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारिता विपणन संघ-(NAFED) एक शीर्ष सहकारिता विपणन संगठन है जो कृषि से संबंधित कुछ चयनित वस्तुओं के आयात-निर्यात का कार्य करता है। यह संगठन आलू, प्याज, अंगूर, सन्तरे, सेब, मिर्च, अण्डे आदि की बाजार मध्यस्थता करता है।

10. **कृषि विपणन कर्मचारियों को प्रशिक्षण सुविधाएँ (Training Facilities to Marketing Personnel):** कृषि विपणन में बहुत सी कमियाँ तो कृषि विपणन कर्मचारियों की होती है अतः उनको प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। इसके लिए नागपुर, में मार्केटिंग विभाग व हैदराबाद व लखनऊ में नियमित बाजारों के प्रशिक्षण केन्द्र हैं जहाँ विपणन विभाग

के अधिकारियों, विपणन सचिवों एवं वर्गीकरण अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

11. **ग्रामीण यातायात का विकास (Development of Rural Transport):** पंचवर्षीय योजनाओं में सरकार ने गांवों को मण्डियों में मिलानेवाली सड़कों के निर्माण पाट की ओर ध्यान दिया है। इस दिशा में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का योगदान उल्लेखनीय रहा तथा छठी पंचवर्षीय योजना के तहत एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण सड़कों के विकास को महत्त्व दिया है।

12. **विशेष बोर्डों की स्थापना (Establishment of Specialised Boards):** भारत सरकार ने रबड़, काफी, चाय, तम्बाकू, गर्म मसाले, नारियल, तिलहन और वनस्पति तेल आदि के बारे में विशिष्ट-बोर्ड (Specialised Commodity Boards) स्थापित किए हैं। हाल ही के वर्षों में राष्ट्रीय दुग्धशाला विकास बोर्ड ने न केवल 'आप्रेशन फ्लड' में सहायता दी बल्कि यह तेल और अन्य कृषि वस्तुओं के विक्रय का भी कार्य कर रहा है।

भारत सरकार ने कुछ विशेष वस्तुओं जैसे चावल, दालें, पटसन, मोटे अनाज, तम्बाकू, रुई, तिलहन, गन्ना, सुपारी आदि के लिए बहुत सी विकास परिषदें भी कायम की है। भारत सरकार ने बहुत सी निर्यात प्रोन्नति परिषदें और कृषि एवं संसाधित खाद्य निर्यात विकास प्राधिकरण (Agricultural and Processed Fooe Export Development Authority) का भी निर्माण किया है।

अध्याय-16
भारत में खाद्य सुरक्षा
(Food Security in India)

भूमिका

प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था में खाद्यान्नों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वह आधार है जिस पर एक देश की अर्थव्यवस्था निर्भर करती है। बिना पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों की पूर्ति किए कोई भी देश अपना विकास नहीं कर सकता। अतः इस बात की आवश्यकता है कि जनता को उचित मूल्यों पर पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध कराए जाएं।

सामान्यतः खाद्य सुरक्षा की धारणा, देश की सारी जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों की न्यूनतम मात्रा उपलब्ध कराने के रूप में की जाती है। खाद्य एवं क षि संगठन (F.A.O) ने खाद्य सुरक्षा को ''सभी व्यक्तियों को सही समय पर उनके लिए आवश्यक बुनियादी भोजन के लिए भौतिक एवं आर्थिक दोनों रुप में उपलब्धता के आश्वासन के रूप में परिभाषित किया है''। इसी प्रकार विश्व विकास रिपोर्ट के अनुसार ''सभी व्यक्तियों के लिए सभी समय पर एक सक्रिय, स्वस्थ जीवन के लिए पर्याप्त भोजन की उपलब्धता को खाद्य सुरक्षा कहा जा सकता है।

एक गतिशील एवं विकासशील अर्थव्यवस्था में समाज द्वारा प्राप्त विकास की अवस्था में परिवर्तन के साथ खाद्य सुरक्षा की धारणा भी बदलती रहती है। किसी देश अथवा समाज के आर्थिक विकास की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के परिपेक्ष में खाद्य सुरक्षा की निम्नलिखित अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है।

प्रथम अवस्था में मानव जीवन को कायम रखने के लिए सभी को अनाज की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध होनी चाहिए।

दूसरी अवस्था में खाद्य सुरक्षा की द ष्टि से अनाजों एवं दालों की पर्याप्त उपलब्धि आवश्यक होनी चाहिए।

तीसरी अवस्था में खाद्य सुरक्षा के अंतर्गत अनाज, दालों, दूध एवं दूध उत्पादों को शामिल किया जा सकता है।

चौथी अवस्था में खाद्य सुरक्षा के अंतर्गत अनाज, दालों, दूध एवं दूध के उत्पाद, फल एवं सब्जियाँ, मछली और अण्डे को शामिल किया जा सकता है।

भारत में खाद्य समस्या के विभिन्न पहलू या स्वरूप

भारत में खाद्य उत्पादन पिछले चार दशकों के प्रयासों के फलस्वरूप लगभग चार गुना बढ़ गया है, अतः खाद्य समस्या की गंभीरता में कमी आई है। परंतु यदा-कदा प्राक तिक प्रकोपों

या सूखे की समस्या के कारण खाद्यान्न की कमी महसूस होती है। फलस्वरूप खाद्यान्न को आयात करना पड़ता है लेकिन फिर भी खाद्य समस्या विभिन्न पहलूओं या स्वरूपों में विद्यमान है जो कि निम्नलिखित हैं-

1. **खाद्य समस्या का परिमाणात्मक स्वरूपः** यदि खाद्यान्नों के उत्पादन की मात्रा की तुलना जनसंख्या से की जाए तो, निष्कर्ष यह निकलता है कि देश में खाद्यान्न की पूर्ति आवश्यकता से कम हो रही है और प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। 1951 में खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति प्रतिदिन उपलब्धता 395 ग्राम थी जो 2001 में बढ़कर 414 ग्राम हो गई।

2. **खाद्य समस्या का गुणात्मक स्वरूपः** इसका अर्थ यह है कि जनसाधारण को खाद्यान्न कम मात्रा में ही नहीं मिलते बल्कि कम गुणवाले भी मिलते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार संतुलित भोजन के प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन 3000 कैलोरिज़ मिलनी चाहिए परंतु भारत में जो भोजन सामान्य रूप में मिलता है उसमें 2000 कैलोरिज़ ही पाई जाती है। डॉ० सुखात्से के अनुसार- ''भारतीय नागरिकों को जितने पौष्टिक तत्व मिलने चाहिए उनकी अपेक्षा उन्हें कम ही मिलते हैं। प्रोटीन का 85%, लोहे का 70%, चिकनाई का 30% व विटामिन ए का 15% एवं विटामिन सी व डी का तो नगण्य अनुपात ही मिल पाता है। आवश्यक तत्त्व वाले पदार्थ न मिलने के कारण (i) निर्धनता या आय का कम होना, (ii) धार्मिक कारणों से मांस मछली व अण्डों का प्रयोग न करना, (iii) तत्त्व वाले पदार्थों जैसे दूध, घी, मक्खन, फल, सब्जी आदि के भाव अधिक रहना है।

3. **खाद्य समस्या का वितरणात्मक स्वरूपः** इसका अर्थ है कि खाद्य पदार्थों की कमी वितरण व्यवस्था उचित न होने के कारण होती है। डॉ० के० एन० राज के अनुसार- ''देश में अनाज की वास्तविक कमी नहीं है बल्कि सरकार की अदूरदर्शिता तथा प्रशासन अव्यवस्था के कारण अभाव प्रतीत होता है।'' कभी-कभी स्वार्थी तत्त्वों द्वारा भी खाद्यान्नों का संचयकर क त्रिम कमी उत्पन्न कर दी जाती है।

4. **खाद्यान्नों का आर्थिक स्वरूपः** देश में प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है अतः जनता की क्रयशक्ति भी कम है परिणामस्वरूप लोग खाद्यान्नों का क्रय नहीं कर पाते हैं और क्रय शक्ति का अभाव खाद्यान्नों का अकाल-सा पैदा कर देता है। दूसरी तरफ इनकी कमी खाद्यान्नों के आयात करने का दबाव डालती है। जिससे पूँजीगत वस्तुओं के आयात पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है और उनके आयात करने में देरी होती है।

खाद्य समस्या के कारण
(Causes of Food Problems)

भारत में खाद्य समस्या के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

1. **जनसंख्या में व द्धिः** इस समस्या का मुख्य कारण जनसंख्या की व द्धि है। पिछले चार दशकों में जनसंख्या में 90% की व द्धि हुई जिसके अनुसार जनसंख्या की व द्धि दर 2.5% प्रतिवर्ष के लगभग होती है जबकि खाद्यान्नों का उत्पादन भी इस अवधि में बढ़ा है लेकिन उसमें उच्चावचन चलते रहते हैं। भारत में लगभग एक करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष बढ़ जाते हैं।

2. **प्राक तिक विपदाएँ:** इन प्राक तिक विपदाओं में प्रतिकूल मौसम के कारण वर्षा का न होना या कम होना या सूखा पड़ जाना प्रमुख है।

3. **फसलों की क्षतिः** यह क्षति कीड़े-मकोड़ों, टिड्डियों, बन्दरों व चूहों के द्वारा की जाती है। राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद (NCAER) के अनुसार इन कीड़े मकोड़ों के द्वारा कुल खाद्यान्नों का 15% उत्पादन नष्ट कर लिया जाता है। अकेले चूहे ही कुल उत्पादन का 85% भाग नष्ट कर देते हैं।

4. **उपभोग प्रव ति में परिवर्तनः** पिछले चार दशकों में जनसाधारण की आय में व द्धि होने के कारण उसकी उपभोग रचना में परिवर्तन हो गया है जिसके फलस्वरूप अब मोटे अनाजों- मक्का, बाजरा, जौ आदि की माँग कम हो गई है व गेहूँ और चावल की मांग बढ़ गई है। फलस्वरूप देश में इनका आभाव-सा उत्पन्न हो जाता है। (यद्यपि गेहूं व चावल के उत्पादन में काफी व द्धि हुई है।)

5. **खाद्यान्नों का उचित संग्रहः** व्यापारियों व सटोरियों द्वारा खाद्यान्नों का संग्रह इस उद्देश्य से किया जाता है कि वे भविष्य में बढ़े हुए मूल्य पर बेच सकें। अतः वे खाद्यान्नों की पूर्ति अनुचित रूप से रोककर क त्रिम कमी पैदा कर देते हैं। आजकल तो क षक भी सम्पन्न होने के कारण खाद्यान्नों को रोक रखने की क्षमता रखते हैं। परिणामस्वरूप दोनों कारणों से खाद्यान्नों की क त्रिम कमी पैदा हो जाती है।

6. **प्रति हेक्टेयर कम उत्पादकताः** भारत में प्रति हेक्टेयर उत्पादन अन्य विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है। जिसके कारण भी खाद्यान्नों की कमी दिखाई देती है। जैसे जापान का औसत उत्पादन चार गुना अधिक है।

7. **जन साधारण की निर्धनताः** देश की लगभग 26% जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रही है। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति औसत आय बहुत ही कम है। जब कभी खाद्यान्नों के मूल्य बढ़ जाते हैं ये औसत व्यक्ति उन बढ़े हुए मूल्यों पर खाद्यान्नों को खरीदने में असमर्थ दिखाई देता है। परिणाम यह होता है कि उसके खाद्यान्नों की कमी दिखाई देने लगती है जबकि वास्तविकता में खाद्यान्नों की कमी नहीं होती।

8. **क षि का पिछड़ापनः** भारतीय क षि अभी भी पिछड़ी हुई है क्योंकि उन्नत बीज, आधुनिक मशीनों एवं उपकरणों का प्रयोग कम होता है तथा खेती पुराने तरीकों से की जाती है। इसके अतिरिक्त किसानों को पर्याप्त व उचित मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ भी नहीं मिल पातीं। अतः 62% क्षेत्र मानसून पर निर्भर है जो सदैव ही अनिश्चित है। अतः खाद्य समस्या बनी हुई है।

9. **कम सिंचाई सुविधाएँ:** वर्तमान में सिंचित क्षेत्र केवल 38% है अतः 62% क्षेत्र मानसून पर निर्भर है जो सदैव ही अनिश्चित है अतः खाद्य समस्या बनी हुई है।

10. **व्यापारिक क षि का विकासः** देश में यद्यपि खाद्यान्न फसलों का क्षेत्र बढ़ रहा है परंतु व्यापारिक फसलों का भी विकास हो रहा है। अतः खाद्यान्नों का उतना उत्पादन नहीं हो पाता जितना होना चाहिए।

11. **प्रभावी खाद्य नीति का अभावः** देश में अभी भी प्रभावी खाद्य नीति का अभाव है। खाद्यान्नों की कमी के समय सरकार द्वारा कुछ कदम उठाए जाते हैं लेकिन जब समस्या समाप्त हो जाती है तो उन कदमों में ढील दे दी जाती है। अतः इस प्रभावी

नीति के अभाव में खाद्य उत्पादन स्थिर रहता है। परिणामस्वरूप खाद्य समस्या बनी रहती है।

खाद्य समस्या को हल करने के सुझाव
(Suggestions for the Solutions of Food Problem)

वास्तव में देखा जाए तो भारत में खाद्य समस्या एक प्रकार से हल सी हो गई है और अब खाद्यान्नों की कोई कमी नहीं दिखाई देती। लेकिन फिर भी इस स्थिति को सुद ढ़ बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. **खाद्यान्न उत्पादन में व द्धिः** खाद्य समस्या को हल करने के लिए सुझाव दिया जाता है कि खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाया जाए, इसके लिए (i) वैज्ञानिक खेती की जानी चाहिए, जिसके लिए उन्नत बीज, उचित मात्रा में रासायनिक खाद का प्रयोग, पर्याप्त मात्रा में सिंचाई सुविधाएँ मिलनी चाहिए, (ii) गहन खेती को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, (iii) भूमि व्यवस्था संबंधी कानूनों को उचित प्रकार से क्रियान्वित करके काश्तकार को स्वामित्व दिलाकर उसको प्रेरित किया जाना चाहिए, कि वे उस भूमि को पूरा-पूरा प्रयोग करे, (iv) क षि विकास के लिए वित्तीय साधनो संस्थाओं का भी प्रबंध किया जाना चाहिए, जो ऋण सुविधाएँ दे सके।

2. **फसलों की रक्षाः** फसलों की रक्षा दो प्रकार से की जानी चाहिए (i) जबकि फसल खेत में खड़ी है और उनको नुकसान रोगों, कीटाणुओं व टिड्डियों आदि से होने की संभावना हो (ii) दूसरे जबकि फसल कट गई है लेकिन भविष्य में उपभोग करने के लिए रख ली गई है और इस फसल को कीटाणुओं, चूहों आदि से बचाना है। इन दोनों के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए।

3. **खाद्यान्नों में मूल्य स्थिरताः** खाद्यान्नों के मूल्यों में उच्चावचन कम से कम होना चाहिए अर्थात् मूल्य स्थिर रहने चाहिए। इसके लिए खाद्यान्नों पर साख नियंत्रण कड़ा होना चाहिए तथा खाद्यान्नों को रखने की मात्रा की सीमा होनी चाहिए जिससे कि खाद्यान्नों का अत्यधिक जमाव न हो।

4. **वितरण प्रणाली में सुधारः** वितरण प्रणाली में सुधार इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि खाद्यान्न पूरे वर्ष भर निश्चित मूल्य पर मिलते रहें। इस संबंध में उचित मूल्यों की दुकानों की संख्या में भारी व द्धि की आवश्यकता है और साथ ही कुशल एवं इमानदार कर्मचारियों की।

5. **वसूली कार्यक्रमः** वसूली कार्यक्रम आकर्षक बनाया जाना चाहिए जिसके लिए उत्पादक को उचित मूल्य दिया जाना चाहिए।

6. **जनसंख्या पर नियंत्रणः** जनसंख्या की व द्धि पर नियंत्रण लगाया जाना चाहिए जिससे कि जनसंख्या तीव्र गति से न बढ़ सके। इसके लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम लागू किया जाना चाहिए तथा पर्याप्त मात्रा में प्रचार किया जाना चाहिए।

7. **क षि प्रशासन में सुधारः** खाद्य समस्या के हल के लिए क षि प्रशासन में सुधार किया जाना चाहिए। क षि अनुसंधान की जानकारी किसानों को दी जानी चाहिए तथा उन्हें फसल नियोजन के बारे में सूचना दी जानी चाहिए।

8. **राष्ट्रीय खाद्य बजटः** देश में राष्ट्रीय खाद्य बजट बनाया जाना चाहिए जिससे कि

खाद्यान्न उत्पादन, उनके मूल्य एवं वितरण में नियोजित कर उचित प्रकार से लागू किया जा सके।

9. **उपभोक्ता प्रव त्ति में परिवर्तनः** उपभोक्ता की आदतों में समुचित परिवर्तन करने से भी खाद्य समस्या को सुलझाने में सहायता मिल सकती है। अन्न के स्थान पर फल, मांस, मछली, एवं अण्डों आदि का उपभोग बढ़ाया जाना चाहिए।

10. **जमाखोरी पर प्रभावी कदमः** सरकार के खाद्यान्न समस्या को हल करने हेतु जमाखोरी पर प्रभावी कदम उठाने चाहिए। जमाखोरों को आर्थिक दण्ड व सजा दी जानी चाहिए। जिससे कि जमाखोरी हतोत्साहित हो सके और खाद्यान्नों की उपलब्धता बनी रहे।

खाद्य समस्या को सुलझाने के लिए सरकारी प्रयास
(Government Efforts to Solve Food Problem)

स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय सरकार खाद्यान्नों के प्रति गंभीर नहीं थी। परंतु इसके बाद भारत में सरकार द्वारा समय-समय पर खाद्य समस्या को हल करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। इन्हीं प्रयत्नों को सरकार की खाद्य नीति कहते हैं। यह प्रयत्न निम्नलिखित हैं-

1. **खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ावाः** भारत में योजनाओं को बनाने व उनको लागू करने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि क षि उत्पादनों को बढ़ानेवाली योजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए। अतः उत्पादन बढ़ाने के लिए (i) सिंचाई सुविधाओं में व द्धि की गई है, (ii) सघन कार्यक्रम अपनाए गए हैं, (iii) बहु-फसली कार्यक्रम पर जोर दिया गया है, (iv) अधिक उत्पादन देनेवाली किस्मों को उगाने पर विशेष ध्यान दिया गया है, (v) अच्छे बीजों की व्यवस्था के लिए बीज निगम व बड़े-बड़े फार्मों की व्यवस्था की गई है, (vi) क त्रिम उवर्रकों के उत्पादन में व द्धि की गई है, (vii) टिड्डियों को नष्ट करने के लिए विशेष विभाग की स्थापना की गई है, इन सभी प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि 1950-51 में खाद्यान्नों का जो उत्पादन 5.90 करोड़ टन था, वह बढ़कर 2001-2002 में 21.20 करोड़ टन हो गया है।

2. **जनसंख्या व द्धि पर नियंत्रणः** सरकार ने जनसंख्या व द्धि पर नियंत्रण करने के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम लागू किए हैं, जिनका लक्ष्य जन्मदर को कम करना है जिससे कि वार्षिक व द्धि दर को घटाकर 1.7% वार्षिक किया जा सके, इससे खाद्यान्नों पर दबाव कम हो सकेगा।

3. **खाद्यान्नों का आयातः** खाद्यान्नों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न देशों में से खाद्यान्नों का आयात किया है।

4. **अन्न बचाओ आंदोलनः** सरकार द्वारा अन्न बचाओ आंदोलन प्रारंभ किया गया जिसके अंतर्गत क षकों को इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि वे वैज्ञानिक ढंग से खाद्यान्नों को किस प्रकार अपने पास भण्डारों में रख सकते हैं जिससे कि वे खराब न हो। साथ ही सरकार ने केंद्रीय व राजकीय भण्डार ग हों की स्थापना की है जहाँ क षक या व्यापारी अपने खाद्यान्नों को बेचने के लिए रख सकते हैं। इन भण्डारों व गोदामों में कीड़ों व घुन से खाद्यान्नों को बचाने के लिए दवाएँ छिड़की जाती हैं।

5. **सरकार द्वारा खाद्यान्नों की वसूलीः** संकट के समय खाद्यान्नों का उचित वितरण करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा खाद्यान्नो को क्रय किया जाता है जिसके सरकार द्वारा

खाद्यान्नों की वसूली कहते हैं। यह वसूली (i) स्वयं सरकार द्वारा (ii) प्रान्तीय सरकार द्वारा (iii) सहकारी समितियों द्वारा व (iv) खाद्य निगम द्वारा की जाती है तथा वसूली मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। यह वसूली कभी ऐच्छिक व अनिवार्य दोनों ही हो सकती है। ऐच्छिक वसूली में क षक या उत्पादक की इच्छा पर ही वसूली की जाती है जबकि अनिवार्य वसूली आवश्यक रूप से की जाती है और जो वसूली में रूकावट पैदा करते हैं या वसूली के लिए खाद्यान्न प्रस्तुत नहीं करते हैं, उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सजा या जुर्माना या दोनों की व्यवस्था की जाती है।

1951 में 38 लाख टन, तथा 1995 में 225 लाख टन खाद्यान्नों की सरकार खरीद की गई।

6. **सुरक्षित भण्डार:** खाद्यान्न की पूर्ति निरंतर बनाए रखने तथा मूल्यों में उच्चावचन रोकने के लिए सुरक्षित भण्डार की नीति अपनाई गई जिसके अंतर्गत खाद्यान्नों की एक बड़ी मात्रा सदा ही सरकार के पास रहती है। जनवरी 2003 तक केंद्रीय व राज्य सरकारों के पास 288 लाख टन गेहूँ तथा 194 लाख टन चावल का स्टॉक था। इसी तरह जनवरी 2003 तक भारतीय खाद्य निगम के पास 482 लाख टन गेहूँ और चावल का स्टॉक था।

7. **मूल्य नियामक नीति:** क षकों को प्रेरणा देने के लिए एक मूल्य नियामक नीति (Price Support Policy) अपनाई गई ताकि गाँवो से शहरों तक खाद्यान्नों का प्रवाह बना रहे। जनवरी 1965 में स्थापित क षि मूल्य आयोग क षि पदार्थों विशेषकर गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, चना व अन्य दालों, गन्ना, तिलहन, कपास, जूट के लिए कीमत नीति के संबंध में सलाह देता है। पिछले कुछ वर्षों से प्रमुख खाद्यान्नों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य का निर्धारण सरकारी क षि नीति का एक आवश्यक अंग बना हुआ है। ये कीमतें क षकों को इस बात की गारंटी प्रदान करती हैं कि उनके उत्पादन के मूल्य को एक सीमा से नीचे नहीं गिरने दिया जाएगा। इसका उद्देश्य क षकों को अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देना है।

8. **सरकार द्वारा वितरण:** खाद्यान्नों की उचित वितरण व्यवस्था करने के लिए राशनिंग की व्यवस्था की गई है जिसके अंतर्गत सरकार द्वारा नियुक्त दुकानों पर खाद्यान्नों की बिक्री निर्धारित मूल्यों पर राशन कार्डों के माध्यम से की जाती है। इस समय ऐसी दुकानों की संख्या 4.61 लाख है।

9. **विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना:** खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने, उनमें विकास करने तथा उचित वितरण व्यवस्था करने के उद्देश्य से सरकार ने विभिन्न विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की नीति अपनाई है जिसके अंतर्गत सुधारे हुए बीज उपलब्ध कराने के लिए 1963 में राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporation) की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त इस समय देश में 4 हज़ार क षि फार्म है, जो उन्नत बीजों का उत्पादन करते हैं।

सरकार की वर्तमान नीति
(Present Foods Policy of the Government)

1. **खाद्यान्नों के आयात:** सरकार भी वर्तमान खाद्य नीति खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर बनकर शीघ्रातिशीघ्र उनके आयात को बंद कर देने की है।

2. **खाद्यान्न उत्पादन को प्रोत्साहनः** सरकार की वर्तमान नीति यह है कि खाद्यान्नों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाए जिससे कि उत्पादन बढ़े। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर खादों के मूल्य कम किए हैं, बिजली की उचित व्यवस्था की जा रही है तथा अच्छे बीजों को भी उपलब्ध कराया जा रहा है।

3. **सरकार द्वारा खाद्यान्नों की वसूलीः** सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को चालू रखने एवं सुरक्षित भण्डारों को बनाए रखने के उद्देश्य से खाद्यान्नों की वसूली करने की सरकार की नीति है। यह वसूली निर्धारित मूल्य पर की जाती है।

4. **खाद्यान्नों का सार्वजनिक वितरणः** खाद्यान्नों का सार्वजनिक वितरण करना एवं सुद ढ़ करने की नीति है जिससे खाद्यान्नों के मूल्यों में उच्चावचन कम से कम हो तथा उपभोक्ता को खाद्यान्न उचित मूल्य पर पूरे वर्ष भर मिलते रहें।

5. **सम्पूर्ण देश को एक क्षेत्र माननाः** सरकार की नीति खाद्यान्नों के आवागमन पर क्षेत्रीय प्रतिबंध न लगाने की है। इसी का परिणाम है कि गेहूं व चावल पर क्षेत्रीय नियंत्रण हटा लिए हैं।

6. **जनसंख्या व द्धि पर नियंत्रणः** प्रति व्यक्ति खाद्यान्न कम ही उपलब्ध होते हैं अतः सरकार की नीति जनसंख्या की व द्धि पर नियंत्रण लगाकर खाद्यान्न उपलब्धता को बढ़ाना है।

भारत में खाद्य सुरक्षा - सार्वजनिक वितरण प्रणाली

सरकार की खाद्य नीति की सफलता, सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सफलता पर निर्भर करती है। भारत की सार्वजनिक वितरण प्रणाली संसार में अपने ही प्रकार की सबसे बड़ी वितरण प्रणाली है।

उद्देश्यः-

भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ताओं को सस्ती कीमत पर आवश्यक उपभोग वस्तुएँ उपलब्ध कराना है ताकि उन्हें इनकी बढ़ती हुई कीमतों के प्रभाव से बचाया जा सके तथा जनसंख्या को न्यूनतम उपभोग स्तर प्राप्त करने में सहायता दी जा सके।

इस प्रणाली को चलाने के लिए सरकार व्यापारियों (मिलों) तथा उत्पादकों से वसूली कीमतों पर वस्तुएं खरीदती है। इस प्रकार जो खरीद की जाती है उसका वितरण उचित दर दुकानों और राशन की दुकानों के माध्यम से किया जाता है। कुछ वसूली प्रतिरोधक भण्डारों के निर्माण के लिए रख ली जाती है। इस प्रणाली में संपूर्ण जनसंख्या को शामिल किया गया है अर्थात् इसे वर्ग विशेष तक सीमित नहीं रखा गया है।

भारत में वितरण प्रणाली के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. **विकास के लिएः** प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही इस बात को स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया था कि खाद्य नीति, जो शहरी एवं अति अभावग्रस्त क्षेत्रों की ज़रूरतों को पूरा कर सके, विकास के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। क्योंकि निवेश-व द्धि से जहाँ मुद्रा-आय में तेज़ी से व द्धि होती है वहाँ उपभोग वस्तुओं की उपलब्धि धीमी गति से बढ़ती है। उपभोग वस्तुओं के अभाव में कीमतों में व द्धि होने की संभावना

बढ़ेगी। इससे गरीब लोगों की वास्तविक आय घटेगी। स्थिर आय पानेवाले व्यक्तियों पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार अभावग्रस्त क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों की स्थिति और भी खराब होगी। अतः इस द ष्टि से शहरी और अभावग्रस्त इलाकों के लिए राशन-प्रणाली का प्रबंध विकासमूलक नीति का एक आवश्यक अंग ठहरता है।

2. **निर्धनता विरोधी उपायः** गरीबों की सुरक्षा के एक साधन के रूप में उनके लिए सहायिकीक त दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना विशेष महत्त्व रखता है। यह अवस्था मुद्रास्फीति से उनकी रक्षा करती है जो देश की अर्थव्यवस्था भी एक स्थायी विशेषता बन गई है। इसके अतिरिक्त, इस काम में निर्धन व्यक्तियों के लिए एक निश्चित निर्वाह-स्तर सुरक्षित करती है। रोजगार-स जन की विभिन्न स्कीमों के साथ जोड़कर सार्वजनिक वितरण प्रणाली श्रमिकों की इकाई को बढ़ाने में बहुत लाभकारी हो सकती है।

वर्तमान स्थितिः-काफी लंबे समय से देश में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सहारा लिया जाता रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसके विस्तार को शहरी इलाकों और अनाज के भारी कमी वाले क्षेत्रों तक सीमित रखा गया। छठी योजना के दौरान, विशेषकर सातवीं योजना के समय से इसे अन्य क्षेत्रों तक फैलाया जाने लगा। इधर कुछ समय से ग्रामीण इलाको से विस्तार पर जोर दिया जा रहा है। खाद्यान्नों के अलावा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रयोग खाद्य तेलों (edible oils), चीनी, कोयला, मिट्टी का तेल तथा कपड़े के वितरण के लिए भी किया जाता है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लाभ का माध्यम राशन कार्ड होता है जिनमें निश्चित घरेलू पता होता है।

दुकानों की संख्या 1960 के अन्त तक 0.47 लाख थी जो 1999 में 4.52 लाख तक पहुँच गई औसतन एक दुकान 20,000 लोगों के लिए है। 1994-95 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से केवल 48.3 लाख टन गेहूं और 80.3 लाख टन चावल का वितरण किया गया। 1998-99 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से 79.50 लाख टन गेहूं और 107.40 लाख टन चावल का वितरण किया गया।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा जो खाद्यान्न वितरित किया जाता है वह कुल उत्पादन मात्रा का लगभग 10 प्रतिशत बैठता है।

खाद्यान्नों में सरकारी हस्तक्षेप तथा भारतीय खाद्य निगम

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को खाद्यान्न उपलब्ध कराने का काम मुख्य रूप से भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India) द्वारा किया जाता है। 1965 में स्थापित भारतीय खाद्य निगम व अन्य खाद्य सामग्री की खरीददारी, भण्डारण व संग्रहण स्थानातंरण, वितरण व बिक्री का कम करना है। निगम एक ओर तो यह निश्चित करता है कि किसानों को अनके उत्पादन की उचित कीमत मिले (जो सरकार द्वारा निर्धारित वसूली, समर्थन, कीमत से कम न हो) तथा दूसरी और यह निश्चित करता है कि उपभोक्ताओं के लिए भण्डार से एक-सी कीमतों पर खाद्यान्न उपलब्ध हो (उपभोक्ताओं के लिए निर्धारित कीमत 'निर्गमन कीमत' या Issue Price कहलाती है जिसका निर्धारण भारत सरकार द्वारा किया जाता है)। निगम को यह भी जिम्मेदारी सौंपी गई है कि वह सरकार से खाद्यान्नों के प्रतिरोधक भण्डार (Butter Stock) बना कर रखे।

भारतीय खाद्य निगम की मुख्य उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं-

1. जबसे FCI ने वसूली का काम संभाला है, वसूली के स्तर में काफी व द्धि हुई है जिससे सरकार को उचित मात्रा में प्रतिरोधक भण्डार बनाने तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की माँग को पूरा करने के लिए उचित मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध कराने में आसानी हुई है।

2. FCI द्वारा देश के किसानों से ही अधिक वसूली कर लेने के कारण खाद्यान्नों के आयात की आवश्यकता कम हुई है जिससे बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की बचत हो सकी है।

3. पूर्व-घोषित कीमतों पर उत्पादन खरीदने के कारण FCI किसानों को लाभकारी कीमतें उपलब्ध कराने में सफल रहा है।

4. ''उचित'' मूल्यों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराकर FCI ने गरीब वर्गों की खाद्यान्नों आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग किया है।

5. FCI ने देश में वैज्ञानिक भण्डारण व्यवस्था के निर्माण में सहायता की है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कमियाँ

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली अनेक गरीब परिवारों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई है (विशेषतौर से पिछड़े इलाकों में)। फिर भी इसमें कुछ गंभीर कमियाँ मौजूद हैं।

1. **अनेक अपर्याप्ताएं:** देश की जरूरतों के द ष्टिकोण से सार्वजनिक वितरण प्रणाली अपर्याप्त ठहरती है। अपने लंबे इतिहास के बावजूद, अभी तक इस प्रणाली का विस्तार उन सब क्षेत्रों तक नहीं हो पाया है जहाँ गरीब जैसे पिछड़े वर्ग के लोग बसे हुए हैं। कुशल संचालन की द ष्टि से इस प्रणाली का आधारिक ढाँचा भली प्रकार से संगठित नहीं है। भण्डारण-सुविधाएँ, वितरण-तंत्र आदि अकुशल होने के साथ बहुत अपर्याप्त भी है। यह कमी बिहार और उड़ीसा जैसे राज्यों में बहुत अधिक है। इसके फलस्वरूप कई राज्य केंद्र द्वारा निर्धारित कोटा उठाने में भी अपने को असमर्थ पाते हैं। कभी-कभी यह कमी विशेष रूप से बहुत अधिक रही है। गरीब परिवारों पर इसका बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि ये खाद्यान्न जुटाने के लिए वितरण-प्रणाली पर ही निर्भर रहते हैं। उचित दर दुकानों की स्थिति भी बहुत असंतोषजनक ठहरती है। वितरण के लिए जो स्टॉक इन दुकानों के पास होता है वह अपर्याप्त, अनियमित और प्रायः निम्न कोटि का होता है और फिर लोगों के लिए आवश्यक अनेक वस्तुएँ इन दुकानों से उपलब्ध नहीं हो पाती।

2. **भारी विषमताएँ:** विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के बीच खाद्यान्न के वितरण की द ष्टि से सार्वजनिक वितरण प्रणाली बहुत विषमतापूर्ण और अनियमित ठहरती है। उदाहरण के लिए, किसी राज्य में गरीबी के विस्तार और इस प्रणाली द्वारा आपूर्ति की मात्रा के बीच कोई संबंध नहीं है। उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उड़ीसा के निर्धनतम राज्यों में लगभग 52% प्रतिशत देश की जनसंख्या बसी हुई है, और देश की गरीब जनता का अनुपात तो यहाँ और भी अधिक है। लेकिन खाद्यान्न के केंद्रीय आवंटन में इनको मिलनेवाला भाग केवल 20% प्रतिशत के लगभग ही है। इसी प्रकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली का इस तरह विकास हुआ है कि इसके क्षेत्रगत रुपान्तरणों का विभिन्न राज्यों का खाद्यान्नों की कमी या ज़रूरतों के साथ कोई तालमेल नहीं

है। एक अध्ययन से पता चलता है कि सामान्यतः अधिक शहरी आबादी वाले राज्यों को खाद्यान्न के वितरण में अधिक भाग मिलता है। इस प्रकार प्रादेशिक विषमताएँ आज तक बनी हुई हैं। पिछले तीन-चार वर्षों से विषमताएँ अवश्य कुछ घटने लगी हैं।

सुधार के लिए सुझावः-

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कमियों को दूर करने के एवं देश की गरीब जनता के लिए इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए इसका पुनर्गठन किया जाना आवश्यक है। इस संबंध में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. **क्षेत्र का विस्तारः** सार्वजनिक वितरण प्रणाली के पुनर्गठन के लिए सबसे पहले महत्त्वपूर्ण उपाय इसके क्षेत्र को विस्त त किया जाना है ताकि इसकी परिधि में देश के सभी इलाकों के सब गरीब लोग लाए जा सकें। वास्तव में इस प्रणाली का केंद्रीय उद्देश्य केवल गरीब नहीं है, उन्हें इस प्रणाली के बाहर रखा जाए। यह विशेषता प्रणाली में अन्तर्निहित होनी चाहिए जिससे कि यह धनी व्यक्तियों या शहरी इलाको की ओर उन्मुख न रहे। साथ ही इस प्रणाली में उन सभी वस्तुओं का समावेश रहना चाहिए, जो गरीब लोगों के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक ठहरती है। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों के संदर्भ में आधारिक संरचना का विस्तार जरूरी है। तभी प्रणाली का कुशल संचालन संभव हो सकेगा। स्पष्टतः आवंटित वस्तुओं की मात्रा और सहायिकी पर व्यय-राशि, दोनों में तेजी से बढ़ोत्तरी होगी।

2. **कुशल सार्वजनिक वितरण प्रणाली का प्रबंधः** चूँकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली गरीबों को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने एवं आवश्यक वस्तुओं के न्यायसंगत वितरण की रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी अंग है, इसलिए इस तंत्र को कुशल बनाना ज़रूरी है। इसका आशय इस बात से है कि न्यूनतम सामाजिक लागत पर यह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सके। इसके लिए हमें संघटित द ष्टिकोण या पद्धति अपनानी होगी, न कि आँशिक द ष्टिकोण जो कि अभी तक अपनाते आए हैं। संघटित द ष्टिकोण के लिए चयनित वस्तुओं के उत्पादन-वसूली, परिवहन, भण्डारण और वितरण के बीच अंतर्बन्धन होना जरूरी है। इससे जन-वितरण प्रणाली की प्रभावकारिता सुनिश्चित हो जाएगी। इस योजना के लिए सारे देश में, विशेष रूप से, पिछड़े हुए व दूर-दराज के इलाकों में आधारिक संरचना को शक्तिशाली बनाना आवश्यक है।

   इस प्रणाली की क्रिया विधि में भी सुधार लाया जाना आवश्यक है, ताकि लागत कम आए। इसका कार्य-संचालन ऐसा हो, जिससे बफर स्टॉक की अपेक्षाक त कम जरूरत पड़े। इससे लागत में कमी आएगी। आठवीं योजना में इस बात पर जोर देते हुए ठीक ही कहा गया था ''कुशल वसूली एवं बाजार के हस्तक्षेप संबंधी क्रियाओं के द्वारा बफर स्टॉक की अपेक्षित मात्रा को घटाना संभव है। जिससे खाद्यान्न के परिवहन की लागत में कमी आएगी। वितरण तंत्र को उन्नतिशील बनाकर भी लागत कम की जा सकती है। इसी प्रकार खाद्यान्न के लाने-ले जाने में जो माल व्यर्थ जाता है अथवा जो हेरा-फेरी होती है, उसे रोककर तथा उचित दर दुकानों पर उचित नियंत्रण व निगरानी के द्वारा भी यह प्रणाली कम लागत पर अपनी भूमिका निभा सकती है।

3. **एक आदर्श मूलक प्रणालीः** उपर्युक्त दोनों प्रकार के सुधारों के समावेश से सार्वजनिक वितरण प्रणाली गरीबों के लिए बहुत सहायक बन जाएगी। लेकिन सर्वाधिक संतोषजनक

प्रणाली वह ठहरेगी जिसके सहारे गरीबों को ऐसी उपभोग वस्तुएँ सुलभ होती हैं। जिनसे उनका कल्याण सुनिश्चित होता है। वाँछित वस्तुओं के चयन के साथ-साथ हमें उनकी कीमतों पर अधिक ध्यान देना होगा। कीमत ऐसे स्तर पर निर्धारित करनी होगी जिससे कि वे गरीब लोगों के पहुँच के भीतर हो। ध्यान रहे कि गरीब लोगों की आयु बहुत ही थोड़ी होती है। उपभोग वस्तुओं में विविधता लाए जाने के बावजूद, खाद्यान्न की प्रमुखता बनी रहेगी। इन सब वस्तुओं की खरीद की मात्रा में तेजी से व द्धि होगी। स्पष्टतः आर्थिक सहायिकी की राशि में भारी व द्धि होगी।

अध्याय-17
क षि ऋण/साख
(Agricultural Credit)

भारत में ऋणग्रस्तता की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि क षि। यहाँ किसानों का ऋणग्रस्त होना एक सामान्य बात है। शाही क षि आयोग ने इस संबंध में अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि ''भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में पलता है और ऋण में ही मरता है''। इस तरह यहाँ क षक का ऋण पैत क संपत्ति के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता रहता है।

ग्रामीण ऋणों की एक यह विशेषता है कि ये उत्पादक कार्यों के साथ-साथ अनुत्पादक कार्यों के लिए भी लिए जाते हैं। एक सर्वे के अनुसार 1951 में ग्रामीण ऋणग्रस्तता में 44 प्रतिशत ऋण अनुत्पादक या भारत में 42.8 प्रतिशत किसान ऋणग्रस्त है। यदि किन्हीं कारणों से क षि की दशा खराब होती है तो इन ऋणों का भार और भी अधिक बढ़ जाता है। ऋणग्रस्तता के भारी बोझ के कारण किसान उन्नत उत्पादन विधियों का प्रयोग नहीं कर पाता, परिणाम-स्वरूप उत्पादन का स्तर निम्न रहता है अन्य शब्दों में, ऋणग्रस्तता ने ही भारतीय क षि को जर्जरित कर रखा है।

क षि साख से अभिप्राय
(Meaning of Agricultural Credit)

क षि वित्त एवं साख से तात्पर्य उस वित्त (साख) से होता है जिसका उपयोग क षि से संबंधित विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिए होता है। क षि वित्त की आवश्यकता सामान्यतः भूमि पर स्थायी सुधार करने, बीज, खाद, कीटनाशक, क षि यंत्र पर क्रय करने, सिंचाई की व्यवस्था करने, मालगुजारी देन, विपणन से सम्बद्ध कार्य अथवा क षि से संबंधित अन्य किसी कार्य के लिए हो सकती है।

कृषि वित्त या साख की आवश्यकता
(Need for Agricultural creditor Finance)

क षि वित्त या साख की आवश्यकता भारत में क षकों को विभिन्न उद्देश्यों एवं कालावधियों के लिए वित्त, साख या ऋण की आवश्यकता पड़ती है। क षि वित्त की आवश्यकता को उद्देश्यों को समयानुसार निम्नलिखित भागों में बाँटा जाता है–

1. **उत्पादन ऋण (Productive Loan):** वो ऋण जो कि क षि की विभिन्न क्रियाएँ जैसे-खाद, बीज, यंत्र खरीदने व लगवाने, सिंचाई, भूमि पर स्थायी सुधार करने तथा वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के हेतु लिए जाते हैं। इस तरह के ऋणों से उत्पादक और आय में व द्धि होती है।

2. **उपभोग ऋण (Consumption Loan):** ये ऋण फसल की बिजाई और बिक्री के बीच के समय क षि को अपने परिवार के उपभोग संबंधित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती है जिसे प्रायः फसल की बिक्री के बाद चुकता किया जाता है।

3. **अनुत्पादक ऋण (Unproductive Loan):** वो ऋण जो उत्पादक कार्यों में नहीं लगाए जाते बल्कि कुछ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं जैसे मुकदमा लड़ना, आभूषण खरीदना, विवाह, जन्म, म त्यु तथा अन्य सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाज के पालन के लिए, जिनका उत्पादन से संबंध नहीं होता और जिसमें उधार वापसी का प्रबंध स्वतः निहित नहीं होता।

4. **अल्पकालीन ऋण (Short-term Loan):** ये ऋण, सामान्यतः 15 माह की अवधि के लिए प्राप्त किए जाते हैं तथा फसल कटने के बाद चुका दिए जाते हैं। ये ऋण उत्पादन या उपभोग कार्यों के लिए प्राप्त किए जा सकते हैं।

5. **मध्यकालीन ऋण (Medium-term Loan):** इन ऋणों की अवधि 15 महीनों से लेकर 5 वर्ष तक की होती है। ये ऋण प्रायः भूमि पर सुधार करने, पशु एवं क षि यंत्र खरीदने, कुआँ खुदवाने आदि कार्यों हेतु लिए जाते हैं। इन ऋणों की मात्रा अधिक होती है तथा अधिक समय की अवधि के बाद चुकाए जाते हैं।

6. **दीर्घकालीन ऋण (Long-term Loan):** इन ऋणों की अवधि 5 वर्ष से अधिक तथा प्रायः 10 से 20 वर्ष तक की होती है। ये ऋण प्रायः भूमि खरीदने, पुराने ऋणों को चुकाने, महँगे क षि यंत्र (ट्रैक्टर) खरीदने तथा अन्य पूँजीगत व्यय हेतु लिए जाते हैं।

क षि ऋण साख के साधन
(Sources of Agricultural Credit)

भारत के क षि वित्त की अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने वाले स्त्रोतों को दो भागों में बाँटा जाता है–

1. **गैर-संस्थागत स्त्रोत (Non-Institutional Sources):** इनके अंतर्गत ग्रामीण साहूकार अपना महाजन, व्यापारी एवं कमीशन एजेंट, मित्र एवं संबंधी आदि को शामिल किया जाता है।

2. **संस्थागत स्त्रोत (Institutional Sources):** इसके अंतर्गत सरकार, सहकारी समितियाँ तथा बैंकों को सम्मिलित किया जाता है।

स्वतंत्रता के पश्चात ग्रामीण साख देनेवाले साधनों के तुलनात्मक महत्व में काफी परिवर्तन हुआ है सन् 1951 में लगभग 90 प्रतिशत क षि साख गैर-संस्थागत साधनों से और केवल 10 प्रतिशत क षि साख संस्थागत साधनों से प्राप्त होती थी। परंतु अब संस्थागत साख का योगदान 10 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया है। जबकि गैर संस्थागत साख का योगदान 90 प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत ही रह गया है। संस्थागत साख में क षि मुख्यरूप से सहकारी समितियों तथा राष्ट्रीय बैंकों के कारण ही संभव हो सकी है। क षि साख के मुख्य साधनों का विवरण निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है–

1. **महाजन या गैर-संस्थागत स्त्रोत (Money Lender or Non-Institutional Sources):** गैर-संस्थागत स्त्रोतों में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन साहूकार अथवा महाजन का है। ग्रामीण क्षेत्र में महाजन दो प्रकार के होते हैं।

(i) पेशेवर महाजन- इसमें वे व्यक्ति होते हैं जो मुख्य व्यवसाय के रूप में क षि करते हैं परंतु धनी होने के कारण क षि के साथ सहायक व्यवसाय के रूप में धन के उधार देने का भी काम करते हैं।

(ii) पेशेवर महाजन- वो व्यक्ति जिनका मुख्य व्यवसाय ही उधार देना होता है।

गैर-संस्थागत व्यवस्था की लोकप्रियता के कारण

1. ऋण देने की प्रक्रिया अति सरल तथा कम औपचारिकता पूरी कराते हैं।
2. इनसे संपर्क करना आसान होता है।
3. यह उत्पादन और उपभोग दोनों ही उद्देश्यों के लिए ऋण देते हैं।
4. यह अल्पाकालीन, मध्यकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।
5. यह बिना जमानत के ऋण प्रदान करते हैं।
6. यदि इनको समय पर ब्याज मिलता रहे, तो यह ऋण के मूलधन की वापसी पर जोर नहीं देते।

प्रमुख दोष/कमियाँ

1. ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है जो सामान्यतः 18 से 36 प्रतिशत तक होती है।
2. किसानों को ऋण देते समय ब्याज पहले ही काट लेते हैं।
3. किसानों से उनकी फसल सस्ते दामों पर ही खरीद लेते हैं
4. यह उत्पादक तथा गैर उत्पादक ऋणों को सहजता से प्रदान कर, क षकों में फिजूलखर्ची की आदत डाल देता है।

अतः जब तक देश में सहकारी साख आंदोलन का विस्तार नहीं हो जाता तब तक क षि वित्त व्यवस्था मे महाजनों का प्रभुत्व बना रहेगा। इन पर नियत्रंण करने के लिए समय-समय पर कई कानून बनाए गए तब ब्याज की अधिकतम सीमा निश्चित की गई है।

1. **व्यापारी एवं कमीशन एजेंटः** ये भी किसनों को उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करते हैं। यह साख कुछ विशिष्ट फसलें- तंबाकू, मूँगफली तथा फल आदि के लिए दिए जाते हैं। ये भी महाजनों की तरह शोषण की प्रक्रिया अपनाते हैं क्योंकि ये क षकों को कम मूल्यों पर फसल बेचने को बाध्य करते हैं तथा अधिक कमीशन वसूल करते हैं। 1950-51 में ग्रामीण साख में इनका हिस्सा 5.1% था जो 1990-1991 में घटकर 2.5 प्रतिशत ही रह गया।
2. **संस्थागत स्रोत (Institutional Sources):** क षि साख के संस्थागत साधन सहकारी संस्थाएँ, भूमि विकास बैंक, व्यापारिक बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक आदि है। क षि के लिए संस्थागत ऋण प्रवाह को निम्नलिखित तालिका से प्रदर्शित किया गया है–

तालिका - 1

क षि के संस्थागत ऋण प्रवाह का विवरण (करोड़ रुपये में)

संस्थाएं (लक्ष्य)	1998-99	1999-2000	2000-2001	2001-20022 0 0 2 - 2 0 0 3
सहकारी बैंक	15,957	18,363	20,784	27,080 35,111
अल्पकालीन	12,571	14,845	16,564	21,542 24,171
मध्यकालीन दीर्घकालीन	3,386	3,518	4,220	5,538 10,400
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	2,460	3,172	4,219	4,956 5,745
वाणिज्य बैंक	18,443	24,733	27,414	31,964 41,217

स्रोतः आर्थिक समीक्षा 2002-03 सारणी-8.13

1. **सहकारी संस्था (Cooperative Institutions):** ग्रामीण साख के संस्थागत स्त्रोतों में सहकारी संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसानों को ग्रामीण साहूकारों के शोषण से मुक्ति दिलाने तथा क षि कार्यकलापों के संचालन के लिए प्रयास और सस्ती ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराने के उद्देश्य से इनका सहकारी साख संस्थाओं का विकास किया गया। देश में इनका त्रिस्तरीय संगठन है- ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक सहकारी समितियां, जिला स्तर पर जिला सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक कार्य कर रहे हैं। ये सस्थाएं अल्पकालीन व मध्यमकालीन ऋण सुविधाएं प्रदान करती हैं।

2. **सहकारी समीतियाँ (Cooperative Societies):** सहकारी समीतियाँ कृषि साख एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है। ग्रामीण साख की लगभग 41 प्रतिशत आवश्यकता सहकारी समीतियों द्वारा ही पुरी की जाती है। 1950-51 में कुल कृषि ऋण में इनका योगदान केवल 3 प्रतिशत का सहकारी संगठन को ऋण की अवधि के अनुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है।

   (i) **क षि सहकारी साख समितियाँ (Agricultural Cooperative Credit Schemes):** पंचवर्षीय योजनाओं में इन समितियों ने काफी प्रगति की है। 1950-51 में इन समितियों के अंतर्गत केवल 9 प्रतिशत जनसंख्या है। इन समितियों के जिला स्तर पर केंद्रीय सहकारी बैंक (Central Cooperative Banks) तथा स्तर पर राज्य सहकारी बैंक (State Cooperative Banks) से सहायता प्राप्त होती है। वर्तमान समय में देश के कुल क षि ऋण वितरण में सहकारी बैंकों का हिस्सा 43 प्रतिशत है।

   (ii) **भूमि विकास बैंक या सहकारी क षि एवं ग्रामीण विकास बैंक (Land Development Banks or Cooperative Agricultural and Rural Development):** किसानों की दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भूमि विकास बैंकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है ये बैंक किसान को 15 से 20 वर्ष तक के लिए ट्रेक्टर, पम्प सैट, भूमि पर स्थायी सुधार कार्यों के लिए ऋण देते हैं। ये बैंक भूमि को बंधक बनाकर ऋण प्रदान करते है। इन बैंकों का नाम बदलकर अब प्राथमिक सहकारी क षि एवं ग्राम विकास बैंक कर दिया गया है। इन बैंको की

संख्या जो 1950-51 में 286 थी, अब बढ़कर 2000-01 में 732 हो गई जबकि राज्य सहकारी क षि एवं ग्राम विकास बैंको की संख्या इसी अवधि में 5 से बढ़कर 20 तक पहुंच गई है।

2. **व्यापारिक बैंक (Commercial Banks):** इन बैंको का सन् 1969 से पहले क षि साख का केवल 0.9 प्रतिशत भाग प्रदान करते थे परंतु इस वर्तमान समय में (2002-03) में देश के कुल क षि ऋण वितरण में व्यापारिक बैंको का हिस्सा 50 प्रतिशत है। 1969 में 14 तथा 1980 में 6 व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् संगठित क्षेत्र क षि की साख में बैंको द्वारा दी गई साख का अनुपात बढ़कर 26 प्रतिशत हो गया है। सन् 2002 देश में कार्यरत व्यापारिक बैंको की 49 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्र में थी।

3. **स्टेट बैंक (State Bank):** स्टेट बैंक क षि कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार की साख सुविधाएँ प्रदान करता है। (i) यह बैंक सहकारी समितियों को नीची दर पर प्रत्यक्ष ऋण देता है, (ii) यह बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलकर क षकों को प्रत्यक्ष रूप से वित्त की सुविधाएँ उपलब्ध करवाने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान में स्टेट बैंक की 41 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में है, (iii) इस बैंक ने क षि को अधिक साख देने के लिए (Village Adoption Scheme) गांव अंगीक त योजना आरंभ की है, (iv) किसानों को ट्रेक्टर, ट्यूब वैल व अन्य क षि मशीनरी को खरीदने के लिए ऋण प्रदान करता है।

4. **ग्रामीण क्षेत्रीय बैंक (Regional Rural Banks):** लघु एवं सीमान्त क षकों एवं भूमिहीन क षि श्रमिकों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए 2 अक्टूबर 1975 को एक ग्रामीण बैंक की स्थापना की गई। इनका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण साख प्रदान करना है। इन बैंको के ऋणों का 90 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के कमजोर वर्गों को दिया जाता है देश के कुल क षि ऋण प्रवाह में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का हिस्सा 7 से 8 प्रतिशत है।

5. **राष्ट्रीय क षि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD – National Bank for Agricultural and Rural Development):** देश में क षि साख व्यवस्था को सुद ढ़ करने, विभिन्न साख संस्थाओं के कार्यों में समन्वय स्थापित करने तथा क षि साख को एक छत के नीचे लाने के उद्देश्य से 12 जुलाई, 1982 को ''राष्ट्रीय क षि एवं ग्रामीण विकास बैंक'' कर स्थापना की गई। इस बैंक को क षि साख के ''सर्वोत्तम बैंक'' के रूप में स्थापित किया गया। यह बैंक देश के क षि विकास तथा ग्रामीण विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा इस बैंक का मुख्य कार्य, राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंको, भूमि विकास बैंको, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको अब अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा क षि लघु तथा कुटीर उद्योगों, हस्तकला एवं ग्रामीण विकास आदि के लिए दिए गए ऋणों का पुनर्वित करना है। सन् 2001-02 में NABARD ने अल्पकालीन ऋण के रूप में 6485 करोड़ रुपये स्वीक त किए तथा इस अवधि में 894 करोड़ रुपये के मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण वितरित किए।

6. **किसान क्रेडिट कार्ड स्कीम (Kisan Credit Card Scheme):** सरकार ने 1998-99 ये किसान क्रेडिट कार्ड योजना लागू की है जिसके अंतर्गत व्यापारिक बैंको, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको तथा सहकारी बैंको से कार्ड धारकों को तुरंत साख उपलब्ध हो जाती है। ये कार्ड उन किसानों को जारी किए जाते हैं, जो 5,000 रुपये या उससे ऊपर की साख प्राप्त करने के योग्य हैं। किसान कार्ड वार्षिक समीक्षा की शर्त पर 3 वर्ष

के लिए वैद्य होगी। सितंबर 2002 तक 27.1 मिलियन किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए थे जिनमें 64,000 करोड़ रुपये की ऋण स्वीकृतियाँ शामिल थी।

7. **राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना (National Agricultural Insurance Scheme):** यह योजना कृषि मंत्रालय की ओर से साधारण बीमा निगम (GIC) द्वारा कार्यान्वित की जा रही है जिसका मुख्य उद्देश्य सूखे, बाढ़, ओलावृष्टि, आग, कीट बीमारियों तथा चक्रवात जैसी प्राकृतिक अन्य विपदाओं के कारण फसल को हुई क्षति से किसानों का संरक्षण करना है ताकि आगामी मौसम में उनकी ऋण साख बहाल हो सके।

कृषि ऋण / साख की समस्याएँ
(Problems of Agricultural Credit)

कृषि-ऋण, अन्य उद्यमों के लिए प्राप्त ऋण से भिन्न होता है जिसका मुख्य कारण कृषि उद्यम की कुछ विशेषताओं का होना है। जिससे कृषि ऋण की समस्याएं अन्य व्यवसायों की ऋण समस्याओं से भिन्न होती हैं। कृषि-ऋण की प्रमुख समस्याएं निम्न हैं-

1. **अपर्याप्त उपलब्धि (Inadequate Availiability):** कृषि की आवश्यकताओं को देखते हुए कृषि की उपलब्धि अपर्याप्त है। यद्यपि कृषि साख की मात्रा में भारी वृद्धि हुई है परंतु हमारी जनसंख्या में वृद्धि तथा कृषि उपकरणों, खाद व बीजों आदि के मूल्य में भारी वृद्धि को ध्यान में रखकर देखा जाए तो यह रकम अभी भी हमारी कृषि साख आवश्यकताओं की तुलना में काफी कम है।

2. **कृषि ऋणों की कम वसूली (Less Recovery of Agricultural Credit):** कृषि ऋणों की वसूली में कमी तथा बकाया ऋण की वृद्धि ने भी कृषि साख को प्रभावित किया है। पिछले तीन-चार वर्षों में 40 से 42 प्रतिशत ऋण राशि बकाया के रूप में रही है। इससे सहकारी संस्थाओं तथा बैंको को अन्य व्यक्तियों को कृषि साख सुविधाएँ उपलब्ध कराने में बाधा आई है।

3. **निर्धन कृषकों को कम साख (Less Credit of Performances):** कृषि साख का लाभ उन निर्धन कृषकों को नहीं मिल पाता जिन्हें इसकी वास्तव में आवश्यकता होती है। अधिकतर ऋण धनी तथा प्रभावशाली किसान प्राप्त कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप जहां एक और ऋण की वसूली में बाधा आती है, वहीं दूसरी और जरूरतमंद कृषकों को ऋण नहीं मिल पाता।

4. **ऋणों की अपर्याप्त मात्रा (Inadequate Amount of Loans):** कृषि साख की एक मुख्य समस्या ऋणों की अपर्याप्त मात्रा है। सामान्यतः देखा गया है कि कृषकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण नहीं मिलता। इस कारण उस ऋण का प्रयोग वे कृषि कार्यों में न करके बल्कि अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा देते हैं। जिसके फलस्वरूप कृषि साख का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता तथा कृषि ऋण वसूली की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

5. **देरी से कार्रवाई या लालफीताशाही (Red Tapism):** कृषि प्रदान करनेवाली समस्याओं की कागजी कार्रवाई इतनी लंबी-चौड़ी तथा जटिल होती है कि गाँव के गरीब तथा अशिक्षित किसानों के लिए ऋण संबंधी सारी औपचारिकताएँ पूरी करना मुश्किल हो जाता है। इससे कृषकों को ऋण मिलने में कठिनाई आती है।

6. **ऋण वापस करने की अनिश्चित क्षमता (Uncertain Capacity of Refunding Loans):** अधिकतर किसानों की ऋण वापिस करने की क्षमता अनिश्चित होती है।

पर्याप्त सिंचाई सुविधाएँ न होने के कारण कृषि आज भी मॉनसून का जुआ है। कृषक को ऋण मिल भी जाए, परंतु वर्षा पर्याप्त नहीं हो पाई तो भी ऋण चुकाने की उसकी क्षमता प्रभावित होगी। इसके फलस्वरूप बैंकों को नई साख सुविधा उपलब्ध कराने में कठिनाई होगी।

7. **अपर्याप्त संस्थागत साख सुविधाएँ (Inadequate Institutional Credit Facilities):** भारत में अभी भी संस्थागत साख सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। प्राथमिक क षि साख समितियां, ग्रामीण बैंको तथा व्यापारिक बैंको की शाखाओं की संख्या अभी भी अपर्याप्त हैं। बहुत से ग्रामीण क्षेत्र इनकी सुविधाओं से वंचित है। वहाँ के निवासियों को क षि संबंधी ऋण प्राप्त करने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

क षि ऋण/साख की कमियों को दूर करने के सुझाव
(Suggestions to Remove Limitations of Agricultural Credit)

1. सहकारी समितियों को अधिक उपयोगी तथा कुशल बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। बहुउद्देशीय समितियों (Multi Purpose Societies) की संख्या में व द्धि करनी चाहिए। सहकारी संस्थाओं को काफी मात्रा में धन मिलना चाहिए।
2. सरकार द्वारा दिए गए कर्जे की कमियों को दूर करने उनमें सुधार करना चाहिए।
3. रिजर्व बैंक को दीर्घकालीन ऋण के लिए और अधिक धन उधार देना चाहिए।
4. अमेरिका की तरह ''साख गारंटी संस्था'' आरंभ की जानी चाहिए जो किसानों को दिए जानेवाले ऋण की गारंटी दे सके।
5. सहकारी संस्थाओं, पोस्ट ऑफिसों, बचत बैंको द्वारा किसानों को बचत करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।
6. भारत में गोदामों (Warehouses) की स्थापना पर अधिक बल दिया जाना चाहिए जिनकी रसीद पर किसानों या ग्रामीण बैंको से अधिक धन उधार मिल सके।
7. महाजनो तथा व्यापारियों के काम को नियंत्रित किया जाना चाहिए तथा उनको संगठित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
8. क षक कभी-कभी विभिन्न संस्थाओं से एक ही वस्तु के बंधक पर कई ऋण प्राप्त कर लेते हैं, जिसके कारण ऋण वसूली में परेशानी होती है। इसे दूर करने के लिए क षकों को ऋण कार्ड दिए जाने चाहिए। इसमे विभिन्न संस्थाओं से लिए गए ऋण का विवरण, राशि भुगतान और वस्तुओं का पूर्ण वितरण होना चाहिए, जिसे देखकर ऋण देनेवाली संस्था क षक की स्थिति का पता लगा सके और भविष्य में होनेवाली समस्याओं से बच सके।
9. भू-राजस्व अधिकारियों द्वारा भूमि की जोत, कुआँ आदि प्रमाणित कराने की आवश्यक परेशानी को दूर करने के लिए क षको को भूमि की जोत की पास बुक देनी चाहिए। इस पास बुक में सभी आवश्यक जानकारी अंकित होनी चाहिए जैसे सिंचित, असिंचित क्षेत्रफल, भूमि की किस्म, खेतों की संख्या, कुआँ आदि। इस पास बुक में क षक द्वारा बंधक बैंक से प्राप्त ऋण भी अंकित होना चाहिए जिससे ऋण देनेवाली संस्थाएँ पास बुक को बंधक रखकर ही ऋण दे सकें।
10. ऋण देनेवाली संस्था को ऋण स्वीक ति से ऋण के पूर्ण भुगतान तक संबंधित कार्यों की पूर्ति के लिए नियंत्रक और आवश्यकतानुसार तकनीकी ज्ञान प्रदान करनी चाहिए।

11. क षकों को ऋण पर लगनेवाले अतिरिक्त ब्याज से बचाने के लिए ऋण कार्ड की सुविधा प्रदान करनी चाहिए। ऋण का भुगतान एक किश्त में न करके आवश्यकतानुसार समय-समय पर करने की सुविधा होनी चाहिए। भुगतान की रकम का ब्यौरा ऋण कार्ड में दिया जाना चाहिए।

12. कभी-कभी ऋणदाता और ऋण लेनेवाले के बीच मध्यस्थों की कड़ी पाई जाती है जो दोनों वर्गों के लिए हानिकारक है। अतः इस गलत कार्य को बंद करने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

13. उत्पादक ऋण के साथ-साथ क षकों को आवश्यक उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण प्रदान करना चाहिए।

14. ऋण देनेवाली संस्थाओं द्वारा फसल पद्धति या निर्धारण ऋण पद्धति या निरीक्षण ऋण पद्धति अपनानी चाहिए। इस पद्धति के अंतर्गत ऋण देनेवाली संस्थाएँ ऋण स्वीक ति के अतिरिक्त क षक को ऋण के उपयोग, तकनीकी ज्ञान, नए उत्पादन साधनों के उपयोग के विषय में जानकारी देती है और ऋण के उपयोग पर ध्यान रखती है, जिससे क षक ऋण का पूरा लाभ उठा सके।

क षिगत साख पुनर्निरीक्षण समिति
(Agricultural Credit Reveiw Committee)

भारत सरकार के आग्रह पर रिजर्व बैंक ने 1987 में प्रो० खुसरो की अध्यक्षता में क षिगत साख जांच समिति (Agricultural Credit Review Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1989 में प्रस्तुत की थी। इस समिति के अनुसार भारत में संस्थागत साख (Institutional Finance) के विकास के फलस्वरूप किसान काफी सीमा तक महाजन के चंगुल से स्वतंत्र हो गया है। परंतु अभी तक लघु तथा मध्यम श्रेणी के किसानों को आवश्यकतानुसार साख नहीं मिल रही है। इस समिति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित है–

1. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सके। उन्हें संबंधित व्यापारिक बैंको में ही मिला दिया जाना चाहिए।

2. भारत में एक राष्ट्रीय सहकारी बैंक (National Cooperative Bank) स्थापित किया जाना चाहिए।

3. एक फसल बीमा निगम (Crop Insurance Corporation) स्थापित किया जाना चाहिए जो फसल बीमा योजना को लागू करेगी।

4. तीन पूर्वी राज्यों अर्थात् बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के लिए अलग-अलग तथा बाकी सभी राज्यों के लिए एक क षि एवं ग्रामीण अधोसंरचना विकास निगम (Agriculture and Rural Infrastructure Development Corporation) स्थापित की जानी चाहिए। इस निगम को इन राज्यों में क षि का तीव्र गति से विकास करना चाहिए जिससे प्रादेशिक असंतुलन को कम किया जा सके।

5. क षि ऋणों पर केवल दो प्रकार की ब्याज की दर लागू होनी चाहिए (i) लघु एवं सीमांत किसानों के लिए रियायती ब्याज की दर (ii) बाकी किसानों के लिए व्यावसायिक दर जिससे क षि साख को लाभदायक बनाया जा सके।

6. सरकारी तथा व्यापारिक बैंकों के लिए ऋण वसूली के कानून एक समान होने चाहिए।

7. ग्रामीण बैंकर्स को परीक्षण देने के लिए एक शीर्ष एजेंसी (Apex Agency) की स्थापना की जानी चाहिए।

अध्याय-18
सहकारिता
(Co-Operative)

सहकारी विपणन स्वेच्छा से बनाया हुआ एक व्यापारिक संगठन है जिसका उद्देश्य पारस्परिक लाभ की द ष्टि से विपणन समस्याओं को हल करने के लिए मिलकर कार्य करना है। क षि शाही आयोग के अनुसार- ''सहकारी विपणन समितियाँ क षक को उपज पैदा करने एवं तैयार करने के संबंध में शिक्षा देती हैं। बाज़ार के लिए उपज को एकत्रित करती है और श्रेणीकरण करती है। इस तरह वे किसानों को निर्यात बाज़ार के संपर्क में लाती है।'' फिलिप्स एवं डंकन के अनुसार- ''ये संगठन जो सहकारिता के आधार पर किसानों के समूहों द्वारा अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए और सामान तथा अन्य वस्तुओं को क्रय करने हेतु स्थापित हुए है, सहकारी विपणन संघ कहलाते हैं।''

सहकारी विपणन के मुख्य उद्देश्य हैं-

1. अपने सदस्यों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलवाना।
2. भण्डारण की सुविधा प्रदान करना।
3. आवश्यकता के समय सदस्यों को ऋण प्रदान करना।
4. सदस्यों को बाजार संबंधी सूचनाओं की जानकारी प्रदान करना।
5. सदस्यों के लिए बाजार, खाद व अन्य आगतों की व्यवस्था करना।
6. मूल्यों में स्थिरता लाना।

भारत के सहकारी विपणन संगठन
(Organisation of Co-Operative Marketing in India)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की रिपोर्ट में सहकारी साख और सहकारी विपणन के एकीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया गया था, इस समिति की सिफारिशों में स्वीकार करने के बाद, साख विपणन, विधायन, संग्रहण आदि को सहकारी आधार पर एकीक त योजना के अंतर्गत करने का प्रयास किया गया है। फलस्वरूप बहुउद्देशीय समितियाँ (Multipurpose Societies) स्थापित की गई है। जिनके संगठन निम्नलिखित हैं-

1. **प्राथमिक सहकारी विपणन समितियां (Primary Cooperative Marketing Societies):** ये समितियाँ ग्राम स्तर पर कार्य करती है तथा अपने सदस्यों के आय के लिए कार्य करती है। अपने सदस्यों की उपज को एकत्रित करना, श्रेणी विभाजन,

प्रमाणीकरण तथा बिक्री की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त खाद, बीज, कृषि यन्त्र आदि की पूर्ति करती हैं तथा आवश्यकता के समय उन्हें ऋण देती हैं। वर्तमान समय में सहकारी समितियों की 7001 संख्या है।

2. **केन्द्रीय सहकारी विपणन समितियाँ (Central Cooperative Marketing Societies):** जिला स्तर पर इस प्रकार की समितियों का गठन प्राथमिक सहकारी विपणन समितियों को सहायता प्रदान करने के लिए किया जाता है। ये समितियां शहरों और कस्बों में पाई जाती हैं। ये समितियां क षि उपज का क्रय-विक्रय करने, प्राथमिक समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने तथा अन्य सहकारी विपणन समितियों के बीच समन्वय बनाए रखने का कार्य करती है। वर्तमान समय में इन समितियों की संख्या 160 है।

3. **प्रान्तीय सहकारी विपणन समितियाँ (State Cooperative Marketing Societies):** ये समितियां राज्य स्तर पर सर्वोच्च संस्था (Apex Institutions) के रूप में कार्य करती हैं तथा केंद्रीय विपणन समितियों के माध्यम से प्राथमिक समितियों की सहायता करती है। ये समितियाँ साधारणतया प्रदेश या राज्य की राजधानी में पाई जाती है। इस समय राज्य स्तर पर 29 प्रांतीय समितियाँ और 25 विपणन फेडरेशन कार्य कर रहे हैं।

4. **राष्ट्रीय सहकारी क षि विपणन संघ (National Agricultural Cooperative Marketing Federation – NAFED):** यह राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी विपणन का कार्य करनेवाली शीर्ष संख्या है जिसकी स्थापना 1958 में की गई। इसका मुख्य उद्देश्य क षि एवं अन्य वस्तुओं में अपने सदस्यों के विपणन एवं व्यापारिक क्रिया-कलापों में समन्वय लाना, उन्हें प्रोत्साहित करना तथा अंतर्राष्ट्रीय क षि व्यापार को प्रोत्साहन करना और सदस्यों की क षि से संबंधित आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना है।

भारत में सहकारी विपणन की प्रगति
(Progress of Cooperative Marketing in India)

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में सहकारी विपणन के विकास की स्थिति संतोषजनक नहीं थी देश में सीमित संख्या में ही सहकारी विपणन समितियाँ कार्यरत थीं। इसके अतिरिक्त विभिन्न विपणन समितियों में परस्पर समन्वय का भी अभाव था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारी साख के साथ सहकारी विपणन के विकास की आवश्यकता पर बल दिया गया परंतु कोई विशिष्ट लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया। 1950-51 में सहकारी विपणन समितियों के माध्यम से 47 करोड़ रुपये के मूल्य के क षि पदार्थों का विक्रय किया गया, 1960-61 में 169 करोड़ रुपये, 1970-71 में 650 करोड़ रुपये 1980-81 में 1,950 करोड़ रुपये, 1990-91 में 5,600 करोड़ रुपये तथा 2002 में 13,400 करोड़ रुपये के क षि उत्पाद सहकारी समितियों के माध्यम से बेचे गए।

भारत में सहकारी विपणन समितियों ने काफी प्रगति की है। 2002 में 7001 प्राथमिक विपणन समितियाँ, 160 केंद्रीय समितियाँ तथा राज्य स्तर पर 29 राज्य समितियाँ तथा राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय सहकारी विपणन संगठन कार्यरत है। ये समितियाँ आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं जैसे चावल, गेहूँ तथा व्यापारिक फसलों जैसे कपास और जूट की वसूली कार्यों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

क षि विपणन समितियों के लाभ या सफलताएँ
(Advantages or Achievement of Cooperative Marketing)

सहकारी विपणन क षक की स्थिति को विक्रेता के रूप में सुद ढ़ बनाता है। उसकी उपज के नियमितरूप से बिकने का विश्वास स्थापित करता है और उसको अच्छे मूल्य पर बिकने के योग्य बनाता है। यह सिखाता है कि क षकों को भी व्यावसायिक संगठनों की भाँति अपने आपको संगठित करना चाहिए। भारत में सहकारी विपणन अभी बचपन की अवस्था में है। उसके विकास की काफी आवश्यकता है। सहकारी विपणन संगठन ने क षि उपज विपणन में जो कठिनाई आती है उन्हें एक सीमा तक दूर करने में सफलता प्राप्त कर ली है। भारत में सहकारी विपणन के मुख्य लाभ या सफलताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **मध्यस्थों का अंत (Elimination of Middlemen):** सहकारी विपणन में सबसे पहला लाभ यह है कि उपभोक्ता एवं उत्पादक के बीच मध्यस्थों की जो श ंखला बनी रही है उसका अंत हो जाता है जिससे उपभोक्ता व उत्पादक दोनों को लाभ होता है। मध्यस्थों का अंत होने से उपभोक्ता को वस्तु सस्ती मिल जाती है व उत्पादक को अपनी वस्तु का उचित मूल्य मिल जाता है।

2. **बाजार की बुराइयों से छुटकारा (Relief From Bad Market Practices):** सहकारी विपणन हो जाने के कारण उत्पादक बाजार की विभिन्न बुराइयाँ जैसे आढ़त, तुलाई, गौशाला, चौकीदार आदि से बच जाता है। सहकारी विपणन समिति में कुछ निश्चित खर्चें ही निश्चित दर पर लिए जाते हैं।

3. **वर्गीकरण की सुविधा (Facilities for Grading):** ये समितियाँ अपने सदस्यों के उत्पादन का वर्गीकरण करती हैं तथा मिलावट से रोकती है। फलस्वरूप उन्हें उत्पादन के अधिक मूल्य मिल जाता है।

4. **उचित तोल की सुविधा (Facilities for Proper Weight Measurement):** इन समितियों के द्वारा ठीक तरह से माप-तोल की जाती है जबकि इनके अभाव में माप-तोल उचित नहीं होता। यद्यपि सरकार ने इस संबंध में कानून बना रखे हैं, लेकिन फिर भी विभिन्न प्रकार के बाँट पाए जाते हैं।

5. **संग्रह की सुविधा (Storage Facility):** उत्पादक के पास उत्पादन करने के लिए उचित साधन नहीं होते तथा जो साधन हैं वहीं पुराने तरह रूढ़िवादी साधन होते हैं। सहकारी समितियाँ आधुनिक वैज्ञानिक भण्डार-ग ह सुविधा अपने सदस्यों को उपलब्ध करवाती हैं। इनके द्वारा माल को सुरक्षित रखने का बहुत ही कम व्यय लिया जाता है। भण्डार की सुविधा होने से माल खराब नहीं होता और बाजार की परिस्थितियाँ उसके पक्ष में आने तक माल को रोका जा सकता है।

6. **वित्तीय सहायता (Financial Assistance):** सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों को आवश्यकता के समय वित्तीय सहायता प्रदान करती है और साहूकारों, महाजनों के चंगुल से फंसने से बचाती है। इन समितियों की ब्याज की दर भी कम होती है।

7. **एकत्रीकरण की सुविधा (Facility in Collection):** सहकारी विपणन समितियाँ सदस्यों की सुविधा के लिए गांव में ही उपज को एकत्रित करने के लिए केंद्र खोल देती है जिससे वे अपने उत्पादन को बाजार में ले जाने की परेशानी से बच जाती है। यह

सुविधा उन क षकों के लिए बहुत ही लाभप्रद है जिनके पास उत्पादन ले जाने के लिए साधन उपलब्ध नहीं है।

8. **सामूहिक सौदेबाजी व अधिक मूल्य (Advantage of Collective Bargaining and Better Prices):** सहकारी विपणन के कारण किसानों की सौदेबाजी की शर्त बढ़ गई है क्योंकि व्यक्तिगतरूप में क षकों में सौदेबाजी की शक्ति व्यापारियों की तुलना में कम होती है। लेकिन सहकारिता में संगठित होकर उनमें सामूहिक क्षमता आ जाती है जिसका प्रभाव यह पड़ता है कि उसको वस्तु का मूल्य कुछ अधिक मिल जाता है तथा बहुत खरीद व बिक्री के लाभ का भी भागी बन जाता है। ये समितियाँ अपने सदस्यों को लाभप्रद सूचनाएँ भी उपलब्ध करवाती हैं।

9. **पूर्ति पर नियंत्रण (Control over Supply):** ये समितियाँ क षि उत्पादन की पूर्ति को नियंत्रित करती हैं तथा इस प्रकार कीमतों को प्रभावित करती है कि कीमतों में अधिक उतार चढ़ाव न होने पाए।

10. **अन्य लाभ (Other Advantages):** सहकारी विपणन के अन्य लाभ भी है जैसे (i) उचित मूल्य पर रासायनिक खाद, उत्तम बीज व औजार समितियों द्वारा सदस्यों को बेचना। (ii) ये अपने सदस्यों को अग्रिम (Advance) देती हैं तथा उन्हें उचित कीमतों की प्रतीक्षा करने के योग्य बनाती हैं। (iii) गाँव में समितियों द्वारा अन्य सामाजिक उत्थान के कार्य करना जिससे जीवन स्तर में उन्नति हो।

सहकारी विपणन की कमियाँ
(Weakness of Cooperative Marketing)

सहकारी क षि विपणन का अत्यधिक लाभ एवं महत्त्व होते हुए भी इनकी अपनी कुछ कमियाँ हैं जो इसके लाभों में गतिरोध उत्पन्न कर देती है।

1. **मध्यस्थों का अन्त एकमात्र साधन नहीं (Elimination of Middlemen – Not the only Alternative):** यदि कहा जाए कि केवल सहकारी विपणन ही मध्यस्थों का अंत कर सकता है तो ऐसा नहीं है। मध्यस्थों का अंत व्यापारिक क्रियाएँ भी कर सकती हैं जैसे उत्पादको से उपभोक्ताओं को सीधे माल बेचना आदि।

2. **हमेशा उच्च प्रतिफल की गारण्टी नहीं (No Guarantee for Always Higher Returns):** सहकारी विपणन समितियाँ अपने सदस्यों को यह गारण्टी नहीं दे सकती कि वे हमेशा उन्हें उच्च प्रतिफल ही प्रदान करती रहेगी, क्योंकि मूल्य का निर्धारण तो बाजार में माँग एवं पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर करता है। सहकारी विपणन का क्षेत्र विस्त त होते हुए भी वे वस्तुओं की कीमतें नहीं निर्धारित कर सकती।

3. **प्रबंध व्यय सस्ता नहीं (Managerial Expenses and Not Economical):** यह भी केवल एक भ्रम है कि सहकारी प्रबंध निजी प्रबंध से सस्ता होता है। विपणन कार्यों के उचित संचालन के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें सहकारी समितियों को वेतन पर नियुक्त करना पड़ता है। जबकि आढ़तिये अपनी फर्म को स्वयं चलाते हैं और ऐसे व्यय उन्हें नहीं करने पड़ते। दूसरी ओर सहकारी समितियों के प्रबंधक कर्मचारी होते हैं, मालिक नहीं, इसलिए वे मितव्ययिता की तरफ कम ध्यान देते हैं।

4. **प्राथमिक सहकारी समितियों के सदस्यों की कम सख्या (Less Number of Members of Primary Cooperative Societies):** भारत में प्राथमिक सहकारी

समितियों की सदस्यों की संख्या बहुत कम है और देश के कुल क षि उत्पादन की बिक्री में भी इनका हिस्सा भी बहुत कम है। मधु पावस्कर के अनुसार 1979-80 में देश के 5 प्रतिशत से भी कम क षक इन समितियों के सदस्य थे और देश के कुल क षि राष्ट्रीय उत्पादन भी बिक्री में इन समितियों का हिस्सा 10 प्रतिशत से ज्यादा नहीं था।

5. **आर्थिक रूप से असक्षम (Economically not Viable):** सहकारी विपणन की सबसे बड़ी कमजोरी (लगभग एक तिहाई समितियाँ निस्क्रिय पड़ी हुई हैं) प्राथमिक समितियाँ की निष्क्रियता है इन समितियों के अध्ययन से पता चलता है कि लगभग 40 प्रतिशत समितियाँ तो क षि विपणन का काम करती ही नहीं थी, प्रति समिति बिक्री औसत लगभग 1.15 करोड़ रुपये थी जबकि आर्थिक रूप से श्रम होने के लिए 1987-88 में कम-से-कम 1.50 करोड़ रुपये की औसतन बिक्री होना आवश्यक थी।

6. **वित्तीय स्थिति संतोषजनक नहीं (Financial Position – Not Satisfactory):** सन् 1986-87 में किए गए एक अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि केवल दो-तिहाई समितियाँ ही लाभ कमा पाई हैं। अर्थात् एक-तिहाई समितियों को हानि उठानी पड़ी है। इतना ही नहीं, जिन दो तिहाई समितियों को लाभ हुआ है उनमें से भी अधिकांश समितियों को लाभ नहीं मिलता यदि उन्हें रासायनिक उर्वरकों व उपभोग वस्तुओं के वितरण की जिम्मेदारी नहीं सौंपी जाती (उर्वरकों व उपभोग वस्तुओं पर आय सुनिश्चित होते हैं)।

7. **सहकारी विपणन समितियों के विकास में प्रादेशिक असंतुलन (Regional Misbalance in Development of Primary Marketing Societies):** 1990-91 में सहकारी विपणन समितियों द्वारा की गई कुल बिक्री में केवल आठ ही राज्यों- गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र की सहकारी समितियों का हिस्सा लगभग 90 प्रतिशत था, बाकी देश की सहकारी समितियों का योगदान 10 प्रतिशत, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभी योजनाओं का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य (क्षेत्रीय असमानता, असंतुलन को कम करना) को पाने में असफल रहे हैं। इसके अतिरिक्त सातवीं योजना के अनुसार, क षि सहकारी विपणन का प्रसार भी विभिन्न राज्यों में एक जैसा नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए, जहाँ राजस्थान में इन समितियों ने प्रति हेक्टेयर 8 रुपये का क षि उत्पादन बेचा वहाँ महाराष्ट्र में प्रति हेक्टेयर 509 रुपये का क षि उत्पादन बेचा।

8. **विभिन्न स्तर की समितियों में समन्वय का अभाव (Lack of Linkages Among Primary Marketing Societies):** सहकारी विपणन समितियों के विभिन्न स्तरों पर जैसे प्राथमिक, केंद्रीय एवं राज्य समितियों में परस्पर समन्वय तथा निर्भरता का अभाव पाया जाता है। फलस्वरूप उनके कार्यों में मजबूती एवं विविधता नहीं पाई जाती।

9. **किसानों के विश्वास की कमी (Lack of Confidence of Farmers):** ये समितियाँ किसानों के विश्वास को नहीं जीत पाई है। इसके फलस्वरूप किसान अपने उत्पादन को निजी व्यापारियों के माध्यम से बेचना ही पसंद करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि व्यापारी वर्ग किसान की शीघ्रतापूर्वक एवं बिना अधिक कागजी कार्यवाही के ऋण और अन्य सुविधाएँ प्रदान करते है।

10. **अस्वस्थ प्रतियोगिता (Unhealthy Competition):** विभिन्न विपणन समितियों में अस्वस्थ प्रतियोगिता पाई जाती है। इनका मुख्य उद्देश्य किसानों की सेवा के स्थान पर लाभ कमाना है। अतः वे अपने सदस्यों की पूर्ण सेवा नहीं कर पाते तथा निजी व्यापारियों से प्रतियोगिता करने में असफल रहते हैं–

सहकारी विपणन में सुधार के सुझाव
(Suggestions to Improve Cooperative Marketing)

भारत में सहकारी विपणन में सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव हैं।

1. **बहुउद्देशीय समितियाँ (Multipurpose Societies):** प्राथमिक सहकारी समितियों का पुनर्गठन करके उन्हें बहुउद्देशीय समितियों में परिवर्तन कर देना चाहिए ताकि वे आर्थिक द ष्टि से सक्षम हो सके।

2. **वित्तीय साधनों में व द्धि (Increase in Financial Resources):** सहकारी विपणन समितियों की पूँजी में व द्धि करने हेतु सरकार तथा बैंकों द्वारा उन्हें सहायता प्रदान की जानी चाहिए। सहकारी समितियों द्वारा रिजर्व कोष की स्थापना की जानी चाहिए। निर्बल एवं आर्थिक द ष्टि से कमजोर समितियों को सबल बनाने के लिए आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए।

3. **परिवहन तथा संचार के साधनो का विकास (Development of the Means of Transport and Communication):** सरकार को गाँवों तथा मण्डियों के बीच परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास करना चाहिए, ताकि देश में सहकारी विपणन संस्थाओं का समुचित विकास हो सके।

4. **पर्याप्त गोदाम व भण्डार ग ह (Adequate Godowns and Warehouses):** सहकारी विपणन समितियों से ग्रामीण क्षेत्र में तथा मण्डियों में अपने गोदाम तथा भण्डार स्थापित करने चाहिए, ताकि विपणन समितियाँ इन भण्डारों में क षि उपज को रख सकें। इसके लिए सरकार तथा बैंकों से ऋण प्राप्त किए जा सकते हैं।

5. **प्रशिक्षण सुविधाओं का विकास (Development of Training Facilities):** सरकार की विपणन समितियों को प्रशिक्षण तथा कुशल कर्मचारियों की सुविधा प्रदान करने हेतु प्रशिक्षित केंद्र खोले जाने चाहिए ताकि कर्मचारी अपने कार्य को दक्षता से कर सके।

6. **सरकारी एजेंसी (Government Agency):** सहकारी विपणन समितियों को सरकारी एजेंसी के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य करने चाहिए जैसे कि भारतीय खाद्य निगम (FCI) को सहकारी विपणन समितियों से ही अपने लिए खाद्यान्न का स्टॉक खरीदना। इससे किसानों को अपने उत्पादन का उपयुक्त मूल्य प्राप्त हो सकेगा।

7. **अनार्थिक समितियों को सहायता (Help to Uneconomic Societies):** अनार्थिक विपणन समितियों को या तो पूर्णतया बंद कर दिया जाए या फिर सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करके उनकी कार्यकुशलता में व द्धि की जानी चाहिए। इसके साथ-साथ सहकारी समितियों द्वारा गांवों में ही उपलब्ध बचत की राशि को एकत्रित करने का कार्य भी किया जाना चाहिए।

8. **अधिक प्रोसेसिंग कार्य (More Processing Activities):** सहकारी विपणन समितियों को क षि वस्तुओं के प्रोससिंग कार्य अधिक मात्रा में करने चाहिए इसके परिणामस्वरूप उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जा सकेगा तथा किसानों को अधिक लाभ होगा। उदाहरण के लिए तिलहनों से तेल निकालकर या कपास से बिनौले निकालकर उसकी खाल बनाकर बेचा जाए तो क षि पदार्थों की अधिक कीमत मिल सकेगी।

9. **विस्त त क्षेत्र (Wider Area):** सहकारी विपणन समितियों के कार्य क्षेत्र में विस्तार किया जाना चाहिए जिससे उन्हें सक्षम व सबल होने का अवसर मिल सके। उन्हे अपना कार्य क्षेत्र कई गाँवों या एक पूरी तहसील तक विस्त त कर लेना चाहिए। इसके फलस्वरूप समितियाँ क षि उत्पादन का अच्छी तरह से क्रय-विक्रय कर सकेंगी। और अपने प्रबंध कार्य के लिए योग्य प्रबंधकों की नियुक्ति कर सकेंगी।

10. **ग्रेडिंग (Grading):** सहकारी विपणन समितियों को अपने सदस्यों के उत्पादन का वर्गीकरण करना चाहिए जिसके कारण उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य मिल सकेगा तथा सदस्यों को अपने उत्पादन को उन्नत करने में सहायता मिलेगी।

क षि निर्यात
(Agricultural Exports)

क षि विपणन में क षि के निर्यात का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। क षि निर्यात के फलस्वरूप फर्म की आय में व द्धि, बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने एवं विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की सबसे अधिक संभावना मौजूद होती है।

भारत में क षि निर्यात को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों अर्थात् (क) कच्चे उत्पाद, (ख) अर्द्धनिर्मित उत्पादन (ग) संसाधित और खाने के लिए तैयार उत्पाद। निर्यातित कच्चे उत्पाद अनिवार्यतः कम मूल्य एवं अधिक मात्रा की प्राकृतिक हैं जबकि अर्द्धनिर्मित उत्पाद मध्यम मूल्य और सीमित मात्रा के हैं तथा संसाधित खाने के लिए तैयार उत्पाद उच्च मूल्य परंतु कम मात्रा की प्रक ति के है।

भारत द्वारा निर्यात किए जानेवाले प्रमुख क षि उत्पाद हैं- मोटे अनाज (अधिकांशतः चावल-बासमती और गैर बासमती), मसाले, खली, भूसी, तंबाकू, चाय, कॉफी, काजू, समुद्री उत्पाद, चीनी बागवानी तथा फूल, प्रोससड फल आदि। विगत कुछ वर्षों में देश के कुल निर्यात की तुलना में क षि निर्यात का हिस्सा 13 से 20 प्रतिशत के बीच रहा।

तालिका - 1

भारत के क षि उत्पादों के निर्यात में व द्धि (हजार करोड़ रुपये में)

वर्ष	देश का कुल निर्यात	क षि उत्पादों का निर्यात	देश के कुल निर्यात में क षि उत्पादों का हिस्सा
1993-94	69.75	13.02	18.7
1994-95	82.67	13.71	16.6
1995-96	106.35	21.14	19.8
1996-97	118.81	24.24	20.4
1997-98	130.10	25.42	18.8
1998-99	139.75	26.10	18.1
1999-2000	159.56	25.02	15.2
2000-2001	203.57	28.58	13.5
2001-02	209.02	29.31	13.4

स्रोतः आर्थिक समीक्षा 2002-03

अध्याय-19
क षि में निजी बनाम सार्वजनिक निवेश
(Private Vs Public Investment in Agriculture)

भूमिकाः-

विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक निवेश को प्रभावशाली बनाने के लिए तथा क षि विकास को गरीबों के पक्ष में करने के लिए एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों का आवश्यक रूप से विकास करना बहुत ही जरूरी है। सरकारों को सार्वजनिक वस्तुओं की उपलब्धता, बाजार की असफलताओं को दुरुस्त करने क लिए कानूनी एवं प्रशासनिक तथा नियंत्रक प्रणाली स्थापित करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्र की कार्य-प्रणाली को कुशल बनाने में सहायता एवं निर्धन वर्ग के कल्याण को प्रोत्साहित करना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का, व्यापारिक उदारीकरण, अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, नई कला कौशल तथा विश्लेषणात्मक क्षमताओं के कारण विकास हो रहा है। निवेश का ध्यान सार्वजनिक क्षेत्र प्रोग्राम, संस्थागत सुधारों, मानव संसाधन विकास तथा निजी, सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की क्षमता में व द्धि करने पर केंद्रित होना चाहिए। विश्व बैंक की ग्रामीण विकास संबंधी युक्ति, निर्धनता उन्मूलन के लिए दो मुख्य तत्त्वों की पहचान करती है। ऐसे अनुकूल निवेश का माहौल बनाया जाए जो ग्रामीण विकास के अनुरूप हो कि गरीबों का इस प्रकार से सशक्तिकरण किया जाए ताकि वो विकास के फलस्वरूप होनेवाले लाभ अधिकतम लाभों का फायदा उठा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए निवेश नीति एवं संस्थागत क्षमता में निवेश की भूमिका अति आवश्यक होती है। सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यों में मुख्यतः समन्वय, क्षेत्रीय युक्तियों का हिस्सा संबंधी विकास, नीति निर्माण, क षि में सार्वजनिक निवेश का बँटवारा एवं नियमन शामिल किए जाते हैं। ये सार्वजनिक कार्य एक ऐसे माहौल की प्रगति करते हैं जो निजी क्षेत्र की क्रियाएं एवं प्रतिस्पर्धात्मक बाज़ारों के सामाजिक द ष्टिकोण से स्वीक त तरीकों के अनुकूल हो।

प्रतिस्पर्धा क षि को प्रोत्साहित करनेवाली मुख्य नीतियाँ

1. समष्टिगत आर्थिक नीतियां जो अविक त विनिमय दर नीति को स्थायीकरण बाजार की बाधाएँ दूर करना, सरकार का विश्वास बनाना।
2. व्यापार निर्यात को प्रोत्साहित करती है, व्यापारिक समझौतों में हिस्सा लेना।
3. श्रम के प्रति रोजगार को सुनिश्चित करता है, स्त्रियों के लिए रोजगार में समान अवसर।
4. प्रतिस्पर्धा, विपणन, बाजारों की भूमिका का पुनः मूल्यांकन करता है। आगत बाजारों में प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करती है।

5. पर्यावरण, साधनों को प्राक तिक प्रयोग के प्रबंधन को कायम रखने में सहायता करते हैं।

6. भूमि सुधार के फलस्वरूप भू-स्वामी का समान वितरण, अवधि की सुरक्षा, भूमि का रिकॉर्ड रखना।

7. तकनीकी के फलस्वरूप सार्वजनिक कल्याण संबंधित अनुसंधान क्रियाओं में प्रोत्साहन मिलता है, फलस्वरूप निजी क्षेत्र का अनुसंधान एवं विस्तार क्रियाओं को उत्साहित करती है।

8. कल्याण तथा खाद्य सुरक्षा सामाजिक बचाव के प्रोग्रामो को स्थापित करती है जो चरम कीमतों में परिवर्तनों एवं प्राक तिक विपदाओं के समय रक्षा करती है।

भूतकाल में निवेश

क षि क्षेत्र में नीति एवं संस्थागत विकास की उन्नति नाटकीय ढंग से हुई है। 1970 एवं 1980 के दशकों मे निवेश का अधिक भाग क षि विकास प्रोग्रामों के राजकीय संगठनों की व्यवस्था बनाने में लग गया। क षि मंत्रालयों की शुरुआत यद्यपि बहुत ही सीमित क्षमता में हुई, परंतु इन्होंने इनकी एजेंसियों एवं प्रोग्रामों का विस्तार किया जो अगतों, ऋण तथा उत्पादकों की पूर्ति व्यवस्था से संबंधित है तथा इसके साथ कृषि पदार्थों की खरीददारी एवं इनके विपणन से भी संबंधित है। परंतु इन सब निवेशों का प्रतिफल (जैसे बड़े पैमाने पर सिंचाई सुविधाएँ) काफी कम है और कुछ नीतियाँ (वित्तीय सहायता) घरेलू बाज़ारों पर पड़नेवाले प्रभावों की द ष्टिकोण से उचित नहीं है।

इन उपरोक्त प्रोग्रामों की असफलता के फलस्वरूप राज्य के क षि क्षेत्र में भूमिका के बारे में पुनः मूल्यांकन की आवश्यकता पड़ी। इस सबके फलस्वरूप समायोजन उधार की मात्रा में व द्धि होती गई। उदाहरण के तौर पर विश्व बैंक के 1980 के दशक में संस्थागत सुधारों एवं सहायता नीति की सालाना उधार औसतन 900 मिलियन अमेरिकन डालर रही।

यद्यपि समायोजन उधार एवं सहायक नीति का क षि क्षेत्र की सार्वजनिक नीतियों का विकास करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, परंतु बहुत से देशों में सुधार प्रक्रिया अभी भी पूरी नहीं हो पाई है। कई परिस्थितियों में तो दूसरी-पीढ़ी के नीति में सामंजस्य की आवश्यकता है और कई सुधारों में प्रभावशाली ढंग से लागू करने की क्षमता की कमी रही है। विशेष तौर पर, तकनीकी एवं विश्व बाजारों में निरंतर परिवर्तनों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में निहित निरंतर बाजार की असफलताओं को ठीक करने संबंधित नवीनीकरण की आवश्यकता पड़ी, जो आधारभूत सार्वजनिक वस्तुओं की कुशलतापूर्वक पूर्ति कर सके, एक ऐसी सहायक प्रणाली की स्थापना करे जो निजी प्रयासों एवं निवेश में प्रोत्साहित करे तथा निर्धनों के अधिकारों की रक्षा कर सके।

सार्वजनिक निवेश में निवेश का महत्त्व

सार्वजनिक निवेश क षि क्षेत्र में उत्पादन, क षि व्यवसाय का विकास, ग्रामीण गैर फार्म रोजगार, कम खाद्य पदार्थों की कीमतें एवं प्रवासन के द्वारा ग्रामीण निर्धनता का उन्मूलन करता है। यद्यपि निवेश और इसके द श्य प्रभावों में अक्सर दीर्घकालीन अंतराल पाया जाता है, फिर भी क षि अनुसंधान, शिक्षा तथा ग्रामीण उपरीव्यय में निवश निर्धनता में कमी एवं क षि विकास में प्रोत्साहित करने में सबसे प्रभावशाली सिद्ध होती है।

तालिका - 1

कृषि के सार्वजनिक निवेश के प्रतिफल एवं इसके भारत, चीन में निर्धनता कम करने पर प्रभाव

	आर्थिक प्रतिफल*		निर्धनता प्रतिफल**	
क्षेत्र	चीन	भारत	चीन	भारत
अनुसंधान एवं विकास	9.59	13.45	6.79	84.5
सिंचाई	1.88	1.36	1.33	9.77
सड़कें	8.83	5.31	3.22	123.8
शिक्षा	8.68	1.39	8.80	41.00
बिजली	1.26	0.26	2.27	3.8
निर्धनता ऋण	–	1.09	1.13	17.8

* चीन के लिए, युआन कुल ग्रामीण सकल घरेलू उत्पाद/युआन व्यय और भारत के लिए, रुपये के लिए रुपये का व्यय।

** चीन के लिए, गरीबों की संख्या में कमी/10,000 युआन व्यय, तथा भारत के लिए, गरीबों की संख्या में कमी/मिलियन रुपये खर्चे

स्रोतः फैन, झांग और सांग, 2002

क्षेत्रीय विश्लेषण सुझाव देता है कि कम सहायतावाले क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश के फलस्वरूप केवल खर्चे की जानेवाली प्रति इकाई के फलस्वरूप गरीबी कम करने में अधिकतम सहायता ही नहीं मिलती, बल्कि इसके फलस्वरूप अधिकतम आर्थिक प्रतिफल भी प्राप्त होते हैं।

पिछले दशक में इस तथ्य का महत्त्व बढ़ता गया है कि जहाँ अच्छी सरकार, अच्छा कार्य करती है वहाँ निर्धनता में कमी तथा दीर्घकालीन विकास भी संभव हुआ है। अच्छी सरकार के अच्छे कार्य तभी संभव होते हैं जब सरकारी प्रोग्रामों में पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्व की भावना पाई जाती है। परंतु सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थाओं की निर्धनों के पक्ष की कृषि विकास की प्रभावशीलता इसलिए प्रभावित होती हैं क्योंकि इस क्षेत्र में अक्सर विभिन्न मंत्रियों या एजेंसियाँ अधिक केंद्रीकरण की मात्रा में कार्य करती है।

नीति एवं संस्थागत क्षमता विकास के अहम मुद्दे
(Key Issues in Policy and Institutional Capacity Development)

नीति एवं संस्थागत सुधार में नई पीढ़ी के निवेश, भूतकाल की तुलना में अधिक आपत्तिजनक होंगे। हमें अधिक ध्यान सुधारों की वास्तविक लागू करने पर, स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप एवं बाज़ार परिस्थितियों के विकास के लिए देना चाहिए। अब उच्च गुणवत्ता की सूचना, सहायक नीति निर्माण के विश्लेषण एक निवेश की पहले की तुलना में अधिक आवश्यकता है। पीछे के अनुभवों पर आधारित सुधरे हुए नियमन तथा नीति के प्रभावों के मूल्यांकन की भी बहुत ही आवश्यकता होती है।

1. **सरकार की बदलती भूमिका (Changing Role of Government):** कई सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थाएँ बहुत बड़ी एवं आधिक्यरूप से अति केन्द्रित हैं, यद्यपि ये भूतकाल

में प्रभावशाली रहे हों, परंतु नई भूमिका में अब अनुप्रयुक्त है। कई सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियाँ अभी भी उन क्षेत्रों में कार्य करती हैं जहाँ निजी क्षेत्र अधिक कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। जैसे विपणन एवं आगतों की आपूर्ति के क्षेत्र में। परंतु निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने संबंधित क्षमता तथा प्रोत्साहन की कमी होती है। बाजार विकास तथा क षि विकास को प्रोत्साहित करने के लिए गैर आधारभूत सार्वजनिक कार्यों एवं बाकी के प्रोग्रामों का विकेंद्रीकरण अति आवश्यक होता है। सरकार की भूमिका एक संयोजककर्ता के रूप में बदल गई है जो बाजारी क्षेत्रों में निजी क्षेत्रों की हिस्सेदारी की अन्तःक्रिया को विकसित करके उन पर नियम भी लागू कर सके। यद्यपि वर्तमान की विकास संबंधी युक्तियों में निजी क्षेत्र के बढ़ते नेत त्व की आवश्यकता होती है तथा सार्वजनिक क्षेत्र की घटती भूमिका होती हैं, परंतु फिर भी सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों की गुणवत्ता तथा कार्यकुशलता एक आधुनिक एवं प्रतिस्पर्धा क षि के लिए अति आवश्यक है। मुख्य उद्देश्य है–

(i) अधूरे सुधारों को पूरा करने हेतु, सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरशाही में कमी, राज्यों के निगमों का निजीकरण, नीचे के स्तरों के लिए प्रोग्रामों का विकास।

(ii) राष्ट्रीय क षि विकास युक्तियाँ तथा नए क्षेत्र के विकास के प्रोग्राम से मिलती हुई नीतियों को बनाना।

(iii) उत्पादकों एवं निजी क्षेत्र की कार्यप्रणाली का विकास करना ताकि वो नीति, प्रोग्राम बनाने एवं सार्वजनिक निजी उद्यमों की सहायता में हिस्सेदारी कर सके।

(iv) सरकार के लिए संस्थाएँ एवं क्षमताओं का विकास करे जो नियमन, सूचना, नीति एवं सौदा करने संबंधी कार्यों का विकास करे जो कुशल बाजारों की स्थापना को प्रोत्साहित करे ताकि वो अंतर्राष्ट्रीय समझौतों एवं स्तरों के अनुकूल बन सके।

2. **अन्तर्मंत्रालय सहयोग (Inter Ministiral Collaboration):** क षि क्षेत्र की नीतियों का विकास एवं उन्हें लागू करना विभिन्न क षि मंत्रालय के बाहर विभिन्न मंत्रालयों एवं एजेंसियों पर निर्भर करता है जिनका संबंध सार्वजनिक वित्त, खाद्य सुरक्षा, व्यापारिक समझौतों, प्राक तिक संसाधन प्रबंधन, विज्ञान एवं तकनीकी से होता है। निर्धन के पक्ष की क षि विकास से संबंधित प्रभावशाली युक्ति में सार्वजनिक एजेंसियों का क षि विकास में मजबूत संलग्नता एवं संचार की व्यवस्था होनी चाहिए (जैसे पर्यावरण, भूमि, श्रम, वित्त, उद्योग, व्यापारिक मंत्रालय) इन उपरोक्त क्षेत्रों में निजी क्षेत्र से जुड़े स्वार्थ भी इसे और जटिल बना देते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में सरकार को समन्वयकर्ता की भूमिका लागू करनी चाहिए जिसमें नियमन के स्थान पर प्रोत्साहन को बढ़ावा, विभिन्न मंत्रालयों, एजेंसियों, निजी क्षेत्र में आपसी सहयोग तथा विभिन्न क्षेत्रों में भी समन्वय की आवश्यकता होती है।

3. **सार्वजनिक-निजी साझेदारी (Public Private Partnership):** अब यह निश्चित तौर पर स्पष्ट हो जाता है कि अगर निजी क्षेत्र को सार्वजनिक सेवाओं के तत्वाधान में भी शामिल किए जाए तो अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। सरकार के कई कार्यों का विशिष्ट निजी क्षेत्र की फर्मों एवं गैर-सरकारी संगठनों (NGO's) को प्रतिस्पर्धा नीलामी के अंतर्गत ठेके पर दिया जा सकता है। सरकार, निजी क्षेत्र के साथ तथा उत्पादक संगठनों, गैर सरकारी संगठनों, व्यापारिक संघों के साथ कुछ क्षेत्रों में जैसे- नीति निर्यात, खाद्य सुरक्षा नियमन तथा सामाजिक उपरीव्यय के प्रावधान से साझेदारी कर सकती है। सरकार को सार्वजनिक उपयोगितावाली सेवाओं वित्तीय

संभावना तथ्य पर आधारित होना चाहिए कि व्यावसायिक एवं सामाजिक उद्देश्य अलग-अलग रखे जाने चाहिए।

4. **क्षेत्र के अनेक उद्देश्य** (Multiple Goods for the Sector): सार्वजनिक नीति के निर्माण में बहुत ही कठिन चयन से संबंधित सीमित साधनों के विभिन्न वैकल्पों एवं प्राथमिकताओं में चुनाव की आवश्यकता होती है। क षि मंत्रालय की परंपरागत प्राथमिकता खाद्य उत्पादन एवं आत्मनिर्भरता पर ही होती है। इस उद्देश्य के आधार को विस्त त करके इसके निर्धनता उन्मूलन एवं पर्यावरण पहलुओं को भी शामिल किया जाना चाहिए। यद्यपि खाद्य सुरक्षा एक मुख्य उद्देश्य रहेगा, परंतु हम निर्धन से संबंधित सुरक्षा एवं पौष्टिक आहार भी उपलब्धता की ओर अधिक ध्यान देना होगा। गरीबी उन्मूलन के लिए रोजगार में व द्धि एवं अधिक-से-अधिक आय के अवसरों के साथ पूर्व निर्धारित सामाजिक सुरक्षा के पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए। गरीबी उन्मूलन के लिए, निजी क्षेत्र द्वारा संचालित विस्त त आधारित विकास ही अक्सर एक प्रभावशाली माध्यम होता है। सार्वजनिक व्यय को, आधारभूत सार्वजनिक वस्तुओं के प्रावधान को प्रोत्साहन करना चाहिए ताकि निजी निवेश में व द्धि हो सके। परंतु इस प्रक्रिया में निर्धन वर्ग की आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं की ओर ध्यान केंद्रित करना होगा।

इसके साथ पर्यावरण पहलुओं, (जो कि क षि विकास प्रयासो का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं), क षि उत्पादन में प्राक तिक साधनों के प्रयोग हेतु नीतियाँ एवं संस्थाओं को एक मजबूत आधार प्रदान करना चाहिए। उत्पादन प्रणाली में पर्यावरण लागत एवं लाभ के आधार को लागू करने चाहिए तथा पर्यावरण सेवाओं को प्रदान करनेवाले बाज़ार का विकास किया जाना चाहिए।

5. **वित्तीय सहायता में सुधार** (Reforms on Subsidies): यद्यपि विकसित देश क षि क्षेत्र में वित्तीय सहायता प्रदान करने की नीति को निरंतर बनाते रहते हैं, विकासशील देशों की क्षेत्रीय कुशलता एवं समानता को बढ़ाने के लिए क षि प्रोत्साहित नीतियाँ (कीमत समर्थन, विदेशों से संरक्षण एवं वित्तीय सहायता) का पुनः मूल्यांकन करना चाहिए। आगतों पर वित्तीय साहयता, दुर्लभ साधनों की प्रयोग करने की कुशलता (सस्ता सिंचाई का पानी) को हतोत्साहित कर सकती है, पर्यावरण लागते भी हो सकती है (कीटनाशकों पर वित्तीय सहायता), क षि अनुसंधान एवं उपरीव्यय जैसे सार्वजनिक निवेश से मिलनेवाले ऊँचे प्रतिफल से संबंधित आवश्यक सीमित साधनों का अपव्यय होता है।

विभिन्न अध्ययनों ने स्पष्ट किया है कि वित्तीय सहायता अधिकतर बड़े उत्पादकों को ही प्राप्त होती है और वो सामाजिक समानता के उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पातीं। अन्त में दीर्घकालीन द ष्टिकोण से, वित्तीय सहायता के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा शक्ति कम होती है क्योंकि ये भूमि के मूल्यों में अत्यधिक पूंजी शामिल होने से उत्पादकों की उत्पादन लागत में व द्धि हो जाती है। यद्यपि सहायता सामान्यतः निहित स्वार्थों की बुनियाद का निर्माण कर देती है। अतः इन वित्तीय सहायता को हटाना एक कठिन समस्या है उत्पन्न कर देती हैं क्योंकि उत्पादकों को बदली परिस्थितियों में उचित सामंजस्य स्थापित करने के लिए पर्याप्त समय और साधनों की आवश्यकता होती है। जिस देशों ने इन परिर्वतन को सफलतापूर्वक लागू किया है उन्हें अधिक गतिशील एवं प्रतिस्पर्धात्मक क षि क्षेत्र प्राप्त हुआ है।

भारत में वित्तीय सहायता के लाभों का असमान वितरण
(India – Inequitable Distribution of Subsidy Benefits)

भारतीय सरकार एवं अधिकतर राज्य सरकारों ने हरित क्रांति के समय से क षि आगतों पर वित्तीय सहायता दी है। भारत में 1990 के दशक में क षि के सकल घरेलू उत्पाद में क षि के आगतों पर वित्तीय सहायता औसतन 9 प्रतिशत रही है। पंजाब राज्य में सबसे अधिक वित्तीय सहायता सिंचाई के लिए बिजली (राज्य वित्तीय सहायता) एवं खाद पर भारतीय सरकार की वित्तीय सहायता प्रदान की है। बड़े किसानों को इन वित्तीय सहायता से अधिकतम हिस्सा प्राप्त होता है। छोटे किसानों द्वारा प्राप्त वित्तीय सहायता का हिस्सा उन द्वारा खेती की गई कुछ भूमि के क्षेत्र से भी कम होता है और इसके एकदम विपरीत स्थिति बड़े किसानों के लिए सत्य रूप से लागू होती है। ऐसी वित्तीय सहायता के फलस्वरूप पर्यावरण की उन्नति होती है (मुख्य रूप से भूमि जल के अधिशोषण से)।

1995-96 में फार्म आकार के आधार पर पंजाब में वित्तीय सहायता का वितरण

हेक्टेयर	1 से कम	1-2	2-4	4-6	6 से अधिक
फार्म के आकार की श्रेणी (%)	18.6	16.8	29.3	16.8	18.5
भूमि क्षेत्र की श्रेणी (%)	2.9	5.8	20.1	21.0	50.2
खाद की वित्तीय सहायता का (%)	2.5	4.8	18.6	21.9	52.2
सिंचाई की बिजली की वित्तीय सहायता का (%)	1.3	4.1	17.4	22.5	54.7
नहर के पानी की वित्तीय सहायता का (%)	1.4	3.6	16.9	23.0	55.1

स्रोतः सिंह 2003

1. **तकनीकी एवं मानवीय पूँजी की कमी (Lack of Technical and Human Capital):** जटिल प्रोग्रामों को कुशल ढंग से लागू करने के लिए सरकार के पास अक्सर प्रशिक्षित स्टाफ, औजार एवं प्रबंधन के उपकरण की कमी होती है। सेवा में आने के बाद भी प्रशिक्षण के लिए धन की निरंतर कमी तथा इसके प्रति परंपरागत विचारधारा के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के लोगों की जानकारी एवं कला कौशल में जरूरतमंद व द्धि नहीं हो पाती, जो कि निजी क्षेत्र में बहुत अधिक होती है। भूतकाल में समस्याओं को निर्माण करने वाले प्रयास अक्सर असफल रह जाते हैं क्योंकि सरकारी नौकरी में तनख्वाह बहुत ही कम होती है और प्रोत्साहन के लिए वैकल्पों की कमी होती है। परिणामस्वरूप जो भी सबसे अच्छा-प्रशिक्षित स्टाफ था, वह निजी होना एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रोजगार प्राप्त करने में लग गया। ऐसी परिस्थितियों में, भविष्य के सुधारों एवं संस्थागत विकास के लिए आवश्यक प्रशिक्षित मानवीय संसाधन को तैयार करके उन्हें देश के अन्दर ही अच्छे वैकल्पों एवं अवसरों को प्रदान करके रोकना होगा।

2. **सार्वजनिक व्यय प्रबंधन मे क्षमता बनाना (Building Capacity in Public Expenditure Management):** बहुत सारे देशों में, सार्वजनिक व्यय प्रबंधन में क षि क्षेत्र में काफी कम क्षमता पाई जाती है। अतः इस क्षमता की ओर अधिक मजबूत बनाने के

लिए हमें नीति निर्माण तथा लागतों, लक्ष्यों पर आधारित बजट, बजट के लागू करने संबंधी प्रबंधन पर और ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

3. **निवेश की भविष्य की प्राथमिकताएँ (Future Priorities for Investment):** नीति एवं संस्थागत क्षमता में भविष्य संबंधित नीति निवेश के लिए स्थिर तथा सार्वजनिक क्षेत्र के सक्षम, निपूर्ण संस्थाएं, बाजार के विकास तथा बाजार की असफलताओं को दूर करने के लिए निरंतर प्रयासों के लिए आवश्यक धन की आवश्यकता होती है। इन प्रयासों के लिए आवश्यक धन की मात्रा यद्यपि बहुत अधिक नहीं होती परंतु निरंतर सहायता अति आवश्यक होती है।

4. **कषि युक्ति का विकास एवं लागू करना (Developing and Implementing Agricultural Strategy):** निर्धन के पक्ष के विकास से सम्बन्धित निवेश के लिए एक विस्त त एवं व्यापक कृषि क्षेत्र युक्ति की आवश्यकता होती है। ऐसी युक्ति निर्धनता कम करने सम्बन्धी प्रोग्राम का एक अहम हिस्सा हो सकती है। इस क्षेत्र की भविष्य की भूमिका के लिए, धन देनेवाली संस्थाओं सरकार के प्रयासों की ओर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए, इधर इनके द्वारा दिए जाने वाले प्रोत्साहन पूरक होने चाहिए। युक्ति एवं प्राथमिकता को बजट बँटवारे में परिवर्तन करना, अक्सर क्षेत्र युक्ति को बनाने की तुलना में अधिक कठिन प्रक्रिया होती है। वजह के बँटवारे की प्रक्रिया का आयोजन आवश्यक तौर पर अच्छी तरह से किया जाना चाहिए, जो कि अब आशाएँ तथा विभिन्न नीतियों की प्राथमिकताओं के लिए आवश्यक अर्थिक सहयोग के वास्तविक अन्दाजों पर भी आधारित होना चाहिए।

5. **सांख्यिकीय तथा सूचना सेवाओं के आधार (Strengthening Statistical and Information Services):** कृषि क्षेत्र के आँकड़ों की गुणवत्ता, बहुत सारे देशों में घटती जा रही है; इसके साथ ही इस प्रणाली के लिए कृषि बजट की मात्रा भी कम होती जा रही है। निजी, एवं सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश का मार्गदर्शन करने के लिए एवं अच्छे आधारवाली नीति निर्माण से सम्बन्धित सही सूचना अति आवश्यक होती है। कृषि जनगणना, उत्पादन एवं पैदावार सर्वेक्षण, तथा बाजार की सुचना सरकार, उत्पादन को एवं कृषि व्यवसाय के निर्णय को बेहतर बना सकती है। बाजार सूचना प्रणाली विशेषकर निजी क्षेत्र के कुशल कार्य प्रणाली के लिए भी अति आवश्यक है आँकड़ों के संकलन के लाभों को अधिकतम लाभ करने के लिए सूचना का चारों ओर फैलाव करना भी आवश्यक होता है, नई सूचना एवं संचार तकनीकी, आँकड़ों के संकलन के बिखराव एवं गुणवत्ता में सहायता कर सकती है।

6. **समायोजन एवं जोखिम के प्रबन्धन को आसान बनाना (Factilating Adjustment and Managing Risk):** कई देशों में एक अति आवश्यक मुद्दा यह है कि बाजार एवं व्यापार उदारीकरण की घटनाएँ जो कि कीमतों को प्रभावित करती है, जिसके फलस्वरूप उद्योगों में लाभदायक एवं प्रतिस्पर्धा में परिवर्तन होता है। के समायोजन हेतु उत्पादकों का सहयोग करना होता है इसके लिए कृषकों (मुख्यतः छोटे) को सरकारी सहायता की आवश्यकता पड़ सकती है। ताकि कृषक उन कार्यों को कर सके जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो सके या कई मामलों मे तो कृषि व्यवसाय भी छोड़ना पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त कई परिस्थितियों, अन्य बढ़ानेवाले प्रोग्राम भी सहायता कर सकते हैं परन्तु इनका भुगतान वर्तमान आगतों के प्रयोग, उत्पादन

एवं कीमतों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए, जिसके फलस्वरूप उत्पादन में विकृति उत्पन्न न हो सके। इसी तरह कीमतों, आधुनिक सूचना तक संचार तकनीकियाँ उत्पादकों को संक्रमण के दौरान होनेवाले जोखिम का सामना करने के लिए बाजार पर आधारित जोखिम प्रबन्धन में काफी सम्भावनाएँ विद्यमान होती है।

7. **प्रोग्रामों तथा शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralizing Programs and Authority):** कृषि उत्पादकों के सशक्तिकरण के लिए निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्थानीय भागीदारों का तरीका सामान्यतः अपनाया जाता है। यद्यपि कई बार स्थानीय सरकारी अधिकारी कोषों व्यय और कोषों के दुरुपयोग भी कर लेते हैं। अतः प्रभावशील विकेन्द्रीकरण के लिए वित्तीय उत्तरदायित्व एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। अगर स्थानीय सरकार एवं निजी संगठनों को विकेन्द्रीकरण कार्यों को प्रभावशाली ढंग से निभाना है, तो उनके पास पर्याप्त आय होनी चाहिए यद्यपि स्थानीय सरकारों का 'स्थानीय' सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था। प्रावधान करने में भूमिका होती हैं, परन्तु कई राष्ट्रीय या क्षेत्रीय सार्वजनिक वस्तुएँ भी होती हैं, जिन्हें स्थानीय सरकार तकनीकी अक्षमता या रुचि के कारण उपलब्ध नहीं कर पाएगी।

8. **भागीदारी प्रणाली का विकास (Developing Participatory System):** भागीदारी के फलस्वरूप दाँव लगानेवालों का प्राथमिकता निर्धारण पर प्रभाव एवं नियन्त्रण बढ़ाती हैं, तथा सार्वजनिक वस्तुएँ और सेवाओं की उपलब्धता भी बढ़ाती हैं। इसके परिणामस्वरूप सरकार की जिम्मेवारी एवं पारदर्शिता में सुधार होता है तथा विकास सम्बन्धित क्रियाओं की आर्थिक कुशलता और सर्वत्र शासन में भी व द्धि होती है। ग्रामीण उत्पादक संगठन भी कृषि निर्णयों के लेने में एक अहम भूमिका निभा सकती हैं, कृषि व्यावसायिक व्यापार संगठन, एक दूसरा मुख्य वर्ग है जो इस क्षेत्र को प्रभावित कर सकता है।

9. **निवेश में व द्धि (Scaling up Investment):** निर्धन वर्ग के पक्ष में कृषि विकास के कार्यक्रमों को बनाने एवं लागू करने के लिए नीति और संस्थागत क्षमता में सुधार करना, एक निर्णायक कदम होता है। इस क्षेत्र की प्रगति की देखभाल करने के लिए कुछ सूचक इस प्रकार से हैः—

    1. मजबूत कृषि क्षेत्र के विकास तथा निवेश युक्ति का अस्तित्व में होना
    2. कृषि एवं कृषि व्यवसाय में निजी निवेश कम स्तर, तथा इस क्षेत्र में निवेश के वातावरण का सर्वेक्षण
    3. कृषि नीति के निर्माण एवं प्रोग्राम बनाने तथा इनको लागू करने के ग्रामीण उत्पादन संगठन, कृषि व्यवसाय संगठन की सीमा एवं गुणवत्ता
    4. कृषि क्षेत्र, कृषि उत्पादन एवं बाजारों में सांख्यिकीय सूचना की उपलब्धता एवं गुणवत्ता
    5. नये प्रकार होनेवाले क्षेत्रों जैसे खाद्य सुरक्षा, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, आदि के लिए प्रभावशाली नियमन प्रणाली
    6. कृषि के लिए संरक्षण नीतियां एवं उदारीकरण सहयोग की सीमा

नीति एवं संस्थागत क्षमता बनाने के लिए तथा निवेश में व द्धि करने से पहले निवेश सुझाव बनाने के लिए विश्लेषणात्मक कार्य एवं संवाद नीति की विशेष रूप से आवश्यकता होती है।

अध्याय-20
कृषि एवं विदेशी व्यापार
(Agricultural and Foreign Trade)

भूमिका
(Introduction)

आजादी से पहले कपास व जूट भारतीय कृषि उत्पाद निर्यात का मुख्य हिस्सा थे। देश के बँटवारे ने कपास व जूट का उत्पादन करनेवाले क्षेत्रों को भारत से अलग कर दिया। इससे कृषि उत्पादों में विदेशी व्यापार को भारी धक्का लगा। इतना ही नहीं हमें खाद्यान्नों का आयात तक करना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय 1947 में भारत का विदेशी व्यापार उपनिवेशवादी व्यापार का रुप लिए हुए था। इसका अधिकाँश व्यापार ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ होता था। भारत के निर्यात की वस्तुएँ थीं - जूट, चाय, मसाले, मैंगनीज, अभ्रक और सूती वस्त्र। आयात मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं का ही होता था।

स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत का विदेशी व्यापार
(Foreign Trade of India after Independence)

स्वतन्त्रता के पश्चात् विदेशी व्यापार की यात्रा, निर्यात व आयात की जानेवाली वस्तुओं की संख्या व गुणवत्ता में संरचनात्मक व ढाँचागत परिवर्तन हुए। भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा एवं आकार में निरन्तर व द्धि होती गई परन्तु व्यापार सन्तुलन भारत के प्रतिकुल ही रहा। भारत के विदेशी व्यापार एवं उसके बदलते स्वरूप को प्रतिबिम्बित करनेवाले आयात एवं निर्यात को निम्न सारणी में प्रदर्शित किया जा सकता है-

सारणी 1: योजनाकाल में भारत का विदेशी व्यापार

(करोड़ रुपये)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार सन्तुलन
1950-51	606	608	-2
1960-61	642	1122	-480
1970-71	1,535	1,634	-99
1980-81	6,711	12,549	-5,838
1990-91	32,553	43,198	-10,645
1995-96	1,06,353	1,22,678	-16,325
1999-2000	1,59,561	2,15,236	-55,675
2000-01	2,03,571	2,30,873	-27,302
2001-2002	2,09,018	2,45,199	-36,181
2002-03 (अप्रैल-दिसम्बर)	1,85,211	2,13,325	-28,014

Source: Economic Survey, 2002-03. p. S-75

सारणी से स्पष्ट है कि योजनाकाल में भारत के विदेशी व्यापार में पर्याप्त व द्धि होने के साथ-साथ इसके व्यापार सन्तुलन में घाटा भी निरन्तर बढ़ता गया। खाद्यान्न संकट और विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए देश में आयात बढ़ता गया और साथ ही निर्यात में व द्धि का भी प्रयास होता रहा परन्तु कुल व्यापार में निर्यातों की तुलना में आयातों के मूल्य अधिक रहे हैं। 1950-51 में देश के निर्यातों का मूल्य 606 करोड़ रु० तथा आयातों का मूल्य 608 करोड़ रु० था। वर्ष 2001-02 में देश का कुछ निर्यात मूल्य 2,09,018 रु० आयात मूल्य 2,45,199 करोड़ रु० रहा।

उपरोक्त सारणी से यह भी स्पष्ट है कि 1950-51 से 2000-01 के मध्य देश के निर्यात व्यापार के मूल्य में लगभग 345 गुना व द्धि हुई जबकि आयात व्यापार का मूल्य बढ़कर 403 गुना हो गया।

स्वतंत्रता के उपरान्त मात्र दो वर्षों 1972-73 तथा 1976-77 में भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल रहा जबकि शेष वर्षों में प्रतिकूल ही रहा।

विश्व व्यापार में भारत के निर्यात का प्रतिशत 1948-49 में 2.2 प्रतिशत था जो घटकर 1999 में 0.6 प्रतिशत रह गया।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना
(Composition of India's Foreign Trade)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। भारत के आयात एवं निर्यात के ढाँचे को निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है-

भारत के प्रमुख आयात

वर्तमान समय में देश के प्रमुख आयात हैं - पेट्रोलियम एवं स्नेहक पदार्थ, अनाज एवं अनाज के उत्पाद, उर्वरक एवं रसायन पदार्थ, पूँजीगत वस्तुएँ एवं मशीनरी, लोहा एवं इस्पात, अलौह धातुएँ, कपास, जूट तथा ऊन के रेशे, मोती एवं बहुमूल्य रत्न आदि। इसके अतिरिक्त खाद्य तेल, विद्युत अपकरण, कागज तथा कच्चे रबर आदि का भी देश में आयात किया जाता है।

वर्ष 2001-02 में देश के कुल आयात में खाद्य एवं उससे सम्बन्धित उत्पाद का अंश 4.5 प्रतिशत, कोयला एवं पेट्रोलियम पदार्थों का अंश 29.5 प्रतिशत, उर्वरक का अंश 1.3 प्रतिशत, कागज एवं गत्ते का अंश 0.9 प्रतिशत, पूँजीगत वस्तुओं का अंश 11.4 प्रतिशत अवर्गीकृत वस्तुओं का अंश 22.2 प्रतिशत तथा अन्य आयातों का अंश 30.2 प्रतिशत रहा।

विगत कुछ वर्षों में देश में खाद्यान्नों के आयात में उतार-चढ़ाव जारी रहा, जबकि मशीनों एवं अन्य पूँजीगत वस्तुओं, पेट्रोलियम एवं स्नेहक पदार्थों, उर्वरक एवं रसायनों, लोहा एवं इस्पात, अलौह धातुओं तथा रत्नों के आयात में भारी व द्धि हुई है।

भारत के प्रमुख निर्यात

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के निर्यात व्यापार को बढ़ाने का सतत प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप परम्परागत निर्यात के साथ-साथ गैर-परम्परागत निर्यात की मात्रा में भी पर्याप्त व द्धि हुई है। वर्तमान समय में भारत के निर्यात की प्रमुख वस्तुओं को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है-

(क) **कृषि एवं सम्बद्ध उत्पादः** जिसमें कॉफी, चाय, खली, तम्बाकू, काजू, गरम मसाले, चीनी, कपास, चावल, मछली और मछली से बनी वस्तुएँ, मांस एवं मांस से बनी वस्तुएँ, फल, सब्जियां तथा दालें सम्मिलित हैं।

(ख) **अयस्क और खनिजः** जिसमें अभ्रक तथा लौह अयस्क शामिल हैं।

(ग) **निर्मित वस्तुएँः** इसमें सूती वस्त्र तथा सिलेसिलाए कपड़े, जूट से बनी वस्तुएँ, चमड़ा और जूते, हस्तशिल्प (जिसमें रत्न और आभूषण भी शामिल हैं), रसायन एवं इन्जीनियरिंग वस्तुएं तथा लौह एवं इस्पात आदि।

(घ) **खनिज, ईंधन तथा स्नेहक पदार्थः** स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत सूती कपड़ा, जूट तथा उससे चाय, कच्चा लोहा, मसाले, काजू तथा खली आदि का निर्यात करता था। परन्तु अब नवीन वस्तुओं यथा - इन्जीनियरिंग वस्तुएं, लोहा एवं इस्पात, रत्न एवं आभूषण, सिलेसिलाए वस्त्र, मैंगनीज, अभ्रक, रासायनिक पदार्थ, चीनी आदि का निर्यात करने लगा है।

प्रमुख निर्यातों का अंश

वर्ष 2001-02 में भारत के कुल निर्यातों में कृषि एवं सम्बन्धित वस्तुओं का हिस्सा 13.4% अयस्क एवं खनिज का हिस्सा 2.9% निर्मित वस्तुओं का हिस्सा 76.1 प्रतिशत, कच्चा तेल एवं पेट्रोलियम उत्पाद का हिस्सा 4.8 प्रतिशत तथा अन्य वस्तुओं का हिस्सा 2.8 प्रतिशत रहा।

भारत का विदेशी व्यापार मुख्य रूप से यूरोपीय संघ (इसमें बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैण्ड, यूनाइटेड किंगडम शामिल हैं), उत्तरी अमेरिका (कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका), आस्ट्रेलिया, जापान, पेट्रोलियम निर्यातक देश संगठन (इसमें ईरान, ईराक, कुवैत, सऊदी अरब आते हैं), पूर्वी यूरोप (रूस, रूमानिया) तथा अल्पविकसित देशों (जिसमें अफ्रीका, एशिया, लैटिन अमेरिका व करेवियन शामिल हैं) के साथ होता है।

कृषि वस्तुओं का विदेशी व्यापार
(Foreign Trade of Agricultural Products)

भारत जैसे देश के आर्थिक विकास के कृषि प्रधान वस्तुओं का निर्यात ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि विकास प्रक्रिया के लिए आवश्यक विदेशी पूंजी व अन्य विदेशी वस्तुओं की पूर्ति के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध इन्हीं कृषि प्रधान वस्तुओं के उत्पादन व निर्यात बढ़ाकर किया जा सकता है।

कृषि उत्पादों का निर्यात

भारत के कृषि निर्यात को मोटेतौर पर तीन श्रेणियाँ अर्थात् (क) कच्चे उत्पाद, (ख) अर्धनिर्मित उत्पाद तथा (ग) संसाधित और खाने के लिए तैयार उत्पाद। निर्यातित कच्चे उत्पाद अनिवार्यतः कम मूल्य और अधिक मात्रा की प्रकृति के हैं जबकि अर्धनिर्मित उत्पाद मध्यम मूल्य और सीमित मात्रा के हैं तथा संसाधित खाने के लिए तैयार उत्पाद हैं- मोटे अनाज (अधिकांशतः चावल-बासमती और गैर बासमती), मसाले, खली/भूसी, तम्बाकू, चाय, कॉफी, काजू तथा समुद्री उत्पाद आदि। विगत कुछ वर्षों में देश के कुल निर्यात की तुलना में कृषि निर्यात का हिस्सा 13 से 20 प्रतिशत के बीच रहा है। वर्ष 1993-94 से 2001-02 के दौरान भारत के सकल कृषि निर्यात में कृषि उत्पादों के हिस्से को निम्न सारणी में प्रस्तुत किया जा सकता है-

सारणी 2: भारत कृषि उत्पादों का निर्यात (हजार करोड़ रु०)

वर्ष	देश का कुल निर्यात	कृषि उत्पादों का निर्यात	देश के कुल निर्यात में कृषि उत्पादों का हिस्सा
1993-94	69.75	13.05	18.7
1994-95	82.67	13.71	16.6
1995-96	106.35	21.14	19.8
1996-97	118.81	24.24	20.4
1997-98	130.10	25.42	18.8
1998-99	139.75	26.10	18.1
1999-2000	159.56	25.02	15.2
2000-01	203.57	28.58	13.5
2001-2002	209.02	29.31	13.4

Source: Economic Survey, 2002-03 and earlier issues.

उल्लेखनीय है कि देश के कुल कृषि निर्यात में समुद्री उत्पाद के निर्यात ने ऊर्ध्वमुखी प्रव त्ति को प्रदर्शित किया है जबकि अन्य कृषि उत्पादों के निर्यात में लगभग यथावत की स्थिति बनी रहती है।

भारत में कृषि उत्पादों के निर्यात विवरण को निम्न सारणी द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है -

सारणी 3: भारत में कृषि उत्पादों के निर्यात का वितरण

मद	2000-01		2001-02	
	मिलियन अमेरिकी डॉलर	कुल कृषि निर्यात का प्रतिशत	मिलियन अमेरिकी डॉलर	कुल कृषि निर्यात का प्रतिशत
1. चाय	432.6	7.2	360.5	6.1
2. काफी	259.4	4.3	229.6	3.9
3. चावल	644.3	10.7	665.5	11.3
4. गेहूँ	90.9	1.5	278.9	4.8
5. चीनी एवं शीरा	111.9	1.9	373.6	6.4
6. तम्बाकू	190.6	3.2	169.3	2.9
7. मसाले	354.4	5.9	313.9	5.3
8. काजू	411.4	6.9	345.4	5.9
9. कुसुम एवं तिल के बीज	130.9	2.2	127.9	2.2
10. गुआरगम खली	132.0	2.2	84.5	1.4
11. तेल खली	447.6	7.5	474.5	8.1
12. फल एवं सब्जियाँ	248.4	4.1	262.8	4.5
13. संसाधित फल	122.1	2.0	107.5	1.8

Contd...

14. मांस	321.7	5.4	250.2	4.3
15. समुद्री उत्पाद	1,396.8	23.2	1,236.4	21.1
16. अन्य	712.1	11.9	590.6	10.1
कुल कृषि निर्यात	6,004.0	100.00	5,871.1	100.00
देश का कुल निर्यात	44,560.2		43,826.7	
कुल निर्यात में कृषि निर्यात का अंश (%)	13.5		13.4	

स्रोतः आर्थिक समीक्षा, 2002-03, सारणी 8.25

उपरोक्त सारणी में प्रदर्शित है कि वर्ष 2001-02 में, देश से लगभग 5.9 बिलियन अमेरिका डॉलर मूल्य के कृषि उत्पादों का निर्यात किया गया जिसमें से 20 प्रतिशत से अधिक हिस्सा अकेले समुद्री उत्पादों का था। चावल, गेहूँ, चीनी, खली, चाय, काफी, काजू एवं मसाले अन्य महत्त्वपूर्ण उत्पाद हैं, जिनमें प्रत्येक का देश के कुल कृषि निर्यात में 5 से 10 प्रतिशत हिस्सा है।

वर्तमान कृषि वस्तु निर्यात देश के कुल सौदा निर्यात का लगभग 13.14 प्रतिशत।

विशेष निर्यात व्यापार में भारत का हिस्सा

कृषि उत्पादों के विश्वव्यापी निर्यात में भारत का हिस्सा अत्यल्प है। वर्तमान में विश्व निर्यात में भारतीय कॉफी का हिस्सा लगभग 3 प्रतिशत, चाय का हिस्सा लगभग 16 प्रतिशत, चावल का हिस्सा लगभग 10 प्रतिशत, मसालों का हिस्सा लगभग 11 प्रतिशत तथा मत्स्य उत्पादों का हिस्सा लगभग 2.5 प्रतिशत है। निम्न सारणी में विश्व निर्यात व्यापार में भारत के प्रमुख कृषि उत्पादों के हिस्से को प्रदर्शित किया गया है-

सारणी 4: विश्वव्यापी कृषि उत्पादों के निर्यात व्यापार में भारत का हिस्सा

(प्रतिशत)

कृषि उत्पाद	1970	1980	1990	1997	1999
1. चाय	33.4	27.7	22.1	18.5	18.8
2. मसाले	20.5	14.5	7.7	12.1	2.8
3. कॉफी	1.0	2.1	1.7	2.6	3.4
4. चावल	0.6	3.7	6.4	12.5	20.1
5. तम्बाकू	6.7	8.8	5.1	4.5	2.4
6. फल एवं सब्जियाँ	1.2	1.1	0.8	1.1	1.0
7. मांस एवं मांस से निर्मित वस्तुएँ	0.1	0.4	0.2	0.5	0.5
8. मत्स्य एवं मत्स्य उत्पाद	–	2.0	1.6	2.6	2.4

Source: Economic Survey, 2002-03 p. S-90-93

भारतीय कृषि निर्यात की समस्याएँ

भारत के निर्यात को कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ता है जैसे गुणवत्ता, स्तरीय ब्राण्ड, ग्रेडिंग, कमजोर आधारभूत ढाँचा आदि इसके अतिरिक्त बाजार सूचना, उत्पादों की गुणवत्ता

व प्रतिस्पर्धाशक्ति की कमी के कारण भी भारतीय निर्यात वस्तुओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कृषि उत्पादों का आयात

योजनाकाल के प्रारम्भ में भारत के आयात व्यापार में कृषि वस्तुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में किए गए निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप देश में कृषि का पर्याप्त विकास हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान समय में कृषि आयात देश के सकल आयात एक छोटा हिस्सा रह गया है। विगत कुछ वर्षों से खाद्य तेल कृषि आयात का सबसे बड़ा हिस्सा बना हुआ है जो देश के कुल कृषि आयात मूल्य का 50 प्रतिशत से भी अधिक है। इसके अतिरिक्त देश में कच्ची काजू की गिरी, मोटे अनाज (अधिकाँशतः गेहूँ), दालें, मसाले, चीनी, दूध एवं दुग्ध उत्पाद, फल, बादाम आदि कृषि उत्पादों का आयात किया जाता है। निम्न सारणी में वर्ष 1997-98 से 2000-01 के दौरान देश में हुए प्रमुख कृषि उत्पादों के आयात को प्रदर्शित किया गया है-

सारणी 5: भारत में कृषि उत्पादों का आयात

(मिलियन अमरीकी डॉलर)

मद	1997-98	कुल कृषि आयात का %	1998-99	कुल कृषि आयात का %	1999-2000	कुल कृषि आयात का %	2000-01	कुल कृषि आयात का %	2000-1-02	कुल कृषि आयात का %
मोटे अनाज	291.5	15.8	287.7	9.9	222	7.8	19	1.0	18.2	0.8
दालें	321.4	17.4	168.5	5.8	82	2.9	109	5.9	662.6	28.9
दूध और मक्खन	1.4	0.1	2.9	0.1	25	0.9	2	0.1	1.8	0.1
काजू गिरी	206.4	11.2	230.3	5.5	276	4.8	211	11.3	90.4	3.9
फल और बादाम	154.7	8.4	159.3	5.5	136	4.8	175	9.4	158.7	6.9
चीनी	126.5	6.9	264.1	9.0	256	9.0	7	0.4	6.8	0.3
तिलहन	0.7	–	2.0	0.1	4	0.1	2	0.1	0.3	0.0
वनस्पति तेल	743.9	40.3	1,803.9	61.8	1,857	65.0	1,334	71.8	1,355.6	59.1
कुल कृषि आयात	1,846.5	100.0	2,918.8	100.0	2,858	100.0	1,858	100.0	2,294.4	100.0
कुल का कुल आयात	41,484.5		42,388.7		49,671		50,536	–	54,413.3	
कुल आयात में कृषि आयात का प्रतिशत	4.5	–	6.9	–	5.8	–	3.7	–	4.5	–

Source: Economic Survey, 2002-03

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में मोटे अनाज और दालों के आयात में पर्याप्त गिरावट आई है जबकि खाद्य तेलों के आयात मूल्य में पर्याप्त व द्धि हुई है। वर्ष 1997-98 में मोटे अनाज और दालों का हिस्सा देश के कुल कृषि आयात में क्रमशः 15.8 प्रतिशत तथा 17.4 प्रतिशत था जो घटकर वर्ष 2000-01 में दालों का हिस्सा पुनः बढ़कर 28.8% हो गया। वर्ष 1997-98 में देश में वनस्पति तेलों का आयात कुल कृषि आयात का 40.3 प्रतिशत था जो बढ़कर वर्ष 2001-02 में 59.9 प्रतिशत हो गया।

उपरोक्त सारणी से यह भी स्पष्ट है कि वर्ष 1997-98 की अवधि के दौरान कृषि आयात देश के कुल आयात का 4 से 5 प्रतिशत के बीच रहा है। वर्ष 1996-97 में देश के कुल आयात में कृषि आयात का हिस्सा 3.7 प्रतिशत, 2001-02 में 0.8 प्रतिशत रहा।

उल्लेखनीय है कि वर्ष 1950-51 में भारत के आयात व्यापार में कृषि वस्तुओं का हिस्सा 46 प्रतिशत, 1970-71 में 26 प्रतिशत तक पहुँच गया था परन्तु 1973-74 से कुल आयात में कृषि पदार्थों का प्रतिशत पुनः बढ़ने लगा तथा 1975-76 में वह 40.5 प्रतिशत तक पहुँच गया। 1980 के पश्चात् देश में खाद्यान्न एवं उर्वरकों को उत्पादन बढ़ने से कृषि पदार्थों के आयात में कमी आना प्रारम्भ हो गई। देश खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर होता गया। हाल के वर्षों में देश के कुल आयात में कृषि आयातों का हिस्सा 4 से 5 प्रतिशत के आसपास बना रहा।

कृषि वस्तुओं पर आयात प्रशुल्क-दर

जिन आवश्यक जिंसों एवं अनिवार्यता की प्रकृति वाले कृषि वस्तुओं का उत्पादन देश में माँग की अपेक्षा कम होता है उन पर सामान्यता आयात शुल्क कम रखा जाता है। दालें इसका एक विशिष्ट उदाहरण हैं जिन पर वर्तमान आयात शुल्क शून्य है।

कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार की समस्याएँ एवं उनका निवारण

भारत में कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं-

1. आर्थिक विकास के कारण, प्रति व्यक्ति आय में व द्धि बढ़ता हुआ नगरीकरण तथा उपभोक्ता की प्राथमिकताओं में परिवर्तन से निर्यात योग्य वस्तुओं की घरेलू माँग तेजी से बढ़ी है और इसके फलस्वरूप इन वस्तुओं की घरेलू बाजार में ऊँची कीमत प्राप्त होती है और निर्यात करने की जोखिम उठाने में उदासीन हो जाते है।
2. विश्व बाजार में कड़ी प्रतिस्पर्धा के कारण हमारे परम्परागत निर्यात की वस्तुओं की माँग अस्थिर हो गई है।
3. जिन देशों के साथ भारत का कृषि निर्यात व्यापार होता है उनकी आधार नीति उदारवादी नहीं है। हमारे निर्यात हतोत्साहित हो जाते हैं।
4. भारत में कृषि उत्पादों के सम्बन्ध में सुरक्षित भण्डार की नीति निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
5. हमारे अधिकाँश कृषि उत्पादों की निम्न श्रेणी एवं ऊँची उत्पादन लागत के कारण प्रतिस्पर्धा शक्ति कम हो जाती है। देश के निर्यात सम्बन्धित उद्योग में आधुनिक यन्त्र, प्रौद्योगिकी जानकारी अपर्याप्त होने के कारण प्रतिस्पर्धाशक्ति कमजोर होती है।

इस तरह देश के कृषि वस्तुओं के निर्यात व्यापार बढ़ाने के मार्ग में कई कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें दूर करके निर्यात प्रोत्साहन की दिशा में निम्नलिखित उपाय किए जाने चाहिए-

1. देश में निर्यात योग्य कृषि वस्तुओं का तथा कृषि पर आधारित उद्योगों से निर्मित वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ाने के साथ उत्पादन लागत को कम कराकर उनकी किस्म सुधारने के लिए प्रयास करना होगा ताकि वे विश्व व्यापार की प्रतिस्पर्धा में टिक सकें।
2. जो वस्तुएँ विदेशी मुद्रा अर्जित करने में सहायक होती है उनके घरेलू उपयोग को नियन्त्रित रखना होगा ताकि इनकी अधिक मात्रा निर्यात के लिए बच सके।
3. भारतीय वस्तुओं की विदेशी बाजार के विश्वनीयता बनने के लिए इनके नियमित माल की गुणवत्ता को नियन्त्रण करने के लिए भारतीय मानक संस्था द्वारा निर्धारित मापदण्डों को लागू करना चाहिए।
4. विश्व बाजार में उत्पादकों की प्रतिस्पर्धाशक्ति बढ़ाने के लिए प्रौद्यौगिक का विकास करना चाहिए ताकि उत्पादन लागत कम हो सके।
5. निर्यातित उद्योगों को कच्चा माल, वित्तीय सहायता, सूचना एवं प्रौद्योगिक उचित मात्रा में उपलब्ध करानी चाहिए।
6. कृषि वस्तुओं के निर्यात में विविधकरण किया जाना चाहिए इसके लिए नए बाजारों की खोज की जानी चाहिए।
7. निर्यात विपणन हेतु विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए।

विश्व व्यापार संगठन व कृषि उत्पादों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(WTO and International Trade in Agricultural Commodities)

कृषि को गैट वार्त्ता का हिस्सा सबसे पहले उरूग्वे दौर (1986) में बनाया गया। ये महसूस किया गया कि कृषि क्षेत्र को दी जानेवाली सब्सिडी कुछ देशों में (मुख्यतः विकसित देश) इतनी ज्यादा हैं कि ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। क्योंकि भारी वित्तीय सहायता के चलते विकसित देशों में कृषि उत्पादों की ज्यादा पूर्ति हो जाती है। ज्यादा पूर्ति से इनकी कीमत काफी ज्यादा गिर जाती है। इसके मोटे तौर पर दो नुकसान होते हैं यह एक तरफ तो विकासशील राष्ट्रों (जिनके निर्यात में कृषि उत्पादों का हिस्सा 50 से 55 प्रतिशत तक होता है) के द्वारा विकसित राष्ट्रों को किए जाने वाले कृषि निर्यात में बाधा डालती है वहीं दूसरी ओर इन्हें अपने ही देश में नुकसानदायी प्रतिस्पर्धा का डर पैदा हो जाता है। इसके मद्देनजर गैट कृषि पर समझौता (Agrreement on Agriculture – AOA) तय हुआ जिसका मूल उद्देश्य पक्षपातरहित अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार विकसित करना था। GATT में कृषि समझौता (Agreement on Agriculture) पर चर्चा 1986 से 1993 तक हुई। इस पर माराकेश में अप्रैल 1994 में हस्ताक्षर हुए। 1 जनवरी 1995 से यह 120 देशों द्वारा लागू कर दिया गया। कृषि व्यापार पर वार्ता WTO पर निरन्तर जारी प्रक्रिया है। इसके निम्नलिखित तीन आधार बिन्दु थे।

i. **बेहतर आयात पहुँच** (Improved Market Access) -
ii. **निर्यात सहायता को कम करना** (Cush Export Subsides) -
iii. **व्यापार को विकृत करनेवाली आर्थिक सहायता में उत्तरोत्तर कमी** (Progressive Reduction in Trade Distorting Subsidies) -

i. **बेहतर आयात पहुँच (Improved Market Access):** AOA (Agreement on Agriculture) में यह तय किया गया कि कृषि व्यापार सिर्फ शुल्क (Trarrif) के आधार पर ही किया जाएगा। अर्थात् अन्य व्यापार रुकावटों को खत्म कर दिया जाएगा। शुल्क दर में भी उत्तरोतर कमी करने का प्रावधान AOA में है। यह तय किया गया कि विकसित देशों में अगले छह सालों में (अर्थात् 31 दिसम्बर 2004 तक) शुल्क दर में 24 प्रतिशत कमी कर दी जाएगी। यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि भारत में कृषि उत्पादों पर व्यापार शुल्क दर (Tasift rate) पहले ही काफी कम थे। दिसम्बर 1999 में दुग्ध पाउडर, मक्की, चावल, अंगूर आदि के शुल्क पर और गहन चर्चा हुई। यह भी तय किया गया कि व्यापार द्वारा अगर घरेलू उत्पादकों पर गहरी चोट पहुँचती हो तो सरकार बचाव के लिए कदम उठा सकती है।

ii. **निर्यात सहायता को कम करना (Cush Export Subsides):** विकसित राष्ट्रों में निर्यात सहायता के लिये बजट में तय किए गए व्यय पर छहसाली में 36 प्रतिशत की कमी तथा शुल्कों में 21 प्रतिशत की कमी। विकासशील राष्ट्रों में बजट व्यय में दस सालों में 24 प्रतिशत की कमी तथा शुल्कों में 14 प्रतिशत की कमी। AOA में जिन आर्थिक सहायता का जिक्र है, उनका भारत पर कोई तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता। हम अब भी विपणन लागत, अन्तर्राष्ट्रीय परिवहन के भाड़ों आदि पर आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं।

iii. **व्यापार को विकृत करनेवाली आर्थिक सहायता में उत्तरोत्तर कमी (Progressive Reduction in Trade Distorting Subsidies):** इसका सम्बन्ध किसी भी सरकार द्वारा अपने किसानों को दी जानेवाली उस आर्थिक सहायता से है जो अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार को विकृत कर देती है। विकसित देशों में यह मदद बहुत ज्यादा है। इस घरेलू मदद को दो हिस्सों में बाँटा गया है।

   a. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभावित विकृत नहीं (या बहुत कम) करने वाली मदद। इस प्रकार की आर्थिक सहायताओं को ग्रीन बॉक्स (Green Box) तथा ब्लू बॉक्स (Blue Box) प्रावधानों में डाला गया है।

   b. **व्यापार को विकृत करनेवाली आर्थिक सहायता** - इसे एम्बर बॉक्स (Amber Box) प्रावधान में डाला गया है। इस तरह की आर्थिक सहायता का पैमाना "Total Agregate Measurement of Suport (Total AMS)" से लिया गया है, जो उत्पादन के कुल मूल्य का प्रतिशत माप होता है। इसमें उत्पाद विशिष्ट व गौर उत्पाद विशिष्ट दोनों तरह की आर्थिक सहायता शामिल हैं। AOA में विकसित देशों के लिए छह सालों में (1995-2000) 20 प्रतिशत की कमी तथा विकासशील देशों के दस सालों में (1995-2004) में 13 प्रतिशत की कमी निर्धारित की गई है। 1986-88 के वर्षों को आधार वर्ष लिया गया है। एक तय सीमा से नीचे आर्थिक सहायता में कमी की जरूरत नहीं है। भारत में उत्पाद विशिष्ट आर्थिक सहायता ऋणात्मक है जबकि गैर-उत्पाद विशिष्ट (Non-product Specific) आर्थिक सहायता जैसे बिजली, खाद, सिंचाई आदि पर सब्सिडी भी निर्धारित सीमा 10 प्रतिशत से काफी कम है।

आलोचना

AOA के कृषि उत्पादों के व्यापार उदारीकरण में वांछित प्रभाव नहीं पड़े हैं। इसलिए

विकासशील देशों को फायदा नहीं हो पाया है। कुछ विकसित देशों ने आर्थिक सहायताओं (सब्सिडी) को एक बॉक्स से दूसरे बॉक्स में डालकर विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों से बचने की कोशिश की है। विकसित देशों में घरेलू सहायता के उच्च स्तर के कारण कृषि में अति उत्पादन को बढ़ावा मिलता है। इससे कृषि उत्पादों के अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में गिरावट आती है। इसलिए विकासशील देशों को कृषि निर्यात में व द्धि के माध्यम से होने वाला फायदा न के बराबर ही हो पाया है।

विकसित देशों ने विकासशील देशों के उत्पादों पर सीमा के ऊँचे स्तर को बनाए रखा है। व्यापार के दूसरे प्रतिबन्धों का भी विकसित देश सख्ती से पालन करते हैं।

भविष्य की दिशा

कम आय वाले राष्ट्रों में कृषि आज भी रोजगार प्रधान करनेवाला सबसे बड़ा क्षेत्र है। इन देशों में यह 70 प्रतिशत तक रोजगार प्रदान करता है। मध्यम आय वाले राष्ट्रों के लिए यह आंकड़ा 30 प्रतिशत तथा उच्च आय वाले राष्ट्रों तथा OECD के उच्च आय राष्ट्रों में क्रमशः 34, 8 व 1.5 प्रतिशत था। 1996 में 55 विकासशील राष्ट्रों के कुल निर्यात में कृषि उत्पादों का हिस्सा 50 प्रतिशत से ज्यादा था। इस परिप्रेक्ष्य में भविष्य में विश्व व्यापार संगठन के स्तर पर कृषि में व्यापार सम्बन्धी निम्न बातों का ध्यान रखना जरूरी है।

i. विकासशील देशों में कुल व्यय का बड़ा हिस्सा खाद्य उपभोग पर खर्च होता है। इसलिए इन देशों में खाद्य सुरक्षा का मुद्दा सिर्फ आर्थिक न होकर सामाजिक व राजनीतिक स्तर पर काफी संवेदनशील हो जाता है। हम कह सकते हैं कि इन देशों में खाद्य सुरक्षा, राष्ट्रीय सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए विकासशील देशों को मिलकर "खाद्य सुरक्षा बॉक्स" (Food Security Box) बनाने की जरूरत है।

ii. विकासशील देशों में कृषि सब्सिडी में और ज्यादा लचीलेपन की जरूरत है। AMS (Aggregate Messurement of Support) में गैर उत्पाद विशिष्ट सब्सिडी को शामिल नहीं किया जाना चाहिए।

iii. AOA (Aggrement on Agriculture) की धारा 6.2 जो कृषि में निवेश, आगत (input) सब्सिडी तथा उत्पाद विशिष्ट सब्सिडी से सम्बन्धित है को AMS गणना से हटा देना चाहिए।

iv. विकासशील राष्ट्रों की "न्यूनतम बाजार पहुँच" (Minimum Market Access) से छूट मिलनी चाहिए। क्योंकि इस नियम की मदद से विकसित राष्ट्रों के कुछ कृषि उत्पाद तो हमारी मंडियों में आ ही जाते हैं, चाहे इनकी जरूरत विकासशील देश में हो या न हो।

v. AOA का क्षेत्र और ज्यादा विस्त त होना चाहिए। इसमें पटसन, रबर, सीसाल, वनों के प्राथमिक उत्पाद आदि को शामिल किया जाना चाहिए।

vi. AOA की धारा 13 विकसित देशों के पक्षधरता का स्पष्ट उदाहरण है। इस धारा के माध्यम से विकसित देशों द्वारा अपने किसानों को दी जानेवाली कुछ विशेष किसानों को दी जाने वाली कुछ विशेष रियाअतों के मामले में उनके विरुद्ध कार्यवाही में छूट मिल जाती है। इस धारा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

vii. Annexure 5 के सेक्शन A में कुछ विशिष्ट राष्ट्रों को कुछ उत्पादों के मामले में दिये गये विशिष्ट बर्ताव GATT की मूल भावना के खिलाफ हैं। इसे भी AOA से हटा दिया जाना चाहिए।

viii. विकासशील राष्ट्रों द्वारा गरीबी उन्मूलन, ग्रामीण विकास, ग्रामीण रोजगार व खेती के विविधीकरण पर उठाये कदमों पर WTO की तरफ से कोई बन्दिश नहीं होनी चाहिए।

इसके अलावा सरकार को चाहिए कि वो ऐसे कदम उठाये, जिससे भारतीय कृषि बाजारोन्मुखी तथा विश्वस्तर पर प्रतियोगी बन सके। इसके लिये छोटे से छोटे किसान तकनीक, उत्पादन लगात व बाजार की प्रक्रियाओं के बारे में शिक्षित किया जाना चाहिए। कृषि शोध, शिक्षा व विस्तार को प्राथमिकता देना होगा।

कृषि व्यवसाय में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका
(Role of Multinational Corporation's in Agribusiness)

कृषि व्यवसाय दो शब्दों से मिलकर बना है। i.e. कृषि-व्यवसाय (व्यवसाय को महत्त्व)

कृषि व्यवसाय से अभिप्रायः बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बड़े पैमाने पर उद्योगों की तरह खेती करने से है जैसे कीटनाशक एवं उर्वरकों का उत्पादन करनेवाली कम्पनियाँ i.e. ऐग्रोकेमिकल उद्योग (Agro-chemical Industries) कृषि व्यवसाय खाद्य उत्पादन का एक ऐसा द ष्टिकोण है जो भूमि को केवल आय के स्रोत की द ष्टि से देखता है। यह कृषि को केवल एक व्यवसाय तथा कृषकों को व्यावसायिक द ष्टिकोण से ही देखता है।

कृषि व्यवसाय का सम्बन्ध आधुनिक औद्योगिक कृषि की सम्पूर्ण व्यवस्था से है जिसके फसलों का उत्पादन तथा पशुपालन को प्रोत्साहन करना ही लम्बी श ंखला का केन्द्र बिन्दु होता है। पश्चिमी देशों एवं तीसरे विश्व के देशों में खाद्य पदार्थों के प्रकार इनमें उत्पादन की विधियाँ तथा अन्त में इनका प्रयोग करने सम्बन्धित निर्णयों का निर्धारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा ही किया जाता है। पश्चिमी देशों के किसानों ने पिछले 40 वर्षों में लागत एवं कीमतों में असन्तुलन के कारण, एक तटस्थ सा द ष्टिकोण अपनाया है क्योंकि एक ओर तो फार्म से मिलनेवाली आय में शक्तिहीनता आई है वहीं दूसरी ओर खाद्य पदार्थों की कीमतों में अप्रत्याशित व द्धि हुई है।

विकासशील देशों में कुछ एक नकदी फसलों में अत्यधिक निर्भरता में व द्धि के कारण, छोटे कृषकों को भूमि से बेदखल होना पड़ा तथा परिणामस्वरूप भूखे लोगों के लिए खास पदार्थों की कमी और बढ़ती गई। यद्यपि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का तीसरे विश्व के मुख्य आय प्राप्त करनेवाली विपणन व्यवसाय पर बहुत अधिक प्रभाव है।

निम्नलिखित तथ्यों के अध्ययन से पता चलता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कृषि उत्पादित वस्तुओं के संसार के निर्यात में बहुत अधिक प्रभुत्व है।

1. **चाय (Tea):** संसार के चाय के निर्यात का 1 प्रतिशत भाग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बेचा जाता है मुख्य पाँच यूरोपियन फर्में (यूनीलीवर, ब्रुक-बॉण्ड, लेबिग, केडबरी, स्कीवैपिज़, लिओन्स राव नैसले), तीन अमेरिकन कम्पनियां (स्टैण्डर्ड ब्रैंडस, कलोग तथा कोका-कोला) पश्चिम में भी कम्पनियाँ बाजार में प्रवेश कर रही हैं जैसे भारत के ब्रुक बॉण्ड, लेबींग तथा युनीलीवर पैकेट चाय की बिक्री का 95 प्रतिशत हिस्से को नियन्त्रित करती हैं।

2. **कॉफी (Crtter)** - संसार की कॉफी के निर्माण का 85 प्रतिशत हिस्सा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के नियन्त्रण में है।

3. **केला** - संसार के केले निर्यात का 70% हिस्सा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। यद्यपि संसार के 80 प्रतिशत केले का प्रयोग उपभोग कच्चे माल के रूप में ही किया जाता है, फिर भी विकासशील देशों के निर्माण में पहले पाँच स्थानों में भी केले का एक स्थान है।

4. **चीनी (Sugar)** - चीनी में संसार के निर्माण का 60 प्रतिशत हिस्सा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बेचा जाता है। तीसरे संसार के देशों से जिसके तीस सालों में चीनी का निर्यात यद्यिपि सीमान्त तौर पर ही बढ़ा है कयोंकि पश्चिमी देशों में यह अधिकतम स्तर पर पहुंच चुका है, फिर भी तीसरी दुनिया के 9 देशों के लिए चीनी आय अर्जित करने का मुख्य स्रोत है।

पश्चिमी कम्पनियाँ उत्पादन के क्षेत्र से धीरे-धीरे पीछे हट रही हैं, परन्तु फिर भी विपणन तकनीकी तथा उपभोक्ता बिक्री के क्षेत्र में उनका ही प्रभुत्व है।

पश्चिम में, यद्यपि आधुनिक कृषि में उत्पादन में अप्रत्याशित व द्धि की है, परन्तु इसके साथ-साथ भूमिहीनता तथा भूख में व द्धि की है। क्योंकि अमेरिका के फार्म परिवारों की संख्या, पिछले 25 वर्षों में, 50 प्रतिशत नीचे कम हो गई है। सबसे अधिक 5 प्रतिशत मुस्वानियाँ के पास देश अमेरिका की लगभग आधी फर्म भूमि मौजूद है तथा इनमें से ऊपर के तीन प्रतिशत फार्म, अमेरिका में फर्म उत्पादन के 44 प्रतिशत हिस्सा को नियन्त्रित करते हैं।

यूरोप में भूमि पर निर्भर जनसंख्या, फ्रांस में 12 प्रतिशत तथा इंग्लैण्ड में केवल 2 प्रतिशत ही है। यूरोपियन आर्थिक समुदाय (European Economic Committee – EEC) के कृषि व्यवसाय पर निर्भर क्रमियों की संख्या 1969 में 20 प्रतिशत से घटकर 1980 में मात्रा 2 प्रतिशत ही रह गई।

इसके विपरीत, तीसरे विश्व में औद्योगिक कृषि के फलस्वरूप बड़े फर्म के कुछ ही कृषकों पर निर्भरता और बढ़ी है, लेटिन अमेरिका में यद्यपि 8 प्रतिशत जनसंख्या के पास भूमि का 80 प्रतिशत हिस्सा है परन्तु जीवन निर्वाह योग्य खास पदार्थों का उत्पादन 1964-74 के बीच 10 प्रतिशत कम हो गया; और इसके साथ-साथ निर्माण के लिए नकदी फसलों का उत्पादन 27 प्रतिशत बढ़ गया।

विश्व के सबसे बड़े खाद्य व्यवसाय में यूनीलीवर के 25 प्रतिशत कर्मचारियों को अफ्रीका में रोजगार दिया गया है, 1978 में इस कम्पनी ने 10 बिलियन डालर की राशि का व्यवसाय किया जो कि 25 अफ्रीकी देशों की शक्ल पर राष्ट्रीय उत्पाद से भी अधिक थी।

परन्तु इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने कृषि व्यवसाय से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए छोटे स्तर एवं परम्परागत कृषि का सुनियोजित ढंग से सफाया कर दिया। इनके बढ़ते हुए प्रभुत्व को रोकने के लिए परिस्थिति, आर्थिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को वहनीय करना होगा। हमें फार्म-भूमिका को बचाकर रखना पड़ेगा। हमें स्थानीय राष्ट्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय नीतियाँ बनानी पड़ेंगी जो कि वहनीय फार्म व्यवसाय तथा व्यावसयिक विधियों को ध्यान में रख सके।

कृषि व्यवसाय एवं छोटे कृषक

कुछ आलोचकों के अनुसार विकासशील देशों में ठेका खेती (Contractual Farming) आर्थिक

विश्वीकरण (भूमण्डलीकरण) की एक बुराई के समान है। जो कि एक तरफ तो बहुत से अव्यवस्थित छोटे कृषक, जिनकी सौदाकारी शक्ति भी कम होती है तथा उत्पादकता में व द्धि करने के लिए एवं व्यावसायिक स्पर्धा के लिए उनके पास साधनों की कमी होती है और दूसरी तरफ, कृषि व्यवसाय से शक्तिशाली एवं संगठित क्षेत्र उत्पादन एवं आपूर्ति अनुबन्ध के परिणामस्वरूप तकनीकी परामर्श, और आगतों के कारण सस्ते श्रम का शोषण करता है और जोखिम को प्राथमिक उत्पादकों की ओर हस्तांतरित कर देता है। आलाचकों के अनुसार, ठेका खेती, निश्चित तौर पर असमान वर्गों में समझौता होता है तथा छोटे कृषकों के लिए विकास की तुलना में कर्जे की स्थिति उत्पन्न करता है।

परन्तु ऐसी स्थिति नहीं है क्योंकि नए FAO निवेश के अनुसार एक सुनियोजित ढंग से प्रबन्धित ठेका खेती ने विस्तार परामर्श, मशीनीकरण, बीज, उर्वरक तथा ऋण तथा उत्पाद के लिए गारन्टीशुदा लाभदायक बाजार की सुविधाओं के स्रोतों को छोटे फार्म क्षेत्र से जोड़ने में प्रभावशाली भूमिका को सिद्ध किया है। यह एक ऐसा द ष्टिकोण है जो किसानों के लिए आय में व द्धि तथा प्रायोजकों के लिए अधिक लाभ का योगदान दे सकता है। अगर ठेका खेती का कुशलतापूर्वक एवं व्यवस्थित ढंग से प्रबन्ध किया जाए तो खेत तो दोनों ही वर्गों के लिए जोखिम तथा अनिश्चितता में कमी होती है। इस द ष्टिकोण की उन देशों में विकास की अधिक सम्भावनाएं मौजूद हैं जहाँ छोटे स्तर पर कृषि अधिक की जाती है क्योंकि बहुत परिस्थितियों में छोटे-स्तर के कृषक स्पर्धा में नहीं आ सकते अगर उन्हें ठेका खेती द्वारा सेवाएं उपलब्ध नहीं कराई जाती।

उत्तरी भारत में, उदाहरण के तौर पर, बहुराष्ट्रीय कम्पनी ने 400 कृषकों को शंकर नसल के टमाटर (Hybria Tomatoes) को उगाने के लिए ठेका दिया ताकि उनका प्रोसेसिंग (Processing) करके पेस्ट (Paste) बनाई जा सके। एक अध्ययन के अनुसार इस प्रोग्राम के फलस्वरूप कृषकों की उन्नत एवं उत्पादन में लगभग 50 प्रतिशत की व द्धि हुई। यह व द्धि उन कृषकों की तुलना में अधिक थी जिन्होंने टमाटरों का उत्पादन खुले बाजार के लिए किया था।

आगतों की उपलब्धता
(Access to Inputs)

ठेका खेती के लाभ एवं हानियाँ प्रायोजकों एवं उत्पादकों की भौतिक, सामाजिक एवं बाजार के वातावरण पर निर्भर करते हैं जिनके अन्तर्गत उपरोक्त वर्ग कार्य करते हैं। FAO के अनुसार, कृषकों का मुख्य व्यय यह है कि प्रायोजक पूर्व निर्धारित गुणवत्ता एवं मात्रात्मक पैमानों के अनुसार ही सारे उत्पादित उत्पाद को सामान्यतः खरीद लेता है, इसके अतिरिक्त ठेका खेती के फलस्वरूप कृषकों के प्रबन्धकीय, तकनीकी एवं विस्तार सेवाओं को आसानी से उपलब्धता हो जाती है (इसके बिना ये सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो सकती)। कृषक ठेके अनुबन्ध के आधार पर व्यापारिक बैंक से आगतों को खरीदने के लिए ऋण की व्यवस्था भी कर सकते हैं।

छोटे-स्तर के कृषक नई तकनीकी को अपनाने से हिचकते है क्योंकि इससे ऊँची जोखिम तथा लागतें शामिल होते है। ठेका खेती में, निजी कृषि व्यवसाय सामान्यतः तकनीकी के अधिक प्रभावशाली ढंग से देते है जो कि सरकार की विस्तार सेवाओं से बेहतर होती है। क्योंकि इस से किसान की उत्पादकता बढ़ाने में सीधी आर्थिक रुचि होती है। वास्तविकता में अधिक बड़े निगम, अपनी ही विस्तार सेवाओं को उपलब्ध कराने में अधिक प्राथमिकता देते है। ठेका खेती से खेती कृषक रिकॉर्ड रखना, फार्म साधनों का कुशल प्रयोग, रसायन एवं उर्वरक को लागू करने की बेहतर विधियां, गुणवत्ता की जानकारी का महत्त्व, तथा निर्यात बाजार की माँग

आदि की जानकारी मिलती है। ठेका खेती का एक अन्य लाभ यह है कि कृषकों को स्थिर कीमतें मिल जाती है क्योंकि प्रायोजक पहले ही अनुबन्ध के अनुसार निर्धारित कीमतों के बारे में जानकारी दे देते हैं। इसके विपरीत खुले बाजार में फसलों के प्रतिफल इस बात पर निर्भर करते है कि बाजार में प्रचलित कीमतें क्या है? तथा उनकी क्रेताओं से सौदा करने की योग्यता कितनी है? ठेका खेती इस अनिश्चितता को काफी हद तक समाप्त कर देती है-

1. **राजनैतिक स्वीकार्यरता (Political Acceptability)** - कीमतों की गारन्टी, ऋणों, आगतों एवं विस्तार सेवाओं के बदले में प्रायोजकों को भी कई लाभ प्राप्त होते है। पहला है राजनैतिक स्वीकार्यरता; कई सरकारें तो बड़े बागानों को चलाने में हिचकती हैं और परिणामस्वरूप उन्हें बन्द करके, जमीन का पुनः वितरण कर रही हैं। जिम्बाबे की सरकार ने ठेका खेती को प्रोत्साहन गन्ना, चाय तथा कपड़ा उद्योग को शामिल किया है। मध्य अमेरिका में, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ केले की खेती से व्यक्तिगत उत्पादकों के ठेके की प्रकृति को प्रोतसाहित किया है यही प्रव त्ति अन्तर्राष्ट्रीय तम्बाकु उद्योग में भी देखने को मिलती है जिसके चोटी जोतो ने बड़े बागानो का प्रतिस्थापन किया है।ठेके की खेती, कम्पनियों को उस जमीन पर खेती करने की स्वीकृति देती है जो अन्यथा उपलब्ध नहीं हो पाती क्योंकि इसे खरीदने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

   इन सारे अनुकूल पक्षों के बावजूद ठेका खेती में दोनों वर्गों को जोखिम को अवश्य स्वीकार करना होगा क्योंकि कृषकों के नई, अजांन फसले एवं बाजारों के लिए उत्पादन में अनिश्चिता होगी है क्योंकि कई बार परिस्थितियां कृषकों की आशाओं के अनुरूप नहीं होती तथा प्रायोजकों के पूर्वानुमान के अनुरूप नहीं हो पाती। कई बार अकुशल प्रबन्धन के कारण अति उत्पादन हो सकता है और कई परिस्थितियों में प्रायोजकों द्वारा गुणवत्ता में विकृति उत्पन्न करने की प्रव ति जन्म ले सकती है ताकि उत्पाद की खरीद कम हो सके कृषकों के लिए सबसे बड़ा जोखिम कर्ज का होता है जो उत्पादन सम्बन्धी, गलत तकनीकी परामर्श, बाजार दशाओं में अप्रत्याक्षित परिवर्तन तथा कम्पनी द्वारा उसके ही अनुबन्ध को पूरा न कर पाना आदि तत्त्वों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

   प्रायोजकों की द ष्टि से, जोखिम तब उत्पन्न होता है जब उन्हें अनुबन्ध के अनुसार मुक्ति उपलब्ध नहीं हो पाती अन्त में ठेका खेती कृषि व्यवसाय एवं कृषकों के बीच एक सांझेदारी के रूप में देखी जानी चाहिए। FAO के अनुसार "इसकी सफलता के लिए दोनों वर्गों में दीर्घकालीन प्रतिबद्धता (Commitment) होनी चाहिए।" ठेका खेती को प्रयोग करने के निर्णय विशुद्ध रूप से व्यावसायिक ही होनी चाहिए। यह एक ऐसा विकास मॉडल नहीं है जो सरकारों, गैर सरकारी संगठनों (Non-Government Organisation's (NGO's)) तथा आय ग्रामीण ही प्रस्तावों के असफल रहने के कारण लागू किया जाए।

   वो प्रोजेक्ट, जो आर्थिक एवं तकनीकी वास्तविकताओं के स्थान पर आगर राजनैतिक एवं सामाजिक कारकों को ध्यान में रखकर लागू किए जाते हैं, के आवश्यकरूप से असफल ही होते हैं।

2. **बहुराष्ट्रीय कम्पनियां एवं चरम पर्यावरण प्रभाव छोटे एवं मध्यम कृषक परिवार**

(Multinational Corporations and Extremist Environments Impact on Small and Medium Family Farmers): आज लाखों लोग भूखे या दयनीय रूप से अभावग्रस्त हैं क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने खाद्य वितरण को जबरन कब्जा किया है तथा स्थानीय खाद्य उत्पादन को नष्ट कर दिया है। संसार में एक नये विस्फोट ने विश्वीकरण या भूमण्डलीकरण (Globalisation) के रूप में जन्म लिया है।

यद्यपि इस साल के संसार के उत्पादन में 30 प्रतिशत कमी है। परन्तु फिर भी संसार में खाद्य पदार्थ काफी मात्रा में उपलब्ध हैं। परन्तु समस्या खाद्य के वितरण की है इसका मुख्य कारण है कृषि व्यवसाय के बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लालच प्रव त्ति बढ़ती जा रही है। ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कई बार तो सरकारों से भी अधिक शक्तिशाली होती हैं। ये कम कीमतों पर अनाज तथा मांस खरीद लेते हैं जबकि कृषकों को जीवन-निर्वाह योग्य ही वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जाती है ताकि वो इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए उत्पादन जारी रखे? इन कम्पनियों ने पर्यावरण सम्बन्धित संगठनों में भी अपनी पैठ बना ली है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कृषि व्यवस्था में आने के फलस्वरूप प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ गया जिसके कारण, वायु प्रदूषण, जनाधिक्य, जल प्रदूषण जीव जन्तुओं की मौत, तथा "माँ प्रकृति" से भी छेड़खानी की जा रही है। 1980 के दशक में अमेरिका में परिस्थिति बिगड़ गई। भूमि की कीमतें घट गई। कृषकों की हालात बिगड़ गई तथा आकेलाहोमा में लगभग 500 कृषकों ने आत्महत्या की। सारी संस्थाओं में भ्रष्टाचार फैल गया इन सबका एक मात्र कारण था कृषि व्यवसाय में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रवेश।

छोटे कृषकों की खेती का समय अब नहीं रहा क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने कृषि व्यवसाय में प्रवेश किया है जिसका मुख्य उद्देश्य है अधिकतम लाभ प्राप्त करना तथा सफलता का एक ही मापदण्ड है - अधिक से अधिक विस्तार करना। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विस्तार करने के फलस्वरूप भूमिका के स्वामित्व का केन्द्रियकरण थोड़े परन्तु बड़े भूस्वामियो के पक्ष में हो रहा है। क्योंकि कृषकों के उत्पादन की लगातें बढ़ती जा रही है। परन्तु फार्म उत्पाद की कीमतें कम होती जा रही है। कृषकों के आगतों - बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाईयां तथा फार्म मशीनरी की कीमतें बढ़ती जा रही है। यद्यपि प्रति एकड़ भाग घटता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में छोटे एवं मध्यमस्तरीय कृषक परेशानी के कारण खेती करना छोड़ देते है तथा कर्जवान होने के कारण भूमि देते है तथा कर्जवान होने के कारण भूमि को बेच देते हैं। लागत एवं कीमत के सम्बन्ध ने पर्यावरण के लिए अत्यन्त गम्भीर स्थिति उत्पन्न की है क्योंकि पैदावार बढ़ाने के लिए अधिक उर्वरकों, कीटनाशक दवाइयों तथा बड़ी मशीनों के प्रयोगों के कारण फसलों का हेरफर नहीं हो पाता।

उत्तरी अमेरिका में यद्यपि आधुनिक तकनीकी विद्यमान है परन्तु छोटे कृषकों की खेती लुप्त होती जा रही है।

मिश्रित खेती के स्थान पर (पशुपालन, अनाज एवं सब्जियों का उत्पादन) केवल एक फसल के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जैसे-जैसे कृषि व्यवसाय का विस्तार होता जाता है भूमिहीन कृषकों की संख्या तथा उसकी निर्धनता में व द्धि होती जा रही है।

अनाज में होनेवाले व्यापार में व द्धि के फलस्वरूप, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में लाभ की मात्रा और बढ़ी है तीसरे विश्व में औद्योगिक कृषि के फलस्वरूप मानवीय और परिस्थिति सम्बन्धित विज्ञान (Ecology Destructions) का विनाश हो रहा है। W.H.O. के अनुसार विकासशील देशों में प्रति मिनट में एक व्यक्ति की कीटनाशकों के कारण मौत हो जाती है। कई परिस्थितियों में कृषि व्यवसाय, आगत बहुमूल्य विदेशी विनियम को सोख लेते है जो नकदी फसलों के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाया जाता है। विश्व के खाद्य उत्पादन व्यवस्था के एकीकृत भूमण्डल फैक्ट्ररी के रूप में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। पश्चिमी देशों की भी खाद्य पदार्थों में आत्म-निर्भरता की नीति, कृषि नीति का हिस्सा नहीं रह पाई है।

इन प्रव तियों के रोकने के लिए प्रजातांत्रिक निर्णय प्रणाली लागू की जानी चाहिए ताकि निगम निर्णय प्रणाली को रोका जा सके, दूसरा जनसाधारण द्वारा आर्थिक एवं सांस्कृतिक निर्णय लिए जाने चाहिए ताकि पर्यावरण एवं सामाजिक न्याय की जीत हो सके और इस मां धरती को आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित किया जा सके।

अध्याय-21
विश्व व्यापार संगठन एवं भारतीय कृषि
(World Trade Organisation and Inidan Agriculture)

विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation–W.T.O.)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुगम बनाने व इसमें व द्धि करने के उद्देश्य से GATT की स्थापना की गई। परन्तु 80 का दशक आते-आते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए एक मजबूत संगठन की जरूरत महसूस की जाने लगी। वार्ताओं के एक लम्बे दौर के बाद अन्ततः 15 अप्रैल, 1994 को मोरक्को के मराकस नगर में गैट के 124 सदस्य देशों ने एक मसौदे पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके परिणामस्वरूप 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई। 30 दिसम्बर, 1994 को समझौते पर हस्ताक्षर कर भारत इस विश्व व्यापार संगठन का संस्थापक सदस्य बन गया। गैट के सभी सदस्यों द्वारा 1 जनवरी, 1995 तक WTO की सदस्यता ग्रहण न कर पाने के कारण यह निर्णय लिया गया है कि गैट का अस्तित्व अभी एक वर्ष और अर्थात् 1995 तक बना रहेगा। अन्ततः लगभग पांच दशक तक विश्व व्यापार पर निगरानी रखनेवाले इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अस्तित्व 12 दिसम्बर, 1995 को समाप्त हो गया।

मुख्यालय एवं सदस्यता

विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय गैट की ही भाँति जेनेवा में स्थित है। वर्तमान समय में इसकी सदस्य संख्या 148 है। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना सदस्य देशों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के आधार पर की गई है। अतः गैट की अस्थायी प्रकृति के विपरीत WTO एक स्थायी संगठन है।

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य

1. वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं व्यापार को बढ़ावा देना।
2. विश्व के संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।
3. पोषणीय अथवा सतत विकास की अवधारणा को स्वीकार करना।
4. पर्यावरण का संरक्षण एवं सुरक्षा करना।
5. प्रभावपूर्ण माँग एवं रोजगार में व्यापक एवं प्रभावी व द्धि करना।
6. जीवन-स्तर में व द्धि करना।

विश्व व्यापार संगठन के कार्य

1. व्यापार एवं प्रशुल्क से सम्बन्धित किसी भी मसले पर सदस्य देशों के बीच विचार-विमर्श हेतु एक मंच के रूप में कार्य करना।
2. विश्व संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करना।
3. विश्व आर्थिक नीति के निर्माण में अधिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्व बैंक से सहयोग करना।
4. विश्व व्यापार समझौता एवं बहुपक्षीय तथा बहुवचनीय समझौतों के क्रियान्वयन, प्रशासन एवं परिचालन हेतु सुविधाएँ उपलब्ध कराना।
5. व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया से सम्बन्धित नियमों एवं प्रावधानों को लागू करना।
6. विवादों के निपटारे से सम्बन्धित नियमों एवं प्रक्रियाओं को प्रशासित करना।

WTO का प्रशासन

a) **सामान्य परिषद** (General Council) : प्रत्येक देश इसका स्थाई सदस्य होता है। इसकी मीटिंग एक माह में होती है।

b) **महानिदेशक** : इसका चुनाव 4 साल के लिए सामान्य परिषद द्वारा किया जाता है। इसकी सहायता के लिए सदस्य राष्ट्रों से 4 उपमहानिदेशक भी चुने जाते है। इन सबका कार्य WTO के दिन प्रतिदिन के प्रशासकीय कार्यों की निगरानी करना होता है।

c) **मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन** (Ministeral Conference) : WTO में नीति निर्धारण हेतु यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त संस्था है। इसका आयोजन हर दूसरे वर्ष होता है। अब तक हुए मन्त्रीस्तरीय सम्मेलनों का ब्यौरा इस प्रकार है–

WTO का प्रथम मन्त्रिस्तरीय संगठन 9 से 13 सितम्बर, 1996 को सिंगापुर में हुआ। सम्मेलन में विचारणीय प्रमुख मुद्दों में श्रम मानकों, निवेश तथा प्रतिस्पर्धा को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ने के विषय सम्मिलित किए गए थे। इसके अतिरिक्त, टेक्सटाइल्स तथा सूचना प्रौद्योगिकी के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी विचारणीय मुद्दों में शमिल थे। भारत समेत अनेक विकासशील राष्ट्रों के विरोध के कारण श्रम मानकों को व्यापार से नहीं जोड़ा गया। इसे ILO (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन) की ही विषय वस्तु माना गया। विकासशील देशों के लिए यह एक बड़ी उपलब्धि थी। निवेश तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में विवाद को ट्रिम्स (Trade Related Investment Measures) के तहत हल किया जाएगा। इसके लिए एक कार्यकारी दल का गठन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, कम्पयूटर एवं सूचना प्रौद्योगिकी के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सन् 2000 तक शुल्क मुक्त कर देने का भी समझौता हुआ। भारत ने इस तिथि को आगे बढ़ाने की अपील की है।

WTO का दूसरा मन्त्रिस्तरीय संगठन 18 से 20 मई, 1998 को जेनेवा में सम्पन्न हुआ। इसमें 132 देशों के वाणिज्य मन्त्रियों ने भाग लिया। इसमें भारत ने क्षेत्रीय व्यापारिक गुटों के फैलाव का विरोध किया तथा इसे विकासशील देशों के साथ भेदभावपूर्णवाला बताया।

WTO का तीसरा मन्त्रिस्तरीय संगठन 30 नवम्बर से 3 दिसम्बर, 1999 को अमेरिका के सिएटल नगर में सम्पन्न हुआ। इसमें 135 सदस्य देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भी श्रम मानकों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ने की कोशिश की गई। जिसकी भारत समेत अनेक देशों ने विरोध किया। इसके अतिरिक्त बाजार पहुंच (Market Access), कृषि सेवाओं के व्यापर सम्बन्धी

समझौते आदि विवादस्पद मुद्दों पर सदस्य देश आम सहमति पर नहीं पहुँच सके। बायो-टेक्नोलॉजी को वार्ता में शामिल किए जाने के अमेरिकी प्रयास का भी विरोध हुआ। अधिकांश मुद्दों पर आम सहमति न बन पाने के कारण सम्मेलन की समाप्ति पर कोई घोषणापत्र जारी नहीं किया जा सका तथा सम्मेलन के कार्य को स्थगित करने की घोषणा की गई। विश्व व्यापार संगठन के निदेशक माइक मूर को सदस्य देशों के साथ विचार-विमर्श करके सम्मेलन के कार्य को पुनः शुरू करने की बात कही गई।

WTO का चौथा मन्त्रिस्तरीय संगठन विश्व व्यापार संगठन की भावी कार्य योजना का विनिश्चय करने के लिए 9 से 14 नवम्बर, 2001 के बीच दोहा (कतर) में चौथे विश्व व्यापार संगठन का मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन आयोजित किया गया। यद्यपि निवेश सम्बन्धी बहुपक्षीय व्यवस्था, प्रतिस्पर्द्धा नीति, व्यापार सरलीकरण, पर्यावरण मुद्दों सहित वार्ताओं का व्यापक दौर शुरू करने का दबाव था। भारत ने नये मुद्दे जोड़ने की बजाय पहले हुए समझौतों के कार्यान्वन पर विचार करने के लिए जोर दिया।

दोहा में आयोजित चौथे मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन के विचार-विमर्श में भारत ने सक्रिय भूमिका निभाई। यह क्रियान्वयन सम्बन्धी मुद्दों के वास्तविक समाधान, कृषि में वर्धमान बाजार पहुँच, जन स्वास्थ्य नीतियों के लिए ट्रिप्स के अन्तर्गत पर्याप्त सुनम्यता एवं स्पष्टता के पक्ष में था तथा कार्यसूची में श्रम जैसे व्यापार भिन्न मुद्दों को शामिल किए जाने के सख्त विरुद्ध था। यह ऐसी कार्य सूची को अपनाए जाने को सुनिश्चित करने में समर्थ रहा जिसमें न सिर्फ व्यापार पर, बल्कि विकासशील देशों के विकासात्मक लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं पर भी जोर दिया गया है। सम्मेलन के निष्कर्ष में भारत द्वारा व्यक्त की गई अनेक चिन्ताओं को ध्यान में रखा गया है। दोहा घोषणा पत्र द्वारा भावी व्यापार वार्ताओं के लिए कार्य सूची निर्धारित किए जाने के साथ मिलकर भारत यह सुनिश्चित करेगा कि कार्य योजना में उनके हितों एवं चिन्ताओं पर यथेष्ट ध्यान दिया जाए।

WTO का पाँचवाँ मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन वर्ष 2003 में मैक्सिको के कैनकुन नगर में सम्पन्न हुआ। इसमें भारत सहित विकासशील देशों ने अपने गैर-व्यापारिक मुद्दों को शामिल किए जाने तथा कृषि वस्तुओं के खुले आयात का विरोध किया। यह सम्मेलन भी कमोवेश बिना किसी निष्कर्ष के समाप्त हुआ।

भारत द्वारा आयातों पर मात्रात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति

WTO के समझौतों तथा प्रतिकूल भुगतान स्थिति के चलते भारत ने जिन 1429 उत्पादों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा रखे थे, उन्हे 1 अप्रैल 2001 तक अनिच्छा मुक्त कर दिया गया। इस समझौते के अनुसार भारत ने 714 उत्पादों पर तो 1 अप्रैल 2000 तथा 715 उत्पादों पर से 1 अप्रैल 2001 को मात्रात्मक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया।

मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटने के बावजूद आवश्यक वस्तुओं का अंधाधुध आयात न हो सके, इसके लिए सरकार ने नई आयात-निर्यात नीति में पर्याप्त प्रबन्ध किया है। कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं—गेंहूँ, चावल, मक्का, यूरिया, पेट्रोल तथा हवाई जहाज का ईंधन के खुले आयात की छूट नहीं दी गई है। इन वस्तुओं का आयात एम. टी. सी. अथवा एम. एम. टी. सी. जैसी सरकारी व्यापारिक कम्पनियाँ ही कर सकती हैं। वनस्पति तथा पशु उत्पाद से सम्बन्धित वस्तुओं का आयात तभी होगा, जब कृषि मंत्रालय उसके बारे में अनुमति देगा। साथ ही विदेशों से होनेवाली नई एवं पुरानी कारों का आयात निर्धारित शर्तों के मुताबिक होगा तथा विदेशी शराब, प्रसंस्कृत खाद्य पदार्थ आदि का आयात स्वास्थ्य सम्बन्धी वर्तमान घरेलू नियमों एवं विनियमों के अधीन ही होगा।

इस तरह, इस नई नीति के तहत अब रक्षा और स्वास्थ्य की द ष्टि से संवदेनशील वस्तुओं एवं बीजों को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं का खुला आयात किया जा सकेगा। देश में मांस, दूध और दुग्ध उत्पाद, फल व सब्जियां, चाय, कॉफी, मसाले, गेहूं, चावल व मोटे अनाज, नारियल का तेल, बियर व शराब, रबड़ व प्लास्टिक का समान, कागज, कापी व लेखन सामग्री, रेशमी, सूती, ऊनी और सिंथेटिक सभी प्रकार के कपड़े, धागे व सिले-बुने वस्त्र, नई व पुरानी कारें, जीप, मोटर साइकिल, चीनी मिट्टी से बना सामान, लोहा, इस्पात व सिंथेटिक से तैयार दरवाजे व चौखट का आयात खुल गया है।

प्रतिबन्ध हटाने के बाद देश में किन-किन चीजों का आयात हो रहा है, इस पर नजर रखने के लिए एक स्थायी समिति के गठन का निर्णय लिया गया है। इस समिति में भारत सरकार के वाणिज्य सचिव, राजस्व सचिव, लघु उद्योग सचिव, पशुपालन विभाग के सचिव और विदेश व्यापार के महानिदेशक को शामिल किया गया है। सरकार ने आम जनता के उपयोग में आने वाली 300 संवेदनशील वस्तुओं की सूची बनाई है। यह समिति संवेदनशील सूची की वस्तुओं के आयात सम्बन्धी सूचनाओं का विश्लेषण करेगी और उस मासिक आधार पर रिपोर्ट जारी करेगी। यह समिति युद्ध कक्ष की तरह कार्य करेगी तथा अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव डालनेवाली हर कार्यवाही पर नजर रखेगी।

डंकल प्रस्ताव
(Dunkel Proposals)

गैट के वार्ता के आठवें दौर जिसे उरुग्वे राउण्ड भी कहा जाता है, के बाद इसके महानिदेशक आर्थर डंकल ने 20 दिसम्बर 1991 को एक विस्त त दस्तावेज सौंपा। इसे डंकल प्रस्ताव के नाम से जाना गया।

गैट के आठवें दौर की वार्ता में कुल 15 क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया था परन्तु इनमें से चार प्रमुख क्षेत्रों के प्रस्ताव की अति महत्वपूर्ण समझे गए। इन चारों क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रस्ताव इस प्रकार हैं:

1. कृषि से सम्बन्धित प्रस्ताव,
2. व्यापार सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकार
3. व्यापर से सम्बन्धित विनियोजन (अथवा निवेश) उपाय,
4. व्यापार-सेवाओं से सम्बन्धित सामान्य समझौता।

इस तरह, वर्ष 1986 में उरुग्वे में प्रारम्भ हुए बहुआयामी व्यापार समझौते के अन्तर्गत पूर्व की भाँति वस्तुओं के व्यापार के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण विषयों; यथा कृषि, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, व्यापार सम्बन्धी निवेश के उपाय तथा व्यापार सेवाओं से सम्बन्धित उपायों को सम्मिलित किया गया। उरुग्वे दौर की वार्ता में विभिन्न राष्ट्रों के बीच उपर्युक्त विषयों पर एक पैकेज द ष्टिकोण अपनाने पर सहमति हुई ताकि एक क्षेत्र में दी गई सुविधाओं का दूसरे क्षेत्र में भी लाभ प्राप्त किया जा सके।

1. **कृषि से सम्बन्धित प्रस्ताव एवं समझौते:** कृषि को गैट की आठवें दौर की वार्ता में प्रथम बार सम्मिलित किया गया।

   कृषि को विश्व व्यापार से सम्बद्ध करने के महत्त्व को WTO की मन्त्रिस्तरीय इस घोषणा से समझा जा सकता है, "इस बात की प्रबल आवश्यकता थी कि विश्व कृषि

व्यापार में अधिक अनुशासन और निश्चितता लाई जाय और संरचनात्मक अधिशेष सहित इस क्षेत्र के प्रतिबन्धों एवं विकृतियों को सुधारने एवं रोकने के प्रयास किए जाएँ ताकि विश्व कृषि बाजार असन्तुलन, अस्थिरता और अनिश्चितता के माहौल से उबर सके।"

विश्व व्यापार संगठन की सन्धि वार्ता में शामिल कृषि से सम्बन्धित बातें निम्नवत् हैं:

(क) **पेटेन्ट प्रणाली:** पेटेंट किसी वस्तु या उसे बनाने की विधि पर आविष्कारक के कानूनी एकाधिकार की शक्ति है। कोई अन्य इस उत्पाद या विधि को वाणिज्य के स्तर पर उपयोग नहीं कर सकता है। ऐसा करने पर प्रयोगकर्ता द्वारा आविष्कारक को रॉयल्टी देनी पड़ेगी। ऐसी धारणा है कि इस रॉयल्टी रूपी लाभ से प्रेरित होकर ही उद्योगपति शोध में पूँजीनिवेश करते हैं। इससे आविष्कारों को गति मिलती है तथा विकास तेजी से होता है।

(ख) **कृषि अनुदान की समाप्ति:** सन्धि वार्ता में कृषि के क्षेत्र में प्रथम सुझाव कृषि में दिए जानेवाले अनुदानों (Subsidies) की समाप्ति का है। अनुदान के कारण कृषि उत्पादों की कीमतें उस देश में अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से कम होती हैं। ऐसी धारणा है कि इसके कारण कृषि उत्पादों के विपणन में बाधा पहुंचती है।

कृषि में दिए जानेवाले अनुदान दो प्रकार के होते हैं:

(i) **उत्पादन के उपादानों से सम्बन्धित अनुदान:** इस श्रेणी के अनुदान में उत्पादनों में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न उपादनों यथा: उर्वरक, सिंचाई, बीज, कृषि ऋण आदि पर दिए गए अनुदान शामिल किए जाते हैं। डंकल प्रस्ताव के अनुसार विकासशील देशों में इस तरह की दी जानेवाली राशि वर्ष 1986 से 1988 के आधार वर्षों में कुल उत्पाद मूल्य के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। इंकल प्रस्ताव के अनुसार इस तरह की अनुदान राशि प्रतिशत आकलन करने में गरीब कृषकों एवं साधन रहित कृषकों को दी जानेवाली अनुदान राशि सम्मिलित नहीं की जाती हैं।

(ii) **विशिष्ट उत्पाद के उत्पादन से सम्बन्धित अनुदान:** कृषि के क्षेत्र में एक अन्य प्रकार की अनुदान राशि कुछ विशिष्ट फसलों के उत्पादन के लिए दी जाती है। डंकल प्रस्तावों के अनुसार इस प्रकार की अनुदान राशि भी किसी विशेष उत्पाद के कुल उत्पाद मूल्य के दस प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। कुल उत्पाद मूल्य आधार वर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कीमत के आधार पर ज्ञात किया जाता है।

डंकल कानून में यह तय किया गया कि विकासशील देश अपने उत्पाद मूल्य के 10 प्रतिशत तक आर्थिक अनुदान उपलब्ध करा सकते हैं जबकि विकसित देशों के लिए यह सीमा 5 प्रतिशत के निम्न स्तर तक है। यदि किसी देश के अनुदान इस निर्धारित सीमा से ऊंचे हैं तब उन्हें छः वर्षों के अन्दर 20 प्रतिशत कम करना होगा।

2. **व्यापार सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकार (Trade Related Intellectual Property Rights. TRIPs):** आर्थर डंकल द्वारा प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सम्पदा के अधिकारों

के संरक्षण से सम्बन्धित है। इसके अनुसार किसी भी नए आविष्कार के पंजीकृत पेटेन्ट पर 20 वर्षों के लिए समूचे विश्व के विरुद्ध एकाधिकार प्राप्त हो जाएगा। उस उत्पाद पर भावी शोध व उसके परिवर्तन, सुधार करने का अधिकार भी पेटेन्टधारी व्यक्ति/संस्था को ही होगा।

आज विश्व में उत्पादित अधिकांश उत्पादों के पेटेन्ट विकसित औद्योगिक राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने पंजीकृत करा रखे हैं। डंकल प्रस्तावों की स्वीकृति के साथ ही उन उत्पादों के उत्पादन पर उन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकाधिकार हो जाएगा। इस तरह, अनेक प्रकार के उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाइयों, यन्त्रों एवं उपकरणों आदि के लिए शत-प्रतिशत स्वप्रयासों से विकसित तकनीक से उत्पादन करने व उन पर भावी शोध करने का अधिकार नहीं रह पाएगा क्योंकि उनके पेटेन्ट को विगत बीस वर्षों में किसी-न-किसी कम्पनी ने किसी स्थान पर पंजीकृत करा रखा होगा।

उल्लेखनीय है कि डंकल अन्तिम अधिनियम में कृषि में पेटेन्ट जैसे संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। बौद्धिक सम्पदा अधिकार के अनुसार संरक्षण का विस्तार सूक्ष्मजीवों (Micro-organism), गैर-जैविक और सूक्ष्म-जैविक क्रियाओं और पौधों की विभिन्न किस्मों तक किया जाना चाहिए।

3. **व्यापार से सम्बन्धित विनियोजन उपाय (Trade Related Investment, TRIMs):** विश्व व्यापार संगठन सन्धि की तीसरी महत्त्वपूर्ण बात व्यापार से सम्बन्धित विनियोजन उपायों का है। इसके अनुसार कोई राष्ट्र विदेशी पूँजी विनियोजन का नियमन एवं नियन्त्रण नहीं कर सकेगा। विकासशील देशों के लिए विनिमय दर में गिरावट रोकने, विदेशी पूंजी से अर्जित लाभ के पुनर्विनियोजन को सुनिश्चित करने, निर्यात व द्धि करने और देश के लघु एवं रोजगार प्रधान उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए विदेशी पूंजी का नियमन करना आवश्यक समझा जाता है।

4. **व्यापार-सेवाओं से सम्बन्धित सामान्य समझौता (General Agreement on Trade in Services, GATS):** विश्व व्यापार संगठन की सन्धि के चौथे प्रस्ताव के अन्तर्गत सेवा क्षेत्र में वित्तीय संस्थाओं तथा देशी एवं विदेशी बैंकों को वाणिज्यिक आधार पर कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुमोदन करना है। ऐसा समझा जाता है कि इससे सरकार को पिछड़े वर्गों एवं प्राथमिक क्षेत्रों के लिए अधिक ऋण सुविधा प्रदान करने के लक्ष्य व प्राथमिकता तय करने का अधिकार समाप्त हो जाएगा। कम्प्यूटरीकृत विदेशी बैंकों के आने एवं उनके विस्तार से बैंकिंग क्षेत्र में रोजगार के अवसर नगण्य हो जाएँगे। बीमा एवं संचार क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता देने से ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो सकेगी। ऐसी भी धारणा है कि विदेशी बैंकों की गोपनीयता नीति से तस्करों एवं आतंकवादियों के धन का पता लगाने का कार्य भी जटिल हो जाएगा।

डब्ल्यू. टी. ओ. प्रावधान एवं भारतीय कृषि

WTO द्वारा मात्रात्मक प्रतिबन्धों का हटना, सब्सिडी व पेटेन्ट से सम्बन्धी प्रावधानों को विकासशील देशों में शंका की निगाह से देखा जाता है।

वास्तव में, विश्व व्यापार संगठन के कृषि प्रावधान से सम्बन्धित ये विचार मूलरूप से विकसित देशों की वास्तविक समस्याओं से सम्बद्ध हैं। अत्यधिक सब्सिडी (सरकारी अनुदान) और परिणामस्वरूप संरचनात्मक अधिशेष विकसित देशों की चिन्ता का विषय था, और है। इसके

विपरीत, विकासशील देशों के लिए चिन्ता का विषय है कम उत्पादकता, अपर्याप्त सार्वजनिक और निजी निवेश, तकनीक की अनुपलब्धता और समूची तथा बढ़ती जनसंख्या के लिए खाद्य सुरक्षा। इसके साथ ही तर्क है कि विकसित देशों द्वारा अपने कृषि निर्यात पर अत्यधिक सब्सिडी दिए जाने के कारण बाजार दाम कृत्रिम रूप से कम हो जाते हैं। इससे विकासशील देशों की प्रतियोगितात्मक क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और उनकी निर्यात द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित करने की क्षमता घट जाती है। WTO के प्रावधानों को भारतीय कृषि के सन्दर्भ में निम्नवत् देखा जा सकता है:

1. **कृषि अनुदान या सब्सिडी:** भारत को अनुसन्धान, कीट एवं रोग नियन्त्रण, विपणन एवं सम्वर्धन सेवाओं तथा बुनियादी सहायता सेवाओं के लिए कृषि एवं उद्योगों को दी जा रही वर्तमान सब्सिडी को कम करने की कोई विवशता नहीं है।

   कृषि के क्षेत्र में दी जानेवाली सब्सिडी दो तरह की होती है। प्रथम वर्ग में सब्सिडी अथवा सरकारी अनुदान उत्पादन के विभिन्न साधनों को क्रय करने के लिए दिए जाते हैं, जिनका कृषक किसी भी फसल के उत्पादन में प्रयोग कर सकती हैं। दूसरे तरह का अनुदान विशेष फसलों के लिए दिया जाता है।

   भारत में प्रथम प्रकार की दी जानेवाली राशि वर्ष 1986-87 से 1988-89 के तीन वर्षों में उत्पादित कुल कृषि उत्पाद मूल्य का 5.2 प्रतिशत ही है। इसमें देश के लघु एवं सीमान्त कृषकों को दी जानेवाली अनुदान राशि भी शामिल है। डंकल प्रस्तावों के अनुसार यह राशि 10 प्रतिशत तक हो सकती है। अतः WTO के समझौतों को लागू होने पर भी विभिन्न उत्पादन साधनों जैसेः उर्वरक, बीज, कीटनाशकों, कृषि उपकरण आदि पर वर्तमान में दी जानेवाली अनुदान राशि में कटौती होने की आशंका हमारे देश में नहीं है। इसी तरह, डंकल प्रस्तावों के अनुसार दूसरी तरह की अनुदान राशि जो विशेष फसलों के उत्पादन के लिए दी जाती है वह भी विशेष उत्पाद के कुल उत्पादन मूल्य के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में भारत की स्थिति स्पष्ट है। वर्तमान समय में हमारे देश में 20 फसलों की सरकार द्वारा न्यूनतम कीमत निर्धारित की जाती है। इन फसलों में से 17 फसलों के लिए दी जानेवाली अनुदान की राशि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कीमत पर ऋणात्मक आती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन उत्पादों की कीमतें देश में प्रचलित कीमतों से अधिक हैं। शेष तीन फसलों—गन्ना, मूंगफली एवं तम्बाकू की फसलों के लिए दी जानेवाली अनुदान की राशि कुछ उत्पाद मूल्य के 10 प्रतिशत से कम है। इस प्रकार भारत में विशेष फसलों के उत्पादन के लिए दी जानेवाली अनुदान राशि पर डंकल प्रस्ताव के लागू होने पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा। उल्लेखनीय है कि गैट सचिवालय ने भारत सरकार के इस परिकलन का अनुमोदन किया है कि फार्म सब्सिडी डंकल अन्तिम कानून के अधीन 30,860 करोड़ रु. तक बढ़ाई जा सकती है। चूंकि कृषि अनुदानों का कुल जोड़ अभी इस स्तर से नीचे है, अतः गैट-सीमा से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।

   इसके विपरीत विकसित देशों में कृषि को प्रदान की जानेवाली सहायता का स्तर काफी ऊँचा है। परन्तु ये देश अब भी Green Box व Blue Box सब्सिडी के माध्यम से अब भी अपने किसानों को सहायता पहुँचा रहे हैं।

   ग्रीन बॉक्स साहय्यों (Green Box Subsidies) में सरकारी सेवाओं पर व्यय की गई वे राशियाँ शामिल की जाती हैं जो अनुसन्धान, रोग नियन्त्रण, आधार संरचना और

खाद्य सुरक्षा पर खर्च की जाती हैं। इनमें वे भुगतान भी शमिल हैं जो किसानों को प्रत्यक्षरूप में किए गए ताकि वे उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकें, जैसे—किसानों को कृषि के पुनर्गठन के लिए आय-रूपी सहायता तथा पर्यावरण एवं नियमित सहायता कार्यक्रमों के अधीन प्रत्यक्ष भुगतान। यह परिभाषा बहुत विस्त त है और इसमें सभी प्रकार की सरकारी सब्सिडी सम्मिलित की जाती है।

ब्लू बॉक्स साहाय्यों (Blue Box Subsidies) में किसानों को दिए गए कुछ ऐसे भुगतान हो सकते हैं जो या तो किसानों को उत्पादन सीमित करने के लिए दिए जाएँ या सरकार द्वारा विकासशील देशों में कृषि एवं ग्राम विकास को प्रोत्साहित करने के लिए दिए जाएँ और कुछ अन्य सहायता के रूप में दिए जाएँ।

घरेलू समर्थन साहाय्यों (Domestic Support Subsidies) की भाँति, विकासशील देशों को अपने नाममात्र निर्यात-साहाय्यों को बढ़ाने की अनुमति नहीं दी जाती जबकि विकसित देशों को अपने आधार स्तर पर साहाय्यों को 64 प्रतिशत तक कायम रखने की इजाजत दी जाती है। परिणामतः विकसित देशों से कृषि-आयात घरेलू अर्थव्यवस्था में विद्यमान कीमत से कहीं कम कीमत पर प्राप्त किए जा सकते हैं। मानव विकास रिपोर्ट (1997) ने इस समस्या की समीक्षा करते हुए उल्लेख किया है कि अमेरिका के प्रत्येक किसान को फिलीपीन्स के मक्का उत्पन्न करनेवाले किसान की आय की तुलना में 100 गुना राशि उपदान (सब्सिडी) के रूप में प्राप्त होती है।

कुछ समय पहले तक भारतीय कृषि कीमतें अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों से नीचे थीं, परन्तु विकसित देशों द्वारा कृषि निर्यात के लिए भारी मात्रा में सब्सिडी उपलब्ध कराने के फलस्वरूप परिस्थितियों में तेजी से बदलाव आ रहा है। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय कृषि कीमतें भारतीय कृषि कीमतों से नीचे हो गई हैं, भारतीय किसानों को भारी नुकसान हो रहा है। इस सम्बन्ध में प्रो. पी. आर. ब्रह्मानन्द का कथन है कि "हमें अपने देश के हितों को सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। यदि हमें किसानों के हितों के लिए विश्व व्यापार संगठन को छोड़ना भी पड़े, तो मैं इससे अनुचित नहीं समझता।"

2. **सार्वजनिक वितरण प्रणाली:** डब्ल्यू. टी. ओ. समझौते से देश की सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर भी कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत देय अनुदान उपभोक्ताओं को राहत पहुंचाने के लिए होता है न कि कृषक वर्गों को लाभ पहुँचाने के लिए। वितरण प्रणाली एवं कृषकों को लाभ में कोई सामंजस्य नहीं है। दूसरी ओर डंकल प्रस्तावों में उपभोक्ताओं के लिए कुछ भी नहीं कहा गया है।

   गैट सन्धि में यह तय किया गया है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली इस तरह लक्षित की जानी चाहिए कि उसका लाभ केवल ऐसे परिवारों को ही प्राप्त हो जो शोषण-सम्बन्धी लक्ष्यों की स्पष्टरूप में निर्धारित कसौटियों के अनुसार इसके लिए उपयुक्त माने जा सकते हैं। इसके साथ-साथ यह भी कहा गया है कि गरीबों की पहचान ऐसे पोषाणिक मानदण्डो (Nutritional norms) द्वारा की जानी चाहिए जिनकी स्वीकृति गैट-फोरम से प्राप्त है।

3. **पेटेन्ट कानून एवं बौद्धिक सम्पदा अधिकार:** विश्व व्यापार संगठन का एक और समझौता जो कृषि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है, वह है: बौद्धिक सम्पदा अधिकार, विशेषकर सूक्ष्मजीवों और पौध तथा बीज की किस्मों के संरक्षण से सम्बन्धित अधिकार। आलोचकों का कहना है कि बीजों एवं पौधों की किस्म का पेटेन्ट होने से

देश के कृषकों को प्रत्येक वर्ष बीज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से खरीदने होंगे और वे अपने फार्म पर उत्पादित बीजों को अगली फसल के लिए प्रयोग में नहीं ले सकेंगे। अतः विभिन्न फसलों की उत्पादन लागत में व द्धि होगी।

हमारे देश में ऐसे छोटे किसानों की भारी संख्या है जो खेतों से बचाए गए बीजों का प्रयोग करते हैं। इसके लिए 'टर्मिनेटर जीन' जैसी प्रौद्योगिकी को अपनाने में सतर्क रहने की जरूरत है। भारत सरकार ने देश में इस तकनीक को अनुमति न देने के लिए कदम उठाए हैं। देश में गैट के बाद की स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि विश्वव्यापी प्रतिस्पर्धा और बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के संरक्षण की दिशा में सकारात्मक प्रयास किया जाय। हमारे देश के वैज्ञानिकों में भी अनुसन्धान करने एवं नई नई किस्मों के बीजों का आविष्कार करने की प्रबल क्षमता विद्यमान है। पूर्व में भी देश के आविष्कर्ता विभिन्न फसलों की अनेक नई किस्मों के बीजों व कीटनाशी दवाइयों का आविष्कार कर चुके हैं, जिनसे अच्छा लाभ प्राप्त हो रहा है। हमारे देश के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए आविष्कार भी पेटेन्ट होकर देश को उतना ही लाभ प्राप्त करा सकते है। हमारे देश के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए आविष्कार भी पेटेन्ट होकर देश को उतना ही लाभ प्राप्त करा सकते है जितना कि अन्य विकसित राष्ट्रों को उनके द्वारा आविष्कृत वस्तुओं के पेटेन्ट कराने से प्राप्त होंगे। प्रतिस्पर्धा के कारण अनुसन्धान को बढ़ावा मिलेगा। देश में कृषि विकास की निरन्तरता को बनाए रखने की दिशा में हमारे प्रयास तभी सार्थक होंगे जब देश में विश्व स्तर का एक समर्थ बीज उद्योग का विकास किया जाए।

4. **कृषि उत्पादों का विदेशी व्यापारः** देश में विदेशी उत्पादों के आयात के लिए दरवाजा पूरी तरह खोलने के साथ ही सरकार ने गेहूं, चावल, मक्का, पेट्रोल, डीजल तथा यूरिया जैसे आघात को सरकारी व्यापार एजेन्सियों के मार्फत अनिवार्य कर दिया है। वाणिज्य मन्त्री ने एक्जिम नीति के साथ-साथ एक कृषि निर्यात नीति की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। उन्होंने कहा कि जल्दी ही इस सम्बन्ध में एक व्यापक नीति तैयार की जाएगी, यद्यपि सरकार भौगोलिक आधार पर कृषि उत्पादों के निर्यात पर जोर देने की प्रक्रिया इसी वर्ष से प्रारम्भ कर रही है। इसके लिए सरकार इस वर्ष हिमाचल प्रदेश व जम्मू कश्मीर से सेब तथा कोंकण क्षेत्र से अलफांसी आम के निर्यात से प्रारम्भ कर रही है। साथ ही अब कृषि क्षेत्र को शुल्क रियायत स्कीम और निर्यात सम्बर्धन पूंजीगत सामान स्कीम के दायरे में शमिल कर लिया गया है।

अतः हम कह सकते हैं कि WTO ने भारतीय कृषि के लिये सम्भावनाओं व चुनोतियों दोनों के द्वार खोल दिये हैं। हम अन्य अल्पविकसित देशों के साथ मिलकर अपने हितों की सुरक्षा के लिये तथा नई व्यवस्था में ज्यादा फायदा हासिल करने के लिये सतत् प्रयास करने होंगे।